राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

ग्रन्थाङ्क 191

पं. मधुसूदन ओझा की सारस्वत साधना

(प्रथम भाग)

1997

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक
मुकेश शर्मा I.A.S.
(निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर)

ग्रन्थाङ्क 191

पं. मधुसूदन ओझा की सारस्वत साधना
(प्रथम भाग)

सम्पादक
डॉ. फतह सिंह, डॉ. गोविन्द चरौरा

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1997

मूल्य - 130.00 रु

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यत: अखिलभारतीय तथा विशेषत: राजस्थानप्रदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्टग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक
मुकेश शर्मा I.A.S.

ग्रन्थाङ्क 191

पं. मधुसूदन ओझा की सारस्वत-साधना
(प्रथम भाग)

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

प्रथमावृत्ति 500 ई.1997

मुद्रक :
मै. अनमोल प्रिण्टर्स, जोधपुर

प्रधान सम्पादकीय...

विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेद को समझने बूझने के जो जो प्रयास विगत 10 शताब्दियों में हुये हैं उनमें कोई प्रकृतिवाद की कल्पना करता है, कोई यज्ञ विधान की दृष्टि को अपनाता है, कोई रहस्यवादी बनता है, कोई मनोवैज्ञानिक तो कोई वैज्ञानिक। वर्तमान शती के पूर्वार्द्ध में राजस्थान में वेद को विज्ञानवादी दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास जयपुर के पण्डित मधुसूदनजी ओझा ने किया। पं. ओझा वेद के भाष्यकार नहीं हैं किन्तु वेद में उपलब्ध सूत्रों के आधार पर ही उन्होंने वेदार्थ के उपवृहंण का सफल प्रयास किया है। उनके प्रयास की व्यापकता न केवल उनके शताधिक ग्रन्थों से ही की जा सकती है और ना ही उनकी शिष्य परम्परा के द्वारा। अपितु आने वाले कई वर्षों तक अनेक वैदिक विद्वानों द्वारा उनकी मीमांसा पद्धति का अवलम्बन करना होगा, सभंव है उसमें एक शती का समय और लगे।

पं. ओझा की इस मीमांसा प्रणाली का अध्ययन कम से कम एक बार फिर से प्रारम्भ हो, इसलिये विभाग ने 1989 में प्रथम राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया। इस संगोष्ठी के शोधपत्रों को इस रूप में प्रस्तुत करने के लिये प्रतिष्ठान के पूर्व निदेशक डॉ. फतहसिंह ने अपनी सहर्ष स्वीकृति भी दी जिससे इस कार्य की गुणवत्ता में भी वृद्धि हुई है। मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। स्वर्ण जयन्ती समारोह के अवसर पर यह ग्रन्थ लोकार्पित किया जा रहा है।इस बात से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। प्रतिष्ठान के पूर्व प्रकाशनों की तरह यह ग्रन्थ भी विद्वानों के लिये उपादेय सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

मुकेश शर्मा I.A.S.
निदेशक

अनुक्रम

पूज्यपाद विद्यावाचस्पति पंडित श्री मधुसूदन जी ओझा

वेदवाचस्पति पं० मोतीलालजी शास्त्री

पं मधुसूदन ओझा की वेदभाष्य परम्परा

भूमिका

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के निदेशक महोदय के आग्रह पर प्रस्तुत लेख संग्रह के सम्पादन का कार्य मैंने सहर्ष स्वीकार किया था । अत: मेरा कर्त्तव्य था कि मैं उसका पूरा दायित्व भलीभांति संभालता, परन्तु खेद है कि धर्मपत्नी की रुग्णावस्था उनके देहावसान में परिणत हुई और उसके पश्चात् होने वाली पारिवारिक उलझनों तथा स्वयं मेरे स्वास्थ्य- ह्रास के फलस्वरूप प्राय: बाहर ही रहा । इस कारण, सम्पादन-प्रकाशन का पूरा भार मेरे सुयोग्य सहयोगी डॉ गोविन्द राम चरौरा एम०ए०, एम०फिल्०, पी-एच०डी० ने संभाला; अत: वे निस्सन्देह धन्यवाद के पात्र हैं ।

प्रस्तुत लेख संग्रह का लक्ष्य

इस संग्रह में वे लेख संगृहीत हैं जो प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान एवं जोधपुर विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित एक वेद गोष्ठी में पढे गये थे । गोष्ठी का विषय 'पं० मधुसूदन ओझा की वेद-भाष्य-परम्परा था । गोष्ठी में विषय के इस नामकरण पर कुछ आपत्ति भी की गई थी, क्योंकि ओझाजी ने कोई तथाकथित वेदभाष्य नहीं किया और न उनके शिष्यों ने ही कोई ऐसी रचना की । फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि ओझा जी ने वेद-वाङ्मय की व्याख्या करने की एक नई दिशा दी । हम जिन्हें प्राय: वेद-भाष्य की संज्ञा देते आये हैं, वे प्राय: एक दृष्टिविशेष से प्रस्तुत शब्दानुवाद मात्र हैं ।

जब मैं यह कहता हूँ, तो मेरा यह अभिप्राय नहीं कि पूर्व वेद-भाष्यकारों ने वेद-मंत्रों की व्याख्या में कुछ नहीं किया अथवा उनकी देन नगण्य है । यज्ञपरक व्याख्याकारों में सायणाचार्य और स्कन्दस्वामी आदि पूर्ववर्ती आचार्यों ने जो कार्य किया वह यदि आज हमारे सामने होता तो हम वेद के विषय में शायद कोई उपयोगी मीमांसा कर पाते ।

वास्तव में उनके यज्ञप्रधान युग में वैसे ही वेद-भाष्य की माँग थी । उदाहरण के लिए, आचार्य सायण ने अस्यवामीय सूक्त (ऋ१. १६४) पर विस्तृत दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए, स्पष्ट कहा कि ऐसी ही व्याख्या सर्वत्र सम्भव है, परन्तु मैं नहीं कर रहा हूँ । कारण, उन्हीं के शब्दों में, १- स्वरसाभावात् अर्थात् उसमें स्वयं की रुचि न होने से; २- ग्रन्थविस्तरभयात्, ऐसी व्याख्या करने से ग्रन्थ के अति विस्तृत होने का भय है । इन दोनों कारणों के मूल में यज्ञीय कर्मकाण्ड की वह लोकप्रियता ही थी जिसके कारण वेद मंत्रों का एकमात्र महत्त्व उनके कर्मकाण्डीय विनियोग में निहित था । और उससे बाहर जाना व्यर्थ माना जाता था ।

आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जब वेदमंत्रों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया तो निस्सन्देह उन्हें विस्तृत व्याख्या का आश्रय लेना पडा और शब्दार्थ के साथ-साथ भावार्थ भी लिखना पडा । श्री अरविन्द ने स्वामी दयानन्द की सराहना करते हुए कहा कि उन्होंने हमें वह कुञ्जी प्रदान की जिसके द्वारा चिरकाल से विस्तृत वेदभण्डार को पुनः खोला जा सकता है । श्री अरविद ने भी अनेक सूक्तों की विस्तृत व्याख्या की जो आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । परन्तु फिर भी अनेक देशी-विदेशी विद्वान् वेद-मंत्रों के शब्दानुवाद तक ही प्रायः चिपके रहते हैं । वे नहीं समझते कि श्री अरविन्द के समान उन्हें मंत्रगत पारिभाषिक शब्दों को समझने-समझाने की आवश्यकता है । इसका मुख्य कारण है कि वे प्रायः विदेशी विद्वानों की इस मान्यता से अत्यधिक प्रभावित हैं कि वेदमंत्र आदिम असभ्य मानव की देन है, अतः उनमें कोई गंभीर तत्त्वज्ञान की परिभाषाओं की खोज करना व्यर्थ हैं । अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद मंत्रों की व्याख्या के जो यत्र तत्र संकेत मिलते हैं वे उनके लिए पागल प्रलाप मात्र हैं ।

ओझा परम्परा का योगदान

ओझाजी की परम्परा की सबसे बडी देन यही है कि उसने ब्राह्मण-ग्रन्थों के महत्व को उजागर किया । इसने वैदिक पारिभाषिक शब्दों को ब्राह्मण ग्रन्थों में संकेतित शैली से समझने पर जोर दिया । ओझाजी के गुरु पं० शिवकुमार ने उनको शतपथ-ब्राह्मण के अध्ययनार्थ प्रेरित करके इस उपेक्षित मार्ग पर चलाया था । इसकी ओर डॉ० पद्मधर पाठक ने 'मधुसूदनजी की गुरुपरम्परा' शीर्षक से लिखे लेख में अच्छा प्रकाश डाला है ।

पं० शिवकुमार के द्वारा डाला गया यही अंकुर ओझाजी के प्रिय शिष्य मोतीलालजी के अध्ययन में पल्लवित हुआ 'शतपथ का विज्ञान भाष्य' इस बात का अच्छा प्रमाण है । पं० शिवकुमार शास्त्री स्वयं उन प्रसिद्ध बालशास्त्री के शिष्य थे जिनका शास्त्रार्थ स्वामी दयानन्द के साथ काशी में हुआ था ।

मधुसूदन परम्परा में इतिहास-पुराण

इस घटना का महत्त्व यह बताने में है कि मधुसूदनजी की परम्परा में ब्राह्मणों के साथ पुराणों को भी क्यों लिया गया । बालशास्त्री को स्वामीदयानन्द का पुराण विरोधी दृष्टिकोण पसन्द नहीं था । यद्यपि स्वामीजी का यह विरोध, वास्तव में, वेदोद्धार को प्राथमिकता देने के कारण था । अस्तु, पुराण परम्परा को वैदिक मानने वाली दृष्टि पं० शिवकुमार शास्त्री के द्वारा उनके शिष्य पं० मधुसूदन जी को अवश्य मिली होगी । इसीलिए उनकी परम्परा में, पुराणों में वर्णित वेदाङ्गों, दर्शनों और ऐतिहासिक वृत्तान्तों पर भी उनकी दृष्टि अवश्य गई । यही कारण है कि ओझाजी द्वारा दो सौ से अधिक लिखे गये ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों की चर्चा मिलती है, जैसाकि प्रस्तुत संग्रह के अनेक लेखों से भी संकेत मिलता है । फिर भी तारीफ की बात यह है कि ओझाजी और मोतीलालजी ने 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदानुपबृंहयेत् का पालन करते हुए पुराणों के वेदोपबृंहण में गौण स्थान ही दिया । इसका सबसे अच्छा प्रमाण हमें ओझाजी के 'इन्द्रविजय एवं महर्षिकुलवैभवम्' नामक ग्रन्थों में मिलता है जिनका परिचय प्रस्तुत संग्रह के दो लेखों में कराया गया है ।

'इतिहास पुराण' के परिप्रेक्ष्य से वेदवाङ्मय का निरूपण हमें ओझाजी के कुछ अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है । इनमें से अत्रि ऋषि की व्याख्या प्रमुख है जिस पर प्रकृत संग्रह में दो लेख उपलब्ध हैं । एक के लेखक सुरजनदास स्वामी मधुसूदनजी के ही एक शिष्य हैं । उन्होंने अनेक पुराणों के अतिरिक्त महाभारत एवं मनुस्मृति आदि के आधार पर अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में अत्रि को ऋषि के अतिरिक्त प्राणरूप में मानते हुए उसी को ऋग्वेदीय मन्त्रों में वर्णित ऋषि भी माना है । डॉ० सुनन्दा अभ्यंकर ने भी अपने लेख में अत्रि ऋषि के विषय में अनेक प्रश्न उठाये हैं और उनका उत्तर महर्षिकुलवैभवम् में खोजने का प्रयास किया है । मुख्य प्रश्न यह है कि अत्रि अथवा कोई वैदिक ऋषि ऐतिहासिक

देहधारी मनुष्य होने के साथ किसी प्राण विशेष का वाचक होकर तो एक विरोधाभास को जन्म देता है । इसी प्रकार के विरोधाभास की प्रतीति ओझाजी की 'पितृसमीक्षा' के प्रसंग में भी हो सकती है । इसी ग्रन्थ के आधार पर डा० क्षीरसागर ने ऋग्वेद के पितृसूक्त की व्याख्या प्रस्तुत की है और मुख्यतः इसी ग्रन्थ के आलोक में सुरजनदास स्वामी का 'श्राद्धविज्ञान' नामक लेख लिखा गया है जिसमें वे दिव्यपितर ऋतुपितर, एवं प्रेतपितर नाम से पितरों के तीन भेद करते हैं ।

वास्तव में विरोधाभास का कारण प्रायः यह होता है कि विषय निरूपण करते हुए एक तो कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है जिनका ज्ञान सामान्य पाठक को क्या बहुत से विद्वानों को भी नहीं होता । दूसरे, जो इतिहास-पुराण वेदों के उपबृंहण के लिए लिखे गये उनमें भी प्रयुक्त आख्यान वैदिक प्रतीकवादी होते हुए भी इतिहासवत् प्रतीत होने लगे हैं । इस दृष्टि से श्री कलानाथ शास्त्री का लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है । इसमें लेखक ने अपौरुषेय वेद में ऐतिहासिक व्यक्तियों की मान्यता पर प्रश्न उठाते हुए ओझाजी द्वारा इन्द्रादि को देव और ऐतिहासिक व्यक्ति रूप में द्विधा मानने पर सन्तोष व्यक्त किया है । इस प्रसंग में यह तो सत्य है कि जो वैदिक नदियों पर देवों आदि के नाम थे उन्हीं पर देश की नदियों एवं व्यक्तियों के नाम भी रखे गये । वस्तुतः इसी आधार पर हमारे यहाँ इतिहास की निम्नलिखित परिभाषा हुई -

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशप्रतिपत्तये ।
पुरावृत्तं कथायुक्तं इतिहासमित्याचक्षते ॥

इसके अनुसार इतिहास निस्सन्देह प्राचीनकाल में घटित घटनाओं का 'पुरावृत्त' होता है । परन्तु उसे धर्मार्थकाममोक्ष के उपदेश का उपयुक्त माध्यम बनाने के लिए 'कथायुक्त' (अर्थात् काल्पनिक प्राचीन कथाओं से युक्त) भी करना पडता है । परन्तु फिर भी कोई ऐतिहासिक व्यक्ति या उसकी जीवन घटना किसी तत्त्व का प्रतीक भले ही बन जाय परन्तु वह उस तत्त्व का तद्रूप नहीं हो सकती । वेद के राम और अयोध्या के अनुकरण पर 'राम' या 'अयोध्या' नाम ग्रहण करने वाला व्यक्ति या नगर प्रतीकत्व ग्रहण कर सकता है परन्तु मूल राम एवं अयोध्या तो निस्सन्देह किसी प्रकार भी वर्तमान सरयू नदी से सम्बद्ध नहीं माने जा सकते । कम से कम आज हम जिसे वैज्ञानिक दृष्टि कहते हैं उसके आलोक

में तो यह बात सर्वथा असंगत लगेगी ।

ओझाजी का वेदविज्ञान और धर्म

इस समस्या का समाधान, बहुत कुछ डॉ० कृष्णलाल के लेख से हो जाता है । 'मधुसूदन ओझा के अनुसार वैदिक धर्म' पर विचार करते हुए, वे इस प्रामाणिक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ओझाजी की दृष्टि में 'धर्म ही विज्ञान है' और 'समस्त वेद-विज्ञान का परम लक्ष्य अध्यात्म ही है, क्योंकि अध्यात्म में ही सब कुछ पर्यवसित होता है, वही वेद का धर्म है ।' अत: यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि वेद के आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही पूर्वोक्त विरोधाभास का भी कोई समाधान हो सकेगा । इस प्रसंग में, प्रस्तुत संग्रह की 'वेद विज्ञान' चर्चा भी विचारणीय हो जाती है । स्वामी सुरजनदास की दृष्टि में 'विज्ञान पद से सृष्टि के उत्पादक भौतिक प्राणों का स्वरूप ज्ञान अभिप्रेत है' । इतना ही नहीं, वे आगे कहते हैं - 'न केवल भौतिक प्राणों का, अपितु उत्पन्न होने वाले विविध प्राणों का ही निरूपण वेद में हुआ है । प्राण-विद्या का नाम ही वेद है ।' इस कथन से वे लोग स्वभावत: विचलित होंगे जिन्होंने किन्हीं ग्रन्थों को ही वेद समझ रखा है । स्वामीजी, ओझाजी के शिष्य होने के नाते वस्तुत: अपनी इस गुरुपरम्परा को ही दृष्टि में रखकर यह बात कहते हैं जिसके अनुसार उक्त वेद तो 'मूल' वेद है और अन्य 'तूल' वेद कहे जा सकते हैं ।

अस्तु । स्वामीजी का यह मत भी महत्त्वपूर्ण है कि "ऋषि, पितर, देव, दानव, गन्धर्व, वेद के नाना जातीय प्राण प्रकृति में हैं । स्तुति, प्रार्थना इतिहास आदि के साथ इन प्राणों का निरूपण वेद में हुआ है । अत: प्राणविद्या को ही वेद विद्या कह दिया जाता है ।" विद्वान् लेखक की यह भी मान्यता है कि उक्त विविध प्राणों में 'ऋषिप्राण मौलिक हैं, उन्हीं के योग से पितर, देव, दानव आदि प्राणों की उत्पत्ति होती है ।' इसीलिए शतपथब्राह्मण के षष्ठकाण्ड में कहा है- 'सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व केवल असत् तत्त्व था .. ऋषि ही असत् तत्त्व है... ऋषिप्राणों के अभावरूप होने से नहीं, किन्तु.... सत् न रहने से उन्हें असत् कहा जाता है ।' इन शब्दों को सुनकर हमारा ध्यान 'असतो मा सद्गमय' पर जाना स्वाभाविक है ।

वेद और विज्ञान

असत् और सत् की समस्या हमें एक आधुनिक वैज्ञानिक प्रो० ए०डी०बोहरा के लेख पर ले जाती है जिन्होंने 'वेद और विज्ञान' पर अपना लेख प्रस्तुत किया और उसमें

ओझाजी के ग्रन्थ से निम्नलिखित विपरीतार्थक शब्दों की तालिका उद्धृत की है जिसमें उक्त 'असत् और सत्' का द्वन्द्व भी सम्मिलित है : -

ज्ञान	—	विज्ञान
विद्या	—	अविद्या
प्रतिसंवर	—	संवर
सत्	—	असत्
अमृतम्	—	मृत्यु

अथवा

उपनिषद् की भाषा में	—	विनाश	संसृति
यज्ञभाषा में	—	विसर्ग	आदान
व्यावहारिक भाषा में	—	परित्याग	ग्रहण
सामान्य भाषा में	—	गति	आगति
ऋषिभाषा में	—	भृगु	आंगिरस

इस प्रकार विपरीतार्थक शब्दों का उल्लेख करते हुए प्रो० बोहरा ने वैशेषिक सूत्रों से अभ्युदय और निश्रेयस के साधक धर्म को और गीता के विज्ञान-सहित ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया है । इसी तरह ओझाजी के चरणचिह्नों पर चलकर डॉ० पञ्चदेव झा अपने सुसंस्कृत लेख में 'इन्द्रविजय' से एक अवतरण लेकर लौकिक और पारलौकिक धर्मों के द्वैत का उल्लेख करते हैं । डॉ० जी०एल०सुथार ने भी ओझाजी द्वारा वैशेषिक दर्शन से पुनर्मूल्यांकन की चर्चा करते हुए, अभ्युदय - निश्रेयस् के समान कुछ विपरीतार्थक कल्पनाओं का उल्लेख किया है । अवयवगति तथा समुद्रगति की जोडी को उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। इन सब द्वन्द्वों का पर्यवसान वस्तुतः एक द्वन्द्वातीत अद्वैततत्त्व में होता है जिसका परिचय हमें डॉ० सत्यप्रकाश दुबे के लेख से मिलता है जिसे उन्होंने ओझाजी के 'पथ्यास्वस्ति' नामक ग्रन्थ की ओर संकेत करते हुए लिखा है । ओझाजी की इसी कृति को लक्ष्य करके डॉ० मंगला राम विश्नोई ने जो विद्वतापूर्ण मीमांसा

की है उसमें भी यौगिकवर्णों और अयोगवाही वर्णों की कल्पना के मूल में शब्दपरब्रह्म के द्वन्द्व की ओर संकेत है । यद्यपि डॉ० दुबे के लेख के समान इसमें द्वन्द्वातीत की कल्पना प्रस्तुत करने का समय नहीं आ पाया है ।

वेद का सुविज्ञान

उक्त द्वन्द्वात्मक कल्पनाओं की ओर संकेत करने का लक्ष्य तद् तद् लेख के विद्वान् लेखकों की आलोचना नहीं, अपितु वेद-विज्ञान की चर्चा में उस द्वन्द्वातीत कल्पना के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना है जिसे वेद में सुविज्ञान कहा गया है : -

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

(ऋग्वेद ७.१०४.१२)

इस मन्त्र के अनुसार, यथार्थ सत्य का नाम सुवर्ण है । सत् और असत् का द्वन्द्व जब तक चलता है, तब तक सुविज्ञान का जिज्ञासु सफल नहीं हो सकता, क्योंकि सुविज्ञान द्वन्द्वातीत सत्य का ज्ञान है । अतः इस सुविज्ञान के लिए इस द्वन्द्व से ऊपर जाना परमावश्यक है । इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि सत् और असत् के द्वन्द्व की सत्ता ही नहीं । वास्तव में, व्यावहारिक स्तर पर इस द्वन्द्व का अस्तित्त्व निश्चित रहता है । इसी के ज्ञान का नाम विज्ञान है । इसी ओर संकेत करने के लिए, जहां 'असदेवेदम् अग्र आसीत्' कहा जाता है, वहीं 'सदेवेदम् अग्र आसीत्' भी वैदिक वाङ्मय में मिलता है । जहां जगत् के स्तर पर यह द्वन्द्व एक वैज्ञानिक सत्य है; क्षर-अक्षर, अन्धकार-प्रकाश, लोक-परलोक, आदि द्वन्द्वात्मक परिकल्पनाएँ मिथ्या नहीं कही जा सकतीं ; परन्तु इस द्वन्द्व में फँसे रहने तक द्वन्द्वातीत सत्य के सुविज्ञान की प्राप्ति असंभव है । वेदविज्ञान से सम्यक् रूप में अवगत होने के लिए यह जानना अपरिहार्य है ।

प्रतीकवाद

निस्सन्देह, सुविज्ञान तथा ज्ञान-विज्ञान की परिकल्पना को हम उसी साधारण भाषा में नहीं प्रस्तुत कर सकते जिसमें सदसत् के द्वन्द्व पर आश्रित व्यावहारिक जीवन की चर्चा की जाती है । अतः वेद ने एक विशिष्ट प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है जिसमें सामान्य

भाषा के ही विभिन्न शब्दों को प्रतीक बनाकर उनके द्वारा किसी विशेष अर्थ को व्यक्त किया है । उदाहरण के लिए आपः शब्द को लेते है । लौकिकसंस्कृत में यह एक जलवाचक शब्द है, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में 'प्राणा वै आपः' तथा 'आपो वै प्राणाः' की उक्तियाँ मिलती हैं, क्योंकि वेदमन्त्रों में यह शब्द प्राणधाराओं का बोधक है । प्राणों की गुणकर्मात्मिक विविधता को देखते हुए उनके रूपान्तरों को भी जल के रूपान्तरों के समान अनेक प्रकार का माना गया है । इसी का परिणाम है कि निघण्टु के १०१ उदक नामों में, न केवल आपः, सलिल, जल, वारि, नीर और अम्भ जैसे शब्द हैं, अपितु कुछ ऐसे नाम भी हैं जिनका जल से कुछ भी लेना-देना नहीं । सत्यम्, ऋतम्, योनि, इन्दु, भूतम्, भुवनं, भविष्यत्, व्योम, बर्हि और शुभम् ऐसे शब्द भी वहां हैं जिनको शायद ही किसी भाष्यकार ने जल के अर्थ में ग्रहण किया होगा । फिर ईम्, इदम्, स्वः शंवर, महत्, स्वधा और 'नाम' को उदकनामानि में देखकर तो निघण्टुकार के विवेक पर ही सन्देह होने लगता है । लेकिन जब हम १०१ उदकनामों पर लिखे गये डॉ० सुकर्मपाल सिंह तोमर के शोध-प्रबन्ध को देखते हैं, तो निघण्टुकार के वैदुष्य के सामने शिर झुकाना पडता है, क्योंकि ये सभी उदकनाम वस्तुतः प्राणों के वैविध्य की ओर संकेत करने वाले प्रतीक हैं । डॉ० तोमर के शोध-प्रबन्ध की सुयोग्य परीक्षकों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है ।

हर्ष की बात है कि इस दिशा में जो कार्य डॉ० श्रद्धा ने निघण्टु के 'धननामानि' पर शोध प्रबन्ध लिखकर आरम्भ किया वह अब तक पर्याप्त प्रगति कर चुका है । डॉ० प्रतिभा ने 'हिरण्यनामानि' और डॉ० माधुरी ने 'अश्वनामानि' पर शोध करके तथा पुनः डॉ० श्रद्धा ने 'मनुष्यनामानि' सहित निघण्टु की अन्य नामावलियों पर आश्रित मनुष्य व्यक्तित्व पर अपना डी०लिट्. का शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया और डॉ० अरुणा शुक्ला ने निघण्टु के आन्तरिक नामों में मनुष्य की आन्तरिक चेतना के विविध रूपों को पाया । प्रस्तुत लेख-संग्रह में भी डॉ०बी०एम०पन्त द्वारा प्रस्तुत 'ऋग्वेद ५.२९ की वैज्ञानिक व्याख्या' तथा श्री आर०टी०व्यास कृत 'सिम्बौलिज्म आव ऋ. ४.५८' भी वेद की प्रतीकवाद शैली का संकेत दे रहे हैं । इस दिशा में डॉ०दीपक भट्टाचार्य का लेख विशेष महत्व का है । उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि 'उपलक्षण' शब्द का प्रयोग करके सायणाचार्यादि भाष्यकारों ने जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह वस्तुतः प्रतीकवादी शैली ही है । डॉ० प्रभावती चौधरी द्वारा अपने लेख में ओझाजी की व्याख्या में प्राण-विज्ञान का स्वर देखना अथवा प्राण-विद्या को

ही वेद-विद्या मानना प्रकारान्तर से वैदिक प्रतीकवाद की ओर संकेत है ।

ओझाजी की वेदभाष्य परम्परा और प्रतीकवाद

वास्तव में उक्त प्रतीकवादी शैली किसी न किसी रूप में उस वेदव्याख्या में भी मुखरित हो रही है जो ओझाजी अथवा मोतीलालजी की कृतियों की पृष्ठभूमि में निश्चित रूप से विद्यमान है । वेदविद्या को प्राणविद्या कहना और ऋषियों, पितरों, देवों और दानवों को प्राणों के ही प्रकार मानना आदि ऐसी अनेक बातें हैं जो स्पष्टत: प्रतीकवादी दृष्टिकोण को परिलक्षित करती है । निस्सन्देह यास्क द्वारा स्वीकृत वेदमन्त्रों की व्याख्या के तीन आयामों में अभिव्यक्त वैदिक संस्कृति का जो वैविध्य पं मधुसूदन तथा शास्त्रीजी ने भी अपनी रचनाओं में प्रकट किया है वह केवल शब्दों के अभिधेयार्थ द्वारा संभव नहीं हो सकता था । इस प्रसंग में डॉ० दयानन्द भार्गव का आलेख विशेष रूप से पठनीय है जिसमें विद्वान् लेखक ने 'मोतीलालशास्त्री की दृष्टि में वैदिक संस्कृति की सर्वाङ्गीणता' पर चर्चा की है । इस लेख की सर्वोत्तम विशेषता वह चित्रोपम तालिका है जिसमें वैदिक संस्कृति के ४८ उपादानतत्त्वों को चार सूचियों में विभक्त करके और प्रत्येक के अन्तर्गत १२ तत्त्वों को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया कि जिससे एक ओर तो वैदिक संस्कृति की विविधता प्रकट हो रही है वहीं दूसरी ओर प्रत्येक सांस्कृतिक तत्त्व के लिए संक्षिप्त प्रमाण भी दे दिया गया है । इस अद्भुत तालिका में चार वर्णों और चार आश्रमों पर आश्रित वैदिक संस्कृति की समग्रता एवं पुरुषार्थचतुष्टय के सन्दर्भ में प्रकट होने वाली विविधता और समग्रता को जिस प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है वह सराहनीय है ।

इस सम्बन्ध में डॉ० व्रजबिहारी चौबे का पाण्डित्यपूर्ण लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसमें वेदभाष्यपरम्परा का एक प्रकार से संक्षिप्त इतिहास देते हुए पं० मधुसूदन ओझा की विलक्षण देन की ओर संकेत किया गया है । तदनुसार वेद, ज्ञान रूप में अपौरुषेय तथा ग्रन्थ रूप में मनुष्यकृत मानकर, परम्परागत विवाद को सुलझाने का एक तर्कसंगत हल हो सकता है । परन्तु ओझाजी की कुछ मान्यताएँ सामान्यत: बोधगम्य नहीं प्रतीत होतीं । उदाहरण के लिए इन्द्रविजय में वर्णित भूमण्डलीय स्वर्ग अन्तरिक्ष और

पृथिवी तथा भारतीय राजाओं का इन्द्रादि देवों के सख्यभाव को ऐतिहासिक मानना अथवा मन्त्रगत आख्यानों की ऐतिहासिकता स्वीकारना निस्सन्देह विचारणीय है । यह तो समझ में आने की बात है कि कभी कोई, इन्द्र नामक राजा हुआ हो अथवा वैदिक काल में इन्द्रशब्द राजा का वाचक भी रहा हो जिसके नाम पर उत्तरभारत में इन्द्रप्रस्थ तथा दक्षिण में ऐन्द्र (आज का आन्ध्र) नाम पडा हो, परन्तु वेद मन्त्रों के इन्द्रदेव को मनुष्य रूप में स्वीकार करना उसी तरह कठिन है जिस तरह वेदमंत्रों के ऋषियों को ऐतिहासिक पुरुष मानना । यह बात ओझाजी की उस मान्यता के भी विरुद्ध जाती है कि वेदमन्त्रों को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, इन तीनों दृष्टियों से समझना चाहिए । सम्भवतः यदि ओझाजी वेदमन्त्रों का तदनुसार अर्थ करने लगते तो उन्हें अपने वैदिक विज्ञानवाद के आलोक में कुछ परिवर्तन करना पडता । उदाहरणार्थ ऋग्वेद ७/३३ के वशिष्ठ और अगस्त्य, मैत्रावरुण के रेतस से, कुम्भ के क्रमशः भीतर और बाहर जन्मते हैं । वास्तव में इस प्रकार के आख्यानों में निश्चित रूप से प्रतीकवाद मानना पड़ता है ।

एक रहस्य

सचमुच प्रतीकवादी दृष्टि ओझाजी के वैदिकविज्ञानवाद से पूर्णतया सुसंगत भी है, क्योंकि जब वे ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार प्राणों को ऋषियों, देवों आदि के रूप में मानते हैं, तो चाहे प्रतीक या उपलक्षण शब्द का प्रयोग करें या न करें, उनकी दृष्टि को प्रतीकवादी ही कहा जायेगा । फिर भी वैदिक ऋषियों को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने का आग्रह एक महान् रहस्य सा प्रतीत होता है । इस रहस्य का उद्घाटन करने वाली कुछ बातें मुझे पं० शिवकुमार शर्मा (ओझाजी के गुरु) की पुत्री से मिलीं । जिन्होंने गृहस्थ जीवन में आने के वर्षों बाद मेरे साथ उसी काशीविश्वविद्यालय से एम०ए० में प्रवेश लिया था जिसमें पतिदेव डिपुटी रजिस्ट्रार थे । हुआ यों कि एक दिन मैने डॉ० बेलवेल्कर से आग्रह किया कि वे स्वामी दयानन्द के भाष्य को भी सायणभाष्य के साथ पाठ्यक्रम में स्थान दें, क्योंकि वे सदा सायण के अतिरिक्त ब्रिटिश, जर्मन, एवं फ्रेन्च विद्वानों की ही बात करते थे । इस पर डॉ० बेलवेल्कर का कहना था - दयानन्द अवैज्ञानिक हैं ।

इसी प्रसंग में जब आगे बात चली, पं० शिवकुमार की पुत्री ने बताया कि किस प्रकार स्वामी दयानन्द वेद में इतिहास न मानने के कारण उनके पिता के गुरु बालशास्त्री को

भी अमान्य थे । इसलिए गुरुभक्ति का निर्वाह करते हुए यदि मधुसूदनजी को भी दयानन्द विरुद्ध मत को अपनाना पड़ा हो, कोई आश्चर्य की बात नहीं । इसके साथ मुझे यह भी पता चला कि पं० शिवकुमार के एक अन्य शिष्य पं० हरिशंकर जोशी भी स्वामी विशुद्धानन्द की योगदृष्टि से प्रभावित होने के कारण पं० मधुसूदन जी के निन्दक हो गये । फिर भी यह एक संयोग है कि पं० हरिशंकर की योगपरक वेदव्याख्या पर आधारित सभी पुस्तकें डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने कार्यकाल में विश्वविद्यालय से प्रकाशित कराईं, यद्यपि वे ओझाजी के भी भक्त थे और हरिशंकर जोशी ने अपने ग्रन्थों में ओझाजी की खुलकर निन्दा की थी । डॉ० वासुदेवशरण के लिए ऐसा करना इसलिए संभव हुआ क्योंकि वे किसी तरह के साम्प्रदायिक ईर्ष्या दोष से मुक्त थे । उन्होंने जहाँ हमें मोतीलाल शास्त्री से सम्पर्क करके ओझाजी की दृष्टि से परिचित होने के लिए कहा, वहीं उन्होंने हरिशंकर जोशी के योगपरक ग्रन्थों को पढने के लिए भी प्रेरित किया ।

सम्प्रदायवाद और वेदविद्या

भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत का सर्वथा विस्मरण हो जाने से जहां सम्प्रदायवाद ने वेदों को कण्ठस्थ करके अभी तक सुरक्षित रखा है वहीं वह वेदार्थ के मूल रूप को सुरक्षित रखने में सर्वथा असमर्थ हुआ है । वेदों को समझने के जो दृष्टिकोण थे वे षड्दर्शन का रूप ग्रहण करके वेद को ही अपना मूल आधार मानते हुए भी अपनी स्वतंत्र सत्ता मानकर परस्पर कटाक्ष करने में लग गये और जो उत्तरमीमांसा एवं कर्ममीमांसा क्रमशः अन्तरंग ज्ञान साधना एवं बहिरंग श्रेष्ठतम कर्म एवं यज्ञसाधना की द्योतक थी वह केवल शास्त्रीय वितण्डावाद एवं कर्मकाण्डीय उधेडबुन में परिणत होकर न चाहते हुए भी वेदोद्धार में सहायक होने के स्थान में घातक ही सिद्ध हुए ।यही कारण है कि बालशास्त्री एवं दयानन्द के बीच होने वाले शास्त्रार्थ से जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ था वह शीघ्र ही मूर्तिपूजक सनातनियों एवं अमूर्तिपूजक यज्ञकर्ता आर्यसमाजियों के बीच छिड़ गया । इसीप्रकार, विष्णु या शिव जैसे देव एक ओंङ्कार पदवाच्य ब्रह्म के ही भिन्न रूप थे । उनकी उपासना को लेकर वैष्णव एवं शैव जैसे विभिन्न सम्प्रदाय खडे हो गये, जो अपने अपने 'ऊँ नमो वासुदेवाय' या 'ऊँ नमः शिवाय' जैसे मन्त्रों में अभी भी संकेत दे रहे है कि उनमें से प्रत्येक का आराध्य एक 'ऊँ' पदवाच्य परं ब्रह्म ही है । फिर भी वेदार्थ से कटजाने के कारण वे बहुत दिनों तक घोर शत्रुभाव से परस्पर भिडते रहे ।वास्तव में ऊँ - केन्द्रित

वैदिक संस्कृति ने ही इस क्षेत्र को अनेकता में एकता खोजना सिखाया है । यही कारण है कि अनेक सम्प्रदायों, नस्लों, भाषाओं जातियों, वर्गों में विभक्त होते हुए भी इस देश ने एक अखण्ड हिन्दू समाज दिया जो आन्तरिक और बाह्य अनेक आघातों को झेलते हुए भी अपने अस्तित्व में उसी ऊँ को छिपाये हुए है । अतएव न केवल वैष्णव एवं शैव, अपितु सर्वत्र अप्रत्यक्ष रूप से ऊँ की मान्यता है । ऊँ गणेशाय नमः, ऊँ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै नमः, का जाप करने वाले तो अपने को हिन्दू ही कहते हैं, परन्तु आज जो अपने को अहिन्दू मान बैठे हैं उनमें भी एक ओंकार सत् श्री अकाल बोलने वाले सिक्ख तथा ऊँ नमः मणि पद्मे का जाप करने वाले बौद्ध भी अपने इस वैदिक केन्द्र बिन्दु को भूले नहीं हैं। महोपाध्याय विनयसागर के अनुसार उनके जैनसमाज में ऊँ पञ्चपरमेष्ठियों में समाहित माना जाता है और यदि स्वर्गीय दार्शनिक डॉ० भगवानदास के मत को स्वीकार करें, तो ईसाई समाज के -अमेन अमेन अमेन' तथा मुस्लिम समाज के -आमीन आमीन आमीन- की त्रिवाचा में भी वही वैदिक ऊँ विद्यमान है ।

जगद्गुरुवैभवम्

यह सब लिखने का अभिप्राय वेदविद्या के उस स्वरूप की ओर संकेत करना है जिसकी एक झलक हमें ओझाजी के 'जगद्गुरुवैभवम्' नामक ग्रन्थ में मिलती है और जो पं० देवीदत्त चतुर्वेदी के लेख का प्रतिपाद्य है । वेदविद्या के इसी व्यापक स्वरूप की समीक्षा प्रस्तुत करना ही ओझाजी के ग्रन्थों का लक्ष्य था । इसी कारण उन्हें 'समीक्षाचक्रवर्ती' कहा जाता है । डॉ० प्रभाकर शास्त्री ने अपने लेख में ओझाजी की वेदाङ्गसंबन्धी कृतियों का उल्लेख करते हुए ज्योतिष शास्त्रीय 'होडा' शब्द के प्रसंग में जो यवनों के प्रभाव की चर्चा की है उसके सम्बन्ध में यह भी याद रखना होगा कि ज्योतिष का सहयोगी गणित भारत की ही देन है । अरब में 'हिन्दसा' और योरोप में 'इण्डियन न्यूमरल्स' कहलाने वाले शून्य समेत सभी अंकों के बिना ज्योतिष-गणित का अस्तित्व ही नहीं माना जा सकता । ओझाजी ने वेदविज्ञान की जो व्यापक समीक्षा हमें दी है उसके लिए हम उस वन्दनीय विद्वान् के निस्सन्देह ऋणी हैं, परन्तु फिर भी हमें इसी को अन्तिम मान लेने का अर्थ होगा ज्ञानप्रवाह का नितान्त अवरोध । जिस प्रकार एक अबोधबालक भी अपने पितामह के कन्धों पर बैठकर अपनी दृष्टि को प्रसार दे सकता है उसी प्रकार हमें ओझाजी, श्री अरविन्द या स्व. दयानन्द की कृतियों की अमूल्य देन के सहारे भविष्य में

आगे बढने का प्रयत्न करना चाहिए यह हमें केवल अपने देश के लिए नहीं, अपितु सारी मानवजाति की हित कामना से करना चाहिए ।

इस दृष्टि से हमें फ्रेंच मनीषी रेवाँग्वेनाँ का कथन स्वीकार करना उपयोगी होगा । उसकी मान्यता थी " There is one uniform and tradition of mankind and that is best preserved in the vedas." यद्यपि इस कथन के लिए उसे अपने देश से निष्कासित होकर जीवन के अन्तिम २० वर्ष मिस्र में सूफी सन्त की हैसियत से बिताने पड़े, फिर भी आज के बदले हुए माहौल में बहुत संभव है कि रेवाँ ग्वेनाँ के उक्त दृष्टिकोण से वेदविद्या के अन्वेषण या प्रचार प्रसार में विदेशियों का भी सहयोग, उनके देशाभिमान को अक्षुण्ण रखते हुए ही, ले सकेंगे । इस प्रसंग में, हमें हर्ष है कि पूर्वाग्रह भी छोडने पडें । हमें हर्ष है कि पूर्वोक्त 'होडा' शब्द पर विचार करते हुए ओझाजी ने हमारे सामने जो आदर्श प्रस्तुत किया वह, इस दिशा में हमारे लिए अद्‌भुत प्रेरणा दे रहा है । कुछ विद्वानों ने ज्योतिष के 'होडा' शब्द को इंगलिश hour से निष्पन्न माना है, परन्तु अधिक संभावना यह है कि यह वैदिक 'होत्रा' शब्द का रूपान्तर हो । वेद में 'होत्रा' जहाँ 'भारती' और 'मेधा' द्वारा परिश्लाघनीय कहा (ऋ. ७.१०४.६) जाता है । घिषणा और मेधा से इस प्रकार होत्रा जब मनु की वह 'प्रथमा होत्रा' कही जाती है जिसका अनुयजन वह मन सहित सप्तहोताओं द्वारा (ऋ. १०. ७६. ७१.) स्वस्ति के लिए करता है, तो स्वीकारना पडता है कि न केवल 'होत्र' अपितु मनु भी कोई आध्यात्मिक तत्व है । ऐसी स्थिति में हमें यह आग्रह भी छोड़ना पडेगा कि मिस्र में 'मिनोस' तथा 'इस्लामी' एवं ईसाई परम्परा का 'नूह' या 'नोआ' जो वैदिक मनु के समान, एक महान् जलप्लावन से जुडे हैं कोई ऐतिहासिक पुरुष होंगे । जैसाकि मैंने अन्यत्र सिद्ध किया है, मनु के समान, संसार की विभिन्न परम्पराओं में 'आदिपुरुष' के जितने नाम हैं वे प्रायः सभी वेद में उपलब्ध हैं और उन्हें केवल आत्मा अथवा परमात्मा का नाम ही मानना पडता है । इस दृष्टि से वेदांगीय ज्योतिष का होडा चक्र नक्षत्रों की ज्योतिषविद्या से पूर्व आध्यात्मिक ज्योतिष विद्या में विचारणीय हो जाता है । 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार विचार करें तो वेदविज्ञान को समझने का यही परम्परागत मार्ग भी है । इसके लिए हमें उस वैदिक जिष्णुयोग को समझना होगा जो अब तक पातंजलयोग के रूप में अब भी सुलभ है ।

हमारी पूजा पद्धति और वेदविद्या

ऐसी दृष्टि अपनाने पर ही, हम यजुर्वेद के उस प्रथम मन्त्र को समझ सकेंगे जिसमें 'श्रेष्ठतम कर्म' के लिए प्राणवायुओं को समर्पित करने की कामना है और जिस मंत्र की व्याख्या करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थों में 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' की बार बार घोषणा की गई है । श्रेष्ठतम आचरण रूप यह यज्ञ जिन गुणों और प्रवृत्तियों को जन्म देता है वही वे प्रजाएँ हैं जिनके सन्दर्भ में गीता 'सह यज्ञा प्रजा:' की सृष्टि कल्पना प्रस्तुत करता है । मानव देह रूपी 'पू' में इन्हीं प्रजाओं को जन्म देना ही वास्तविक 'पूजा' है । हम जिसकी उपासना करते हैं उसकी शक्तियों या गुणों का जन्म होने में ही हमारी पूजा की सफलता है । इस प्रकार श्रेष्ठतम कर्म रूप यज्ञ ही सब से बडी प्रथम पूजा है जो व्यक्ति में दिव्य गुणों और शक्तियों के जन्म का रूप लेती है और जिनके द्वारा उसका आचरण श्रेष्ठतम होता रहता है। कर्मकाण्ड का यज्ञ भी इसी यज्ञ का एक बाह्य प्रतीक है और इसी प्रकार के प्रतीकों के रूप में वे सभी पूजा-पद्धतियाँ मानी जा सकती हैं जो हमारे भीतर श्रद्धा जन्य अनेक दिव्य प्रजाओं को उत्पन्न करके हमारे आचरण को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ करने में सहायक हो सकती हैं । इस तरह प्रत्येक यज्ञ अथवा पूजापद्धति के दो पक्ष हो जाते हैं । एक कर्म यज्ञ रूप में बहिरंग पक्ष है और दूसरा ध्यान अथवा योगयज्ञ रूप में अन्तरंग पक्ष । इसी को लक्ष्य करके प्रसिद्ध पुरुष सूक्त के उपसंहार में 'यज्ञ द्वारा यज्ञ के यजन' की बात कही गई है ।

इस दृष्टि से, यदि हम अपनी विभन्न परम्परागत पूजापद्धतियों का विश्लेषण करेंगे तो उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वेदविद्या की न्यूनाधिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी । उदाहरण के लिए, यहां एक पूजा-पद्धति पर चर्चा करेंगे जो, प्रसिद्ध साहित्यकार श्री राधेश्याम धूत के अनुसार, जयपुर के वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित है । तदनुसार, प्राय: सभी मांगलिक, अनुष्ठानों के अन्त में जब पत्र-पुष्प अर्पित किये जाते हैं तो सर्वप्रथम तो पुरुषसूक्त का पूर्वोक्त मंत्र बोला जाता है जो अपने पूर्णरूप में इस प्रकार है -

यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवा: तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमान: सचन्त यत्र पूर्वे साध्या: सन्ति देवा: ।

पहले इसको समझ लें । वेदमंत्रों को समझने के लिए उनका शब्दानुवाद पर्याप्त नहीं होता । अत: यहां शब्दानुवाद के पश्चात् व्याख्या भी दी जा रही है ।

अनुवाद :

देवा:	—	देवों ने
यज्ञेन	—	(कर्मरूपी) यज्ञ द्वारा
यज्ञम्	—	यज्ञ (योगरूप यज्ञ) का
अयजन्त	—	यजन किया
तानि प्रथमानि धर्माणि	—	वे प्रथम धर्म (धारक)
आसन्	—	थे
ते ह	—	वे ही
महिमान:	—	महिमाएँ (शक्तियाँ)
नाकं सचन्ते	—	स्वर्ग का सेवन करती हैं
यत्र	—	जहाँ
पूर्वे देवा:	—	पूर्व देव
साध्या सन्ति	—	साध्य हो जाते हैं ।

व्याख्या : मन्त्र में कर्मरूप यज्ञ या पूजापद्धति द्वारा जिस आन्तरिक योग यज्ञ का यजन किया गया उसको करने वाली तीन धारक शक्तियाँ - ज्ञानशक्ति, भावनाशक्ति एवं क्रियाशक्ति - जो हमारे प्रत्येक कर्म या आचरण के धारक तत्त्व (धर्माणि) हैं । यही तीन शक्तियाँ कर्मरूप यज्ञ द्वारा योगरूप यज्ञ सम्पन्न होने पर उन तीन दिव्य शक्तियों (महिमाओं) का रूप ग्रहण करती हैं जो 'नाक' नाम स्वर्ग का सेवन करती हैं । जिन्हें पहले धारक शक्तियाँ (धर्माणि) कहा वे जन जन में प्रारम्भ से ही होती हैं अत: इन्हें वेद में 'पूर्वे देवा:' (अर्थात् प्रारम्भिक देव) कहा जाता है, परन्तु वही उक्त स्वर्ग में पहुँच कर 'साध्या:' हो जाते हैं । साध्या का अर्थ है - साधना - जन्य देवशक्तियाँ । इन्हीं को अन्यत्र 'पूर्वे देवा' से भिन्न 'नूतन देव' भी कहा जाता । साध्यदेवों की नूतनता की ओर संकेत मन्त्र का स्वर्गवाचक 'नाकम्' शब्द करता है । न + अकम् से जहाँ 'अकम्' खण्ड में सुखवाचक 'कम्' का निषेध करने से 'दुख' का भाव उभरता है, वहीं इस दु:खसूचक 'अकम्' का निषेध करके

'सुख' के भाव की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार सुख दुःख के द्वन्द्व को निषेध करने वाला 'नाकं' शब्द द्वन्द्वातीत आनन्द स्वरूप का बोधक हो जाता है। हमारी जो ज्ञान, भावना और क्रिया की शक्तियाँ अपने सहज रूप में सुख दुःख के द्वन्द्व में फँसी रहती हैं वही साधना जन्य 'साध्य' होकर उक्त द्वन्द्वातीत अवस्था को प्राप्त करने वाली दिव्य शक्तियाँ बन जाती हैं।

उक्त मन्त्र के पश्चात् जो अन्य मंत्र बोले जाते हैं वे मौखिक परम्परा में रहने के कारण कुछ अशुद्ध रूप में प्रचलित हैं जिनका यथासम्भव शुद्ध रूप निम्नलिखित है :-

(२) ॐ राजाधिराजाय महाराजाय प्रसह्यसराधनाय नमो वयं कुर्महे स यो कामान् कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु । कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः।

(३) ॐ स्वस्ति साम्राज्यं भौज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यम् राज्यं महाराज्यम् आधिपत्यम् समन्तपर्यायी स्यात् ।

(४) सार्वभौमः सर्वायुषः अन्वाधान् परार्धान् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति तदप्येष श्लोकोऽभिगीतो मरुद्भिः ।

(५) परिवेष्टारो मरुतोऽस्य वसन्तः गृहे आविक्षितस्य कामप्रेः विश्वेदेवा सभासदिति ।

ॐ ब्रह्म — इन मन्त्रों (२-५) की सानुवाद व्याख्या करने से पूर्व यहां प्रयुक्त ॐ पद पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा । ॐ पद यद्यपि हमारे व्यावहारिक धर्मकर्म में सर्वत्र प्रथम स्थान प्राप्त किये हुए है, परन्तु वेदभाष्यकार इसे लगभग भूल बैठे हैं । कुछ एक तो यह भी कहते हैं कि चारों वेदों में यह कहीं नहीं है । हाँ, ओम् शब्द का अस्तित्व तो चार वेद-मन्त्रों में विवशतावश स्वीकारते हैं, क्योंकि वहां वह स्पष्टतः मन्त्र का भाग होकर प्रयुक्त है, यद्यपि गोपथ ब्राह्मण के अनुसार तो ब्रह्म का ज्येष्ठपुत्र अथवा एक व्याहृतिमात्र है । फिर भी प्रत्येक मन्त्र के उच्चारण करने में अथवा स्वतन्त्र रूप से लिखने में ॐ को प्रथम स्थान मिलता है । मङ्गल-कार्यों की घटस्थापना क्रिया में घट पर यही 'ॐ' लिखा जाता है । गणेश, शिव, वासुदेव आदि देवों के नमस्कारमन्त्रों में भी ॐ ही सर्वप्रथम बोला या लिखा जाता है । फिर भी पदपाठकार शाकल्य अवश्य संहितापाठ में प्रयुक्त उकार को 'ॐ इति' लिखता है, परन्तु, पदपाठकार को प्रथमभाष्यकार मानने वाले भी यह मानने को तैयार नहीं

कि संहितापाठ में प्रयुक्त उकार ऊँकार ही है । वे ब्रह्मपुराण की अध्यात्मरामायण में वर्णित इस बात को भी भूल जाते हैं कि परं ब्रह्म को 'सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रसनातनम्' कहा जाता है और ऊँ उसी का वाचक है । जबकि अन्य देव इसी परम् देव के किसी न किसी उपाधियुक्त देवत्व के बोधक हैं । फिर भी इन सबके स्वरूपों में ऊँ अवश्य रहता है, भले ही वह उपाधि से आच्छादित होने से छिपा हुआ क्यों न हो । इस प्रच्छन्नता की ओर संकेत करने के लिए संहिता-पाठ में ऊँ का उकार हो जाता है जिसे पदपाठकार 'ऊँ इति' लिखता है और व्यवहार में 'ऊँ अग्नये', ऊँ प्रजायतय' कहकर यह इंगित किया जाता है कि ये सभी देव वस्तुतः ऊँ का ही एक उपाधियुक्त रूप हैं ।

ऊँ पदवाच्य परं ब्रह्म है अथवा यों कहे ऊँ शब्दब्रह्म के परं पद का बोधक है, जबकि अन्य वैदिक देवता सामान्यतः उसी के उपाधियुक्त पदों के द्योतक रूपान्तर हैं । इसी तथ्य के सन्दर्भ सूत्र हमें निघण्टु के वे अनेक 'पदनामानि' देते हैं जिनका समावेश उस ग्रन्थ के अलग अलग ९ खण्डों में करके उस सहस्राक्षरा गौरी वाक् की ओर भी संकेत कर दिया गया जो एकपदी से द्विपदी आदि होती हुई अन्ततोगत्त्वा नवपदी होती कही जाती है । वास्तव में यह गौरी ही तो वेदान्तदर्शन की 'माया' है जो उक्त परं पद परब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म को, गीता की भाषा में वेदान्तकृत् बनाती है, परन्तु अन्यथा वह उसी अव्यक्त वेदान्तकृत् के विभिन्न पदों को नानात्व में व्यक्त करती हुई मूलप्रकृति, महत्, अहंकार, मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों के सन्दर्भ में नवपदों का निर्माण करती है । इस रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण आज कुछ विद्वान् कह रहे हैं कि निघण्टु के नौ खण्डों में संगृहीत 'पदानि' वस्तुतः वे शब्द हैं जिनका अर्थ निघण्टुकार को पता नहीं था । परन्तु उक्त गौरी वाक् की वास्तविकता का पता तब लगता है जब हम निघण्टु के ५७ वाङ्नामानि की छानबीन करते हैं । उदाहरण के लिए केवल एक 'धारा' शब्द को लेते हैं जो उक्त वाङ्नामों में पठित है और एक सौ एक उदक नाम भी । बात यह है कि परं ब्रह्म में लीन वाक् व्यक्त होने पर एक चेतना धारा के रूप में कल्पित हुई है जिसे एक रूपक के आधीन उदक - धारा भी कहा जा सकता है । और 'भवतीति भूमिः' भी है जो परमव्योम रूपी उक्त परमपद के ब्रह्म रूप अर्णव में अपने 'सत्यावृत अमृत हृदय' को स्थित करती है जिसे मनीषी (अथ. वे. १२-१-८) ही प्राप्त कर सकते हैं ।एक दूसरी दृष्टि से, इसी का 'नवस्रक्ति अष्टापदी वाक्' के रूप में भी उल्लेख (ऐ०आ० २.३.६., जै. ब्रा. ३.८९) मिलता है । इसी वाक् रूपी माया

के कारण ब्रह्म देवरूप ही नहीं अपितु असुर ब्रह्म (काठ. ३०-३; क. ४६.४) रूप भी ग्रहण करता है ।

इस भूमिका के साथ, आइये अब मन्त्र दो को शब्दानुवाद तथा व्याख्या द्वारा समझने का प्रयत्न करें । अनुवाद के निमित्त हमें हिन्दी परम्परा के अनुसार मन्त्रग शब्दों का अन्वयक्रम करना आवश्यक होगा । अत: हम मन्त्र का अनुवाद न कहकर अन्वयार्थ कहेंगे ।

मन्त्र दो का अन्वयार्थ -

राजाधिराजाय - राजाओं के अधिराज ब्रह्म हेतु,

प्रसह्यसाधनाय - प्रकृष्ट रूप से अभिभूत करने योग्य शत्रुओं को अभिभूत करने वाले साधन रूप ब्रह्म हेतु,

वैश्रवणाय — विशेष श्रवण (श्रुतिनाद) से उद्भूत ब्रह्मरूप हेतु,

ॐ — परात्पर ब्रह्म के लिए

वयं — हम

नम: कुर्महे — नम: करते हैं

स: — वह वैश्रवण

य: — जो

कामेश्वर — कामदेव का स्वामी

वैश्रवण: — विश्रवण की सन्तान (रूपान्तर) है वह

कामकामाय मह्यम् — मुझ कामदेव के इच्छुक को

कामान् — इच्छाओं की पूर्ति प्रदान करे ।

वैश्रवणाय महाराजाय — उक्त वैश्रवण महाराज

कुबेराय — कुबेर के लिए

नमः — नमः करते हैं ।

व्याख्या - इस मन्त्र में पूर्वोक्त ऊँ पदवाच्य परात्परब्रह्म को उसके वैश्रवण रूपों में 'नमः' किया है । नमः शब्द वस्तुतः मनः के वर्णविपर्यय से निष्पन्न है । मनः हमारी उस बहिर्मुखी चेतना का नाम है जो हमारी इन्द्रियों के साथ सुखभोग के लिए बहिर्मुखी दौड में अतिशय चञ्चल होने के लिए बदनाम है । इसलिए वर्णविपर्यय निष्पन्न नमः शब्द, इसके विपरीत उस चेतना का बोधक है जो अपनी बहिर्मुखी दौड को ऊर्ध्वमन या देवमन भी कहा गया है । अतः यहाँ नमः करने का अर्थ है अन्तर्यामी ऊँ ब्रह्म वैश्रवण नामक अन्तर्यामी रूप के प्रति मन को एकाग्र करना । वैश्रवण, मन्त्र में निम्नलिखित तीन रूपों में प्रस्तुत है : -

१- महाराजाधिराज प्रसह्यसाधन वैश्रवण

२ - कामेश्वर वैश्रवण

३- महाराज कुबेर वैश्रवण

महाराजाधिराज वैश्रवण - वैश्रवण का अर्थ है, जैसा कि पहले कह चुके हैं, विश्रवण की सन्तान अथवा रूपान्तर । विश्रवण ब्रह्म के उस परमपद का सूचक है जिसे सभी प्रकार के श्रवणों (नादों) से मुक्त (विगत) कहा जा सकता है । इसलिए पद का नाम है विगत श्रवण अर्थात् विश्रवण । इस स्तर पर आत्मा ब्रह्म के साथ सायुज्य-सामीप्य का अनुभव करता है जिसका संकेत वेदान्त के 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य में मिलता है । इसी विश्रवण व्यक्त रूपान्तर के स्तर पर साधक को ' अनाहतनाद' का श्रवण होता है । अतः यही पूर्वोक्त विश्रवण का रूपान्तर होने से 'वैश्रवण' नाम ग्रहण करता है । इसे परं ब्रह्म का आत्मा में प्रथम अवतरण कह सकते हैं । इसी का बोधक 'तत्त्वमसि' महावाक्य है । पहली अद्वैत अवस्था थी उसी का यह द्वैतरूप है जिसकी तुलना उस प्रातःकालीन सूर्य से कर सकते हैं जो उदय होने से पूर्व उषा की लाली भेज रहा है । यह सूर्य अपनी ज्योति जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के ग्रहों और नक्षत्रों को प्रकाश देकर उन्हें राजा अर्थात् प्रकाशक बनाता है उसी प्रकार वह जन-जन की आत्मा में अवतीर्ण होकर बुद्धि, मन, इन्द्रियों आदि को राजा (प्रकाशक) बना देता है । इस प्रकार पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड के उक्त सभी राजाओं का वह अधिराज सिद्ध होता है । वैश्रवण को महाराजाधिराज कहने का यही अभिप्राय है ।

कामेश्वर वैश्रवण - यही वैश्रवण जब कामेश्वर कहा गया, तो यह शङ्का होना

स्वाभाविक है कि जिस काम का यह वैश्रवण ब्रह्म स्वामी माना गया क्या यह वही काम है जिसे गीता आदि ग्रन्थों ने क्रोधादि के साथ मनुष्य के शत्रुओं में परिगणित किया है और जो नारद जैसे महर्षियों को भी पथभ्रष्ट करने के लिए बदनाम है । वास्तव में काम को देव मानते हुए भी साहित्य में उसके उस आसुरी रूप की चर्चा अधिक मिलती है । जिसमें वह शरीर केन्द्रित अंहकार का सहयोगी होकर सेन्द्रिय मन के साथ तादात्म्य स्थापित करके दैहिक सुख की लोलुपता जगाने वाला 'सांगकाम' बन जाता है । परन्तु उसका 'अनंग' रूप भी है, वेद में जिसे मन का बीज (मनसः रेतः) कहा गया है । साधना की दृष्टि से इस कामदेव का महत्त्व देखते हुए यहाँ सम्बन्धित वेदसूक्त का अनुवाद दिया जा रहा है : -

काम - सूक्त (अ. वे. १८.५२)

चेतना-भूमि के अग्रभाग पर,
समवस्थित जो काम था,
प्रथम बीज वह ही मन का था,
बृहत् काम का यह सहजन्मा
साधक को दे दैरी पोषण ॥१ ॥

सह - बल सहित प्रतिष्ठित तू विभु,
तुही विभावक सखा काम है,
मैत्री खूब निभाता है ।
तुही उग्र धर्षक वृत्रों का,
सह-बल ओज प्रदान करे ॥२ ॥

अमृत-पान के प्यासे जन की,
आशओं ने टेर सुनी;
प्यास बुझाने अमृतज्योति तब,
कामोद्भूत वहां पहुँची ॥३ ॥

अतिमानसिक हृदय से मेरे,
दैहिक हृदयस्तर पर आवे;
विभु भी काम विभावक के सँग,
आए मुझ पर छा जाये;
आन्तर मन दूरस्थ अतीन्द्रिय

मेरे पास यहाँ आये ॥४ ॥

हे काम यहाँ जिस दिव्येच्छा से,
यह हवि अर्पित करता हूँ,
स्वीकार करो यह हवि मेरी,
उसको पूर्ण समृद्ध करो ॥५ ॥

वेद के इस छोटे से मन्त्र में कामदेव का जो संक्षिप्त वर्णन है,उसमें उसके दो रूप स्पष्ट हैं अतिमानसिक लक्ष्य को लेकर ऊर्ध्वमति करने वाले काम का नाम 'विभु' है; इसी को हम पूर्वोक्त अनंग काम कह सकते हैं। इस अन्तर्मुखी काम से भिन्न बाहरी विभावों के सम्पर्क की अपेक्षा रखनेवाला बहिर्मुखी काम है । इसी की विभावक संज्ञा है । ब्रह्मानन्द रूप अमृत का इच्छुक साधक इस विभावक काम का विरोध नहीं, अपितु स्वागत करता है, परन्तु वह अवश्य चाहता है कि नव अतिमानसिक हृदय से काम का अवतरण दैहिक हृदय में हो तो उसी विभु काम का सहजन्मा (सयोनी) होकर विभावक काम भी सक्रिय हो विभावक काम को वह अकेला एवं स्वच्छन्द नहीं देखना चाहता, क्योंकि ऐसा होने पर वह अंहकार रूप वृत्र से हाथ मिलाकर आसुरी हो जाता है और अतिमानसिक दिव्य अमृतधारा को अवरुद्ध करने में लग जाता है। कामदेव जब अपने दोनों स्वरूपों को सहजन्मा बनाता है तभी वह साधक का हितकारक सखा बनता है जिसके फलस्वरूप सभी आशाएँ भी साधक की टेर सुनती हैं और तभी वह स्व: नामक अमृतज्योति प्रदीप्त होती है जो साधक की अमृतपिपासा को शान्त करती है । अत: जब वैश्रवण को कामेश्वर कहा जाता है, तो उसका अभिप्राय यही है कि वह विभुकाम का स्वामी है; उसको नम: करने का अर्थ है कि मन को बाहर से समेटकर उस विभु काम में लगे जो उसका बीज है, अन्यथा वह उससे विमुख रहकर विभावों में आनन्द की खोज करने वाला आसुरी काम (वृत्र) बन जायेगा । अत: सूक्त में जब वह उक्त कामेश्वर से कामनाओं की पूर्ति चाहता है, तो इसका कारण यह है कि वह विभुिकाम द्वारा नियन्त्रित करके विभावकस्तर की कामनाओं की पूर्ति चाहता है क्योंकि ऐसा करने से ही सेन्द्रिय मन का व्यापार ब्रह्मानन्दपान की महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने में सहयोगी होगा ।

महाराज कुबेर वैश्रवण - उक्त कामेश्वर वैश्रवण का अवतरण जब विभु एवं विभावक काम को सहजन्मा बनाकर मानसिक स्तर पर होता है तो उसकी 'कुबेर' संज्ञा

होती है । उसमें अतिमानसिक 'महत्' नाम मेधाज्योति का प्रकाश होता है, अत: उसे महाराज अर्थात् महत् का प्रकाश देने वाला (राजा) कहा जाता है । कुबेर मूलत: कुत्सित रूपवाला माना जाता है, क्योंकि महाराज वैश्रवण होने से पूर्व वह वस्तुत: उसी कुल का माना जाता है जिसका राक्षसराज रावण । महत् मेधा के योग से, यह देवकोटि में चला गया, जबकि उसके अभाव में रावण राक्षस माना गया जो कुबेर से सोने की लंका भी छीन लेता है ।दूसरे शब्दों में एक ही विश्रवण से देव और राक्षस दोनों उपजते हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से देखें, तो कहना पड़ेगा कि रावण हमारे उस महामोह का प्रतीक है जो अहंकार रूप वृत्र के चगुल फँसा हुआ है, जबकि कुबेर इसी का वह रूप है जो अपने कुत्सित रूप को छोड़कर महत् नामक दिव्य मेधा के रँग में रँग कर दिव्यता प्राप्त कर चुका है ।

वैष्णव सम्प्रदाय के पूर्वोक्त मन्त्रों में से अवशिष्ट मन्त्र लगभग ज्यों के त्यों ऐतरेय ब्राह्मण से लिए गये हैं । वहां प्रसंग इन्द्रि महाभिषेक का है जिसमें विभिन्न देवगण अलग अलग दिशाओं में इन्द्र का अभिषेक इस प्रकार करते हैं : -

१. प्राची दिशा में वसुओं ने 'साम्राज्य' के लिए इन्द्र का अभिषेक किया ।
२. दक्षिण दिशा में रुद्रों ने 'भौज्य' के लिए अभिषेक किया ।
३. प्रतीची दिशा में आदित्यों ने 'स्वाराज्य' के लिए किया ।
४. उदीची दिशा में 'विश्वेदेवा:' ने 'वैराज्य' के लिए किया ।
५. मध्यवर्ती ध्रुवा दिशा में साध्यों और आप्तों ने 'राज्य' के लिए किया ।
६. ऊर्ध्वा दिशा में, मरुतों और आंगिरसों ने पारमेष्ठच, महाराज्य, आधिपत्य और श्यावश्व के लिए महाभिषेक किया ।

इसी प्रसंग में प्रयुक्त पूर्व मन्त्र प्रथम तो कामना करता है कि 'ऊँ' स्वस्ति' साम्राज्य, भौज्य, वैराज्य, पारमेष्ठय, राज्य, महाराज्य और आधिपत्य पर ओर छोर तक सर्वत्र व्याप्त हों । इसके पश्चात् अगले मन्त्र में उसे ही 'सार्वभौम' सर्वायुष कहते हुए उससे प्रार्थना की गई है कि वह समुद्रपर्यन्त पृथिवी को 'परार्थ अन्नाद्य' (पारलौकिक योग) प्रदान करने वाला 'एकराट्' बने । इस मन्त्र को मरुतों द्वारा उसी एकराट् की प्रशंसा में गाया गया श्लोक बताते हुए, अगले मन्त्र में सर्वत्र चारों ओर प्रविष्ट मरुतों को 'विश्वेदेवा:' रूप में उसी सर्वव्यापक तथा कामनापूर्ति करने वाले परमेश्वर ऊँ के घर में सम्यक् रूप से आसीन होने

की प्रार्थना की गई है ।

भ्रान्तिनिवारण - वैष्णव सम्प्रदाय में प्रयुक्त उक्त मन्त्रों के समझने का कारण यह है कि ये मन्त्र जिस इन्द्रमहाभिषेक में प्रयुक्त होते थे उसी के अनुकरण पर पार्थिव राजाओं का अभिषेक होने लगा। अतः डॉ०के०पी जायसवाल जैसे विद्वानों ने उक्त साम्राज्य भौज्य आदि को विभिन्न प्रकार के राज्यतन्त्रों का वाचक मान लिया । यद्यपि यह असम्भव नहीं कि साम्राज्यादि उपर्युक्त शब्दों को विभिन्न राज्यतन्त्रों के नामकरण के लिए उपयोगी माना गया हो, जैसा वैदिक अयोध्या के अनुकरण पर एक ऐतिहासिक नगरी अथवा वैदिक सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, गंगा, यमुना चेतना धाराओं के नाम पर भारतीय नदियों के नामकरण में भी हुआ हैं । परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इन्द्रमहाभिषेक एक विद्या का नाम था जिसको प्राप्त करके अतीत में कई लोग लाभान्वित हुए । उनका नामोल्लेख भी ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है । इसके अतिरिक्त जिन छः दिशाओं में इन्द्रमहाभिषेक किया जाता है उनमें से मध्यवर्ती ध्रुवा नामक दिशा स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार आत्मा की बोधक है - आत्मैव ध्रुवा (माश १.३.२.२; १.३.३.२; ४.५.५) साथ ही दक्षिण दिशा एक 'दैवी पूर्तिः' (ऋ १०.१०७.३) जिसके द्वारा नीव को तमस् (अंधकार) से मुक्त किया जाता है (वही १) इसके अतिरिक्त, उक्त सभी छः दिशाओं का उल्लेख अथर्ववेदीय ३.२७ सूक्त में है जो आज भी सन्ध्योपासना के 'मनसा परिक्रमा' में प्रयुक्त होता है । वहां इन दिशाओं के जो देवता अधिपति बनाये गये हैं उनमें इन्द्र को दक्षिण का अधिपति कहा गया है । अभिप्रायं यह है कि वेद में जीव जब तक अन्धकार ग्रस्त रहता है तब तक उसको 'अवर इन्द्र' कहा जाता है, परन्तु जब वह ब्राह्मीचेतना ज्योति प्राप्त करके अन्धकार मुक्त हो जाता है, तभी वह उस दक्षता को प्राप्त कर लेता है जिसे 'दैवीपूर्ति दक्षिणा' कहा जाता है । ब्राह्मी चेतना से अभिषिक्त होना ही पूर्वोक्त 'भौज्य फल' के लिए इन्द्र (अवर) का अभिषिक्त होना है । यह 'भौज्य' वस्तुतः उक्त 'दैवीपूर्तिदक्षिणा' से सम्बन्धित उस "भोज" शब्द के आधार पर कल्पित हुआ है जो उक्त दक्षिण के प्रसंग में बारह बार (ऋ १०.१०७.८-११) प्रयुक्त हुआ है ।

दूसरे शब्दों में, इन्द्रमहाभिषेक की उक्त दैवीपूर्तिदक्षिणा वस्तुतः उस दिव्य सामर्थ्य का नाम है जो अवर इन्द्र (जीव), साधना द्वारा ब्राह्मी शक्ति की ओर अग्रसर करके प्राप्त करता है । इससे पूर्व वह मनुष्य की मेरुदण्ड में स्थित शक्ति को सक्रिय करके जिस

सामर्थ्य को प्राप्त करता है उसे ध्रुवा दिशा का 'राज्य' कहा गया है । इसी प्रकार, इन्द्राभिषेक की अन्य दिशाओं तथा उनमें इन्द्र का अभिषेक करने वाले देवों एवं उनके द्वारा जिस निमित्त अभिषेक किया जाता है उस सब की भी व्याख्या सम्भव है । परन्तु लेख के विस्तार भय से यहाँ नहीं किया जा रहा है । संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मी चेतना धारा की उत्तरोत्तर खेपों से जीवात्मा रूप इन्द्र का आप्लावित होना ही वस्तुत: इन्द्रमहाभिषेक है । इसी का एक अन्य सुन्दर वर्णन एक रूपक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार जीवात्मा साधना-यज्ञ का मेध्य पशु है जिसके श्रृङ्ग पर प्रजापति परमेष्ठी, उसका शिर इन्द्र, अग्नि ललाट, सोम मस्तिष्क, द्यौ उत्तर हनु, पृथिवी अधर हनु, विद्युत जिह्वा, मरुत दाँत, बृहस्पति ककुद है । अन्य देवताओं को उसके विभिन्न अङ्गों के रूप में बताया गया है (अ.वे. ९.१२) । अत: यह कहना अप्रामाणिक न होगा कि ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित इन्द्रमहाभिषेक वस्तुत: जीवात्मा (अवर इन्द्र) की उस साधनापूर्ति का द्योतक है जिसमें वह अवर इन्द्र से महान् इन्द्र अथवा महेन्द्र हो जाता है। यह साधनापूर्ति उस 'महत्' के व्यापक प्रस्फुरण से होती है जिसे ऋग्वेद १०.५५ के प्रथम दो मन्त्रों में 'दूरेते नाम गुह्यम्' तथा 'महत्ते नाम गुह्यम्' कह कर याद किया गया । यही महत् तत्त्व सांख्य में महत् बुद्धि कहा जाता है । इसी के माध्यम से जो ब्राह्मी मेधा की मानव व्यक्तित्व में साधनाजन्य वर्षा होती, वही इन्द्रमहाभिषेक के रूप में कल्पित है ।

अत: पूर्वोक्त वैष्णव सम्प्रदाय की पूजा पद्धति के अंगभूत जो मन्त्र हमें प्राप्त हुए उनमें सर्वप्रथम जिन 'पूर्वे देवा:' के 'साध्या:' होने की बात कही गई वही साध्य देव इन्द्रमहाभिषेक प्रकरण में 'सज्य' के निमित्त अभिषेक करने वाले कहे गये हैं । इसलिए यह कहना असंगत न होगा कि अन्य मन्त्रों में जो साम्राज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य आदि की बात कही गई वह भी मूलत: साधनजन्य सिद्धियों की सूचक है। अन्तिम मन्त्र में जब 'परिवेष्टार: मरुत:' को विश्वदेवा: होकर सम्यक् रूप से आसीन होने को कहा गया, तो उससे वह समाधि अवस्था संकेतित है जिसमें सभी 'मरुत: रश्मय:' कहलाने वाली चेतना शक्तियाँ हिरण्मय कोश रूपी ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग की निहित किरणों का रूप ग्रहण कर लेती हैं ।

पोथीखाना अध्यक्ष पण्डित मधुसूदन जी ओझा

पं. श्री गोपाल नारायण बहुरा,
—एम.ए.
जयपुर ।

प्राक्कर्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदय:
श्री विश्वेशदयोदयाच्च समभूत्काश्यां सुविद्योदय: ।
राज्ञा प्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्तिभाग्योदय:
सिद्धस्तन्मधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदय: ॥

मेरे अत्यन्त आदरणीय मित्र स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री उक्त पद्य को प्राय: अपनी वक्तृताओं और लेखों के आरम्भ में उद्धृत किया करते थे । इसमें वे अपने परमपूज्य गुरूवर्य वेदविद्यावारिधि स्व. पण्डित मधुसूदन जी ओझा को प्रणाम निवेदन करने के साथ साथ उनके जन्म, विद्याध्ययन और सम्पत्ति भाग्योदय के स्थानों का भी निर्देश करते थे ।

पण्डित मधुसूदनजी ओझा का शरीरोदय मिथिलादेश (प्रान्त) के मुजफ्फरपुर जिले में गाढ़ा नामक गांव में हुआ था। वह संवत् १९२३ में भाद्रपद कृष्ण अष्टमी (श्रीकृष्णजन्माष्टमी) का शुभ दिवस था । उसी तिथि को रात्रि के साढ़े दस बजे उनका इस जगत् में अवतरण हुआ । उनके पिता का नाम वैद्यनाथ जी ओझा था और उनके कुल में विद्वत्परम्परा पीढ़ियो से चली आ रही थी । अत: वैद्यनाथ जी भी एक विशिष्ट विद्वान् थे । उन्होंने अपने पुत्र की प्रारंभिक शिक्षा अपने मैथिल ब्राह्मणोचित प्रकार से ही आरंभ करायी । बाल्यकाल के आठ वर्ष मधुसूदन जी ने अपने पिता के पास गांव में ही व्यतीत किये ।

वैद्यनाथजी के ज्येष्ठ भ्राता पण्डित राजीवलोचन जी ओझा अन्यान्यशास्त्रों सहित मीमांसाशास्त्र के भी निष्णात पण्डित थे। वे इधर उधर भ्रमण करते हुए जयपुर आ निकले । उन दिनों यहां महाराजा सवाई रामसिंह (द्वितीय) के शैव सम्प्रदाय के प्रति असामान्य पक्षपात के कारण शैव-वैष्णव विवाद प्रबल रूप से चल रहा था । इसी प्रसंग में वृन्दावन के श्री रंगनाथाचार्य ने महाराजा के नाम शास्त्रों का प्रौढ़ प्रमाणयुक्त एक पत्र लिखा था जिसका सम्यक् उत्तर स्थानीय विद्वानों से नहीं बन पड़ रहा था । अनेक मैथिल

ब्राह्मण पहले से ही जयपुर में आ बसे थे और उनकी राजदरबार में पहुंच भी थी। उन परिवारों में उन दिनों उक्त पत्र की चर्चा ही मुख्यतया चल रही थी। पण्डित राजीवलोचन ने भी उसको सुनकर अपने कुछ विचार प्रकट किये। उन मैथिल विद्वानों ने पण्डितजी के विषय में महाराजा से निवेदन किया और महाराजा ने ससम्मान उनको बुला कर वह पत्र दिखलाया। पण्डितजी ने उसका आशय समझकर युक्तिसंगत, शास्त्रसम्मत और मीमांसानुप्राणित उत्तर लिखकर प्रस्तुत कर दिया।

महाराजा इससे सन्तुष्ट हुए और ओझाजी के प्रौढ़ पाण्डित्य से प्रभावित होकर उनसे जयपुर ही में बस जाने का आग्रह किया तथा आजीविका के रूप में दो ग्राम भी अर्पित किये। उन्हीं दिनों वैष्णव पण्डितों ने शैवों के विरुद्ध रामाश्रम विरचित "दुर्जनमुखचपेटिका" नामक पुस्तिका निकाली। इसका खण्डन करते हुए पण्डित राजीव लोचनजी ओझा ने कथाभट्ट छोटे लालजी नामावल दाधीच के सहयोग से "सज्जनमनोऽनुरंजनम्" पुस्तिका तैयार कर दी। महाराजा को इससे परम सन्तोष प्राप्त हुआ और उन्होंने ओझाजी को धार्मिक विषयों में व्यवस्था देने वाली स्वसंस्थापित मोदमन्दिर सभा का अध्यक्ष नियुक्त करके शैवमताधारित "धर्मचन्द्रोदय" नामक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण करते हेतु निदेश किया। उपयुक्त दोनों मुद्रित पुस्तिकाओं और "धर्मचन्द्रोदय" की हस्तप्रति पोथीखाना संग्रह में विद्यमान है। इसी विवाद के प्रसंग में और भी उभयपक्ष के विद्वानों द्वारा खण्डन मण्डनात्मक लघुबृहद् रचनाएं हुई - यथा — पाखण्डखण्डनम्, पाखण्ड पंचविंशतिका, विजयरामाचार्यकृत पाखण्डचपेटिका, पूर्णेन्द्र सरस्वतीविरचित पाखण्डाधिक्कार (शैव), पाखण्डिशोधनम् (शैव), रामानुजमत एव खण्डनम् (शैव) और शैवसुधाकर आदि हैं।[१]

धर्मचन्द्रोदय एक बड़ा ग्रन्थ है जो सोलह कलाओं में विभक्त है। इसमें श्रुतिस्मृत्यादि प्रामाण्यनिरूपणसंयुक्तिक प्रायः सभी धर्मशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया गया है। इसके निर्माणार्थ राजीवलोचन जी के सहयोग के लिए महाराज संस्कृत पाठशाला के दो वरिष्ठ पण्डित श्रीकृष्णशास्त्री एवं श्री लक्ष्मीनाथ शास्त्री द्रविड को भी लगाया गया था। ये दोनो पण्डित पोथीखाना में लेखकों द्वारा प्रतिलिपीकृत ग्रन्थों का पाठशोधन भी किया करते थे। पण्डित सीताराम पर्वणीकर रचित जयवंशमहाकाव्य का हिन्दी अनुवाद भी इन दोनों ने किया था जिसकी प्रति पोथीखाना संग्रह में सुरक्षित है। अस्तु, इन सब विद्वानों ने महाराजा की आज्ञा से धर्मचन्द्रोदय ग्रन्थ की रचना की जिसका उल्लेख ग्रन्थ का उद्देश्य प्रकट करते हुए इस प्रकार किया है :-

येनेयं रचिता पुरा जयपुरी कीर्तिः पताकीकृता

तत्पुत्रः कुलदीपको नृपवरः श्रीरामसिंहोऽधुना ।
जागर्ति प्रभया स्वया जयपुराधीशो विधीशावधि
युक्तायुक्तविवेचनाय विदुषां संसत्समाधापनात् ॥ २.(ध.च.)
पाखण्डेन विनाजगद्व्यवहृतिर्जाता यतो जीवतु
तस्येवं विमलामतिः शिवपदध्यानावधानादभूत् ।
धर्माधर्मविवेचनैकफलको ग्रन्थो भवद्भिर्बुधै-
रुद्भाव्यानुविधीयतां विदुरलं स्वल्पप्रयासाज्जनाः ॥ ३. (,,)
धर्म्मं स्वीयमिति प्रमाणवलितं बुद्ध्यैकवारांनिधे-
रस्माभिश्च तदीप्सिते हितकथाऽभिप्रायविद्भिस्तदा ।
प्रादायादरतः शिरस्यतितरामादेशमुद् भावितुं
ग्रन्थो धर्मविकासनैकफलकः सद्धर्म्मचन्द्रोदयः ॥ ४. (,,)

महाराज संस्कृत पाठशाला के ही तत्कालीन आयुर्वेदप्रधानाध्यापक राजवैद्य श्रीकृष्णराम भट्ट ने इस ग्रन्थ की कृतित्वविषयक सम्पुष्टि इस प्रकार की है :-

"राजीवलोचनबुधेन समस्तशास्त्रा-
ण्यालोच्य सामवचसारचिधर्मचन्द्रः ।
याभ्यामपूरि सततोन्विह कृष्णलक्ष्मी-
नाथौ बुधो कथय कस्य न सम्मतौ तौ ॥"[१]

पण्डित राजीवलोचन जी ओझा को जयपुर में ससम्मान सम्पत्ति और जागीर आदि की प्राप्ति हुई परन्तु उनकी महती चिन्ता का विषय यह था कि उनके कोई पुत्र नहीं था.। अतः वे अपने अनुज पण्डित वैद्यनाथ ओझाजी के होनहार सुपुत्र मधुसूदन जी को गोदर लेकर और आठ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत संस्कार करके जयपुर ले आये । यहां उन्होंने अपने उत्तराधिकारी बालक की अपनी देखरेख में सुयोग्य पण्डितों के पास शिक्षा दीक्षा की समुचित व्यवस्था की । यहां मधुसूदनजी को मैथिल विद्वान् विश्वनाथ झा से लघुकौमुदी तथा तत्कालीन संस्कृत पाठशालाध्यक्ष रामभजजी सारस्वत से सिद्धान्तकौमुदी का सम्यक् अध्ययन करने का सुअवसर मिला। उनकी असाधारण ग्राहिकाशक्ति और उपस्थिति से दोनों कहीं महान् विद्वान चमत्कृत थे। पण्डित राजीवलोचन जी जब महाराजा से मिलने जाते तो अपने दत्तकपुत्र बालक मधुसूदन जी को भी अपने साथ ले जाते । इस बालक के मुखमण्डल पर सूझ और समझ की प्रभा देखकर महाराजा कहा करते, यह बालक बड़ा होनहार लगता है ।

यह क्रम चल ही रहा था कि संवत् १९३७ में महाराजा रामसिंहजी और १९३९ में पण्डित राजीवलोचन जी का स्वर्गवास हो गया। अब एक विकट स्थिति उत्पन्न हो गई। बदली हुई पर परिस्थितियों में राज्याधिकारियों ने उनकी जागीर के कुछ अंश का प्रतिग्रहण कर लिया, अत: किशोर मधुसूदनजी अपनी पितृव्य पत्नी के साथ स्वदेश (मिथिला) लौट गये। उस समय उनकी अवस्था १५-१६ वर्ष की ही थी, परन्तु अध्ययन के प्रति रुचि अत्यन्त प्रबल हो उठी थी। उन्होंने उच्च अध्ययन के लिए काशी जाने की इच्छा प्रकट की और किसी तरह परिवार वालों को सहमत करके वे वहां चले ही गये। काशी में दरभङ्गा संस्कृत पाठशाला में प्रविष्ट हुए जहां उनको सर्वशास्त्रपारंगत जगत् प्रसिद्ध विद्वत्शिरोमणि पण्डित शिवकुमार जी शास्त्री का शिष्यत्व प्राप्त करने का सौभाग्य सुलभ हुआ। शास्त्री जी के चरणों में बैठ कर आठ नौ वर्ष तक उन्होंने पूरी लगन और परिश्रम के साथ व्याकरण, न्याय, मीमांसा, साहित्य और वेदान्त आदि सभी विषयों का गहन अध्ययन करके उन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। स्वयं शास्त्रीजी भी उनकी प्रतिभा और विषयनिरूपण शैली से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने ही मधुसूदनजी को वेद का यथार्थ प्रतिभान प्राप्त होने का आर्शीवाद दिया था। इस आशीर्वाद और ओझाजी की प्रतिज्ञा को उनके शिष्य और मेरे गुरु पण्डित सूर्यनारायण जी शर्मा व्याकरणाचार्य ने यो पदबद्ध किया है -

"श्लाघ्येन तेनास्य समुद्यमेन धर्मप्रियोरऽमुष्य गुरुः शिवः सः।
संतुष्य सस्नेहमुवाच वत्सकार्या त्वया प्राक्तनधर्मरक्षा॥
वेदार्थबोधे तव बुद्धिरेषा प्रसारमाप्तात्यनिवृत्तवेगा।
गङ्गेव घोरोर्मिकरालमध्ये क्षीराम्बुधौ तद्हृदयं स्पृशन्ति॥
एवं निगद्य स वाग्मिवयो वेदार्थसंपाठनमत्यचक्रे।
वक्रेऽपि काले मधुसूदनोऽयं गुरोः समक्षं विदधौ प्रतिज्ञाम्॥
यावन्मे मतिरस्ति यावदथवा कर्तुं क्षमोऽहं श्रमं
यावत्प्राणपरिस्थितश्च हृदये यावच्च चक्षुर्बलम्।
तावद्वैदिकधर्मतत्तवमखिलं विज्ञाय भक्त्या गुरोः
सत्पात्रप्रतिपादनाय सुमहान् कार्यः प्रयत्नो मया॥"

पण्डित राजीवलोचन जी ओझा के एक मेरठ निवासी मित्र ज्योतिषी थे। उन्होंने मधुसूदन जी की जन्मकुण्डली[१] देखकर रुद्रसंहिता के अनुसार जो फलादेश लिखा उसमें यह भी अंकित किया कि "कामेश्वर भगवान् शिव इस जातक को भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करेंगे।" कामेश्वर शिवस्तस्य भुक्ति मुक्तिप्रदायकः।" पण्डितजी के मन में तब से ही भगवान् कामेश्वर शिव के प्रति आन्तरिक श्रद्धा उत्पन्न हुई और विद्याध्ययन हेतु काशी

में निवास करते हुए वहाँ कामेश्वर का मंदिर ढूंढ कर नित्य आराधना करना आरम्भ कर दिया। सम्भवत: जयपुर के सूरतखाना के संग्रह में कतिपय बहुत सुन्दर कामेश्वर कामेश्वरी के जो चित्र प्राप्त हैं वे उन्हीं के बनवाये हुए है। पण्डितजी चित्रो के पारखी तो थे ही, स्वयं भी रेखांकन और चित्रांकन में अभ्यस्त थे। वैदिक विषयों को स्पष्ट करने हेतु उन्होंने अनेक चित्र निर्मित किये थे। सुन्दर कलात्मक चित्रों के पृष्ठ पर वे अपने आकर्षक अक्षरों में "अच्छा" लिख देते थे। उनका लिखा हुआ यह "अच्छा" भी बहुत अच्छा लगता है। वे अंग्रेजी अक्षरों में मोनोग्राम (गुम्फाक्षर) भी बहुत सुन्दर बना लेते थे। उनका बनाया हुआ एक M.So. (Madhu Sudan Ojha) अक्षरो का मोनोग्राम उन्हीं के अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित (१९३६ई.) वेदांक (संस्कृत रत्नाकर के विशेषांक) में उद्धृत हुआ है जिसमें निम्नांकित विषय को संक्षेप में विवृत किया गया है—

हंसान् मण्डलाद्वायुरग्नि: सूर्योदेवा वैदिका अत्र लक्ष्या: ।
एषां विद्या वेद इत्यप्यवेयात् तद्विज्ञाने यत्नवानस्मि यो स्मि ॥
सुपर्णद्वयें तौ लक्ष्यं वृत्तमादिस्यमण्डलम् ।
जीवेश्वरौ सुपर्णौ द्वावादित्ये प्रतिष्ठत: ॥ २.
"यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
ये अवंचिस्तां अपरा च आहुर्ये परा चस्ता उ अर्वा च आहु: ।"

जयपुर से देश जाने के थोड़े दिन बाद ही पण्डित जी का विवाह १७ वर्ष की अवस्था में ही चंचलनाथजी ओझा की सुपुत्री के साथ हो गया था। पण्डित जी के विवाह से सम्बद्ध एक रोचक प्रसंग कहा जाता है। एक दिन चंचलनाथ जी अपने भावी जामाता को अपनी ही बग्घी में बैठाकर अपने घर ले गये। मार्ग में चंचलनाथ जी ने विनोदवश पण्डितजी से कहा, "गणयति कष्टमहो न साभिलाष:" इस समस्या की पूर्ति कीजिए। फिर और बातें होने लगी। जब बग्धी घर पर पहुंची और चंचलनाथजी उतरने लगे तो पण्डितजी ने कहा, "मान्यवर" पहले समस्यापूर्ति को सुन लीजिए। और उन्होंने सद्य: रचित यह पद्य सुनाया -

रथ-गजवाजिविहारिकोमलाड्ग:
शिशुरपि राजकुमाररामचन्द्र: ।
समुनि पदातिवदेति हा विदेहान्
गण्यति कष्टमहो न साभिलाष: ॥

इस अवसरोचित समस्यापूर्ति को सुनकर पण्डित चंचलनाथजी बहुत प्रसन्न और परम सन्तुष्ट हुए। चंचलनाथ जी अलवर में राजगुरु थे। विवाह के अनन्तर श्वसुर और

जामाता में सरस पत्र व्यवहार होता रहा था। इसी प्रसंग के श्वसुर - संस्तुति में पण्डितजी प्रणीत तीन सुन्दर पद्य ये हैं :-

"गाम्भीर्यं न महीभृतापि विदित रत्नाकरस्तंस्फुटं
मर्यादा प्रलयेपि न प्रतिहता यस्याश्रिता बाडवा: ।
जामाता मधुसूदन: स्तुतिपरो बन्धो न यस्य क्विचत्
सो यं कोपि समुद्रतो धिकगुण: कै: कैर्गुणैर्गीयताम् ॥"

"श्रीदस्य चन्द्रचतुराननयोश्च लक्ष्मी-
नाथस्य केवलमसौ न जहार नालम् ।
लोकोत्तरा: परमसंपद एव किन्तु
नामाक्षराणि विबुध: प्रथमानि तेषाम् ॥"

"एकस्यां चिति यत्र च त्रिगुणतस्त्रेधा प्रपंचत्रयं
बद्धं नामजडात्मसामथ तदध्यारोपनानाविधाम् ।
बाधेन त्रिविधेन संगरहितामक्षोभिगीं निर्णयन्
हित्वा वासनिकात्रयं विरहितस्तापत्रयादत्र य: ।"[१]

काशी में अध्ययन समाप्त करके पण्डितजी बूंदी, कोटा, झालावाड़, नीमच, रतलाम आदि स्थानों की यात्रा करते हुए जयपुर आए। बीच बीच में भी वे अपनी जागीर से सम्बन्धित विषय में यहां आते रहते थे। काशी में अध्ययन करते समय और यात्रा प्रसंगों में ही पण्डितजी के वैदुष्य की ख्याति प्रसारित हो गई थी। विशेषत: बूंदी के प्रधांनामात्य पण्डित गंगासहायजी ने उनकी विशेष योग्यता से प्रभावित हो कर उनका राज सम्मान किया जब से तो उनका नाम सर्वत्र बड़े आदर से लिया जाने लगा। रतलाम में प्रवास के समय पण्डितजी ने जगद्गुरू शंकराचार्य द्वारकापीठाधीश्वर श्रीमाधवतीर्थजी की "पर्यटन मीमांसा" नामक ग्रन्थ लिखने में बहुत सहायता की थी। इस कारण भी पण्डित समाज में उनका मान बहुत बढ़ गया था।

संवत् १९४६ में बंगाली बाबू हरिदास जी शास्त्री जयपुर में शिक्षा विभाग में अध्यक्ष थे। वे पण्डित मधुसूदनजी के विषय में बहुत कुछ सुन चुके थे। उन समय जब पण्डितजी जयपुर आए तो हरिदास जी ने स्व. राजीवलोचनजी के उत्तराधिकारी और सम्मानित विद्वान् जान कर महाराजा कॉलेज में संस्कृत के प्रधानाध्यापक का पद ग्रहण करने का उनसे अनुरोध किया। तदनुसार वे यहां अध्यापन करने लगे। उन्हीं दिनों "हरिदासजी के पास सिंहली लिपि में लिखित कुमारदास कृत "जानकीहरण" की एक प्रति थी। उसका सम्पादन कार्य उन्होंने पण्डितजी को सौंपा। उन्होंने बड़े परिश्रम से इस कार्य

को पूरा किया, कुछ अस्वस्थ भी हो गये । पण्डित मधुसूदनजी का यही सम्पादन कार्य सन् १८९३ ई. में प्रकाश में आया जिसको बाबू हरिदासजी के निधन के उपरान्त श्री कालीपद बनर्जी ने कलकत्ता में छपवाया था ।"

जयपुर के स्वर्गीय महाराज सवाई मानसिंह (द्वितीय) ने धार्मिक विषयों पर व्यवस्था देने हेतु "मोदमन्दिर पंडित सभा" का संगठन किया था जिसमें पहले पहल पं. छोटेलालजी नामावल की अध्यक्षत में संवत् १९२१ में पं. रामभजनजी, पं. शिवरामजी (चन्द्रधरजी गुलेरी के पिता), ओझा जीवनाथजी, ओझा भायीनाथजी, पं. लक्ष्मीनाथजी द्रविड, पं. कृष्ण शास्त्री जी द्रविड़, प्र. प्रेमसुखजी और भट्ट नन्द कुमार जी सदस्य नियुक्त हुए थे । आरम्भ में पंडित राजीवलोचन जी भी पं. छोटेलाल जी के साथ इसी सभा में कार्यरत थे । बाद में महाराजा सवाई माधवसिंह (द्वितीय) के समय में जब इस सभा का पुनर्गठन हुआ तो श्रीकृष्ण शास्त्री जी द्रविड़ ने, जो राजवलोचन जी के साथ "धर्मचन्द्रोदय" का काम कर चुके थे, पण्डित मधुसूदन जी के नाम का प्रस्ताव किया था । (पोथीखाना अभिलेख पत्रावली सं. १५,१९१० ई.) । तब से वे इस सभा के सदस्य बने, आगे चलकर अध्यक्ष नियुक्त हुए और आजीवन उस पद पर रहे ।

धर्मसभा में कार्य करने के साथ ही पंडितजी महाराजा कालेज में बी.ए. और एम.ए. श्रेणी के विद्याथियों को संस्कृत पढ़ाते रहे । तदनन्तर उनकी नियुक्ति संस्कृत पाठशाला में वेदान्त के प्रधानाध्यापक पद पर हुई और वे वहां कार्य करते रहे । उनहीं दिनों बाबू हरिदास शास्त्री के प्रयत्नों और राजकीय मंत्रिसभा (मेम्बर्स ऑफ दि कौंसिल ऑफ स्टेट) के सदस्यों को कहने सुनने पर पण्डित राजीवलोचन जी की मृत्यु पर जो ग्रामादिक पुनरधिगृहीत (खालसा) हो गये थे वे भी पुनस्वीकृत (बहाल) हो गये । जयपुर के तत्कालीन महाराजा सवाई माधवसिंह जी (द्वितीय) ने पुनः वृन्दावन धाम में एक विशाल मंदिर का निर्माण कराया । इस मन्दिर के प्रतिष्ठा मुहूर्त को लेकर जयपुर के ज्योतिर्विदों में विवाद हो गया । राज्य के प्रधान ज्योतिषी पण्डित केवलराम जी श्रीमाली ने शोध कर जो मुहूर्त निकाला वह महाराज संस्कृत पाठशाला के प्रधान ज्योतिषाध्यापक भैयाजी मैथिल को स्वीकार्य नहीं हुआ । उन्होंने इसको दूषित बताया । विवाद मोदमन्दिर सभा में विचार और निर्णय के लिए प्रस्तुत हुआ । वहाँ भी पण्डितों में दो दल हो गये । एक केवलरामजी द्वारा शोधित मुहूर्त के समर्थन में, दूसरा विरोध में । पण्डित मधुसूदनजी ओझा ने गंभीर अध्ययन करके प्राचीन प्राचीनतम ग्रंथो से प्रमाण देते हुए केवलरामजी के निकाले हुए मुहूर्त में ४४ दोष बताये । इनका खण्डन बड़े बड़े पुराने पण्डित भी नहीं कर सके । इससे पण्डित के अपराजित पाण्डितय की धाक जम गई । इस विवाद के विषय में विवरण सुनकर महाराजा के मन में पण्डितजी के प्रति श्रद्धा और सम्मान के भाव उत्पन्न हुए ।

उन्हीं दिनों एक और भी ऐसा प्रसंग आया जिससे महाराजा के उपयुक्त भाव में वृद्धि हुई। तत्कालीन प्रधान अमात्य बाबू कान्तिचन्द्र मुखर्जी ने अपने नवनिर्मित विशाल भवन पर एक स्वाध्याय यज्ञ का आयोजन किया। उसमें पण्डित ओझाजी ने वाल्मीकिरामायण का प्रवचन करते हुए ऐसे नये नये अर्थों का उद्घाटन किया कि उनको सुन कर बड़े बड़े मार्मिक विद्वान्, बहुश्रुत राजकर्मचारी, गुणग्राही सभ्यगण बहुत ही प्रसन्न और चमत्कृत हुए। महाराजा भी वहाँ कथा श्रवण करने जाते थे। पण्डितजी की प्रखर प्रतिभा से वे प्रभावित हुए बिना न रहे और उन्होंने उनको पाठशाला की प्राध्यापकी से निर्मुक्त कर अपने बुला कर निजी वर्ग (पर्सनल स्टाफ) में सम्मिलित कर लिया।पण्डितजी नित्य ही उनके पास शास्त्रचर्चा करते जिससे महाराजा का शास्त्र ज्ञान बहुत बढ़ गया। स्वयं प्रज्ञ तो वे थे ही। अब वे वार्तालाप में बड़े बड़े प्रज्ञाशीलों को भी चकित करने लगे।

स्पष्ट है कि अध्यापन छोड़ने के बाद पण्डितजी को आर्थिक हानि हुई, यद्यपि उनके ग्रामादि बहाल हो चुके थे। अब महाराजा द्वारा उनको अपने पास बुला लेने के कारण जो क्षति हुई उसकी पूर्ति के लिए विचार होने लगा। महाराजा सवाई रामसिंह जी के समय में उनके निकटस्थ पं. बलदेवजी व्यास पोथीखाना की सम्हाल पर नियुक्त थे। उनकी मृत्यु हो जाने पर रावल विजय सिंह जी ने गिरधर चेला द्वारा महाराजा की यह आज्ञा पहुँचाई कि पोथीखाना का काम पुरन्दर रामजी तिवारी को सम्हला दिया जावे। (पत्रावली सं. २३०) तदनुसार उन्होंने जेठ सुदि ३ सवंत् १९३७ के दिन पोथीखाना का कार्य भार ग्रहण कर लिया। पुरन्दररामजी महाराजा (रामसिंह जी) की रावा वाली रानी बाघेली जी के साथ जयपुर आए थे। रीवां के महाराजा विश्वनाथसिंह देव ओर रघुराजसिंह देव दोनों ही पितापुत्र कवि और सत्कवि थे। जयपुर में भी उनको बड़ी जागीर देकर ससम्मान रखा गया था। उनके अधीन पोथीखाना का दैनन्दिन काम निपटाने को पंडित रामकिशोर जी पल्लीवाल को दारोगा (कार्यकारी) नियुक्त किया गया। पुरन्दररामजी का संवत् १९४४ के मार्गशीर्ष मास में देहान्त हो जाने पर भी रामकिशोरजी ७-३-१८९५ तक कार्य करते रहे। उनको वेतन बेड़ा खवास चेलान से मिलता था। उनके हटने पर पोथीखाना के अधिकारी का पद रिक्त हो गया। तब महाराजा (स. माधवसिंह जी) के संकेत पर पण्डित मधुसूदन जी ओझा ने आवेदन पंत्र प्रस्तुत किया जिस पर उनकी नियुक्ति का आदेश कारखाने जात से इस प्रकार प्रसारित हुआ -

"कैफियत नं. २२०४ तारीख २२.४.१८९६, ओहदेदारान पोथीखाना अब कैफियत महकमा आलिया कौनसल गवरखा ९.४.१८९६ लंबर ७३०९ ब हवाले अरजी ओझा मदसूदन बंदी खुलासा के शुभचिंतक मुआफिक हुकुम में मौजमन्दिर के काम करता है और

कभी पुस्तक देखने की जरूरत पड़ती है तो उसमें बड़ी दिक्कत पड़ती है। अगर पोथीखाने के लिए हुकम हो जावे तो उसकी भी संभाल और पूरी हिफाजत करता रहूँ, जिहाजा बाद मालूम श्री जी मसूदरा ता. ९ अप्रेल १८९६ ब ईमाय के पोथीखाना सिपुरद किया जावे तनख्वाह वगैरह के बाबत पीछे हुकम दिया जावेगा, बारूद होने पर तुमकूं इत्तलाअन तहरीर हुआ। (बस्ता नं. १४/१ पत्रावली सं. १६०)

द्रष्टव्य है कि पण्डितजी ने अपने आवेदन में अर्थकल्यवर्त की अपेक्षा कार्य सुविधा को ही प्राथमिकता दी है। उनके वेतन तथा अन्य उपलब्धियों को ब्यौरा इस प्रकार प्राप्त है

बस्ता सं. १८/३; पत्रावली सं. ९६ के आधार पर सन् १९२९ ई. तक

संवत् १९५२ में मंजूरी दि. ३-८-१८९६ के अनुसार ३०/- माहवार

संवत् १९५३ में मंजूरी दि. ३-२-१८९७ के अनुसार ६०/- माहवार

संवत् १९५४ में मंजूरी दि. २९-४-१८९८ के अनुसार सवाई के १२/- माहवार

संवत् १९७८ में मंजूरी दि. २५-८-१९२१ के अनुसार सवारी के १८/- माहवार

संवत् १९८६ में मंजूरी दि. १६९-१९२९ के अनुसार तनख्वाह १००/- माहवार

उपर्युक्त विवरण से बिदित होगा कि सन् १८९७ से १९२९ तक पंडितजी के वेतन में कोई वृद्धि नहीं हुई, न उन्होंने इसके लिए कभी मुंह खोला। अन्त में १९२९ में जब पहले की अपेक्षा महंगाई बहुत बढ़ गई जब उन्होंने लिखा"गिरानी बहुत हो गई है और हर चीज़ की कीमत ज्यादा हो चुकी है" तब उनका वेतन ६०/- से बढ़कर केवल १००/- कर दिया गया जबकि अन्य कारखानो के दरोगाओं को १२०/- मासिक मिलते थे और उनके ओहदे (पद) मुन्तज़िम (प्रबन्धक) के कर दिये गये थे। पद तो पण्डितजी का भी पहले ही "मुन्तज़िम" हो गया था। (बस्ता ४४/१, पत्रावली - १२७)

वेतन पत्रों में पण्डितजी की अन्य उपलब्धियाँ इस प्रकार उल्लिखित हैं — "मौजा लक्ष्मीपुरा परगना लालसोट में दर २/रोजीना तींका सालाना ७२० रूपए और मौजा सांचोली में दर ४ रूपये रोजीना तहसील मलारना निजामत सवाई माधोपुर में तींका सालाना १५०० रूपये मुकरडा २२२० रूपये बसीगे उदक व कारखाना पुण्य से वरणी बादम महल की सम्हाल का ८४ रूपये मु. २३०४ रूपये सालाना" १५०० रूपये वार्षिक की जागीर उदक में थी (माफी जिसके लिए कोई सेवा नहीं ली जाती थी।) महाराजा माधवसिंह जी (द्वितीय) के समय में कारखाना पुण्य के तत्वावधान में अनेक भट्ट और मिश्र

वरणी (स्तोत्रादि के नित्य पाठ) बादल महल में बैठकर करते थे। इसमें से अनेक वंश परम्परागत रूप से भी नियुक्त थे। इन सभी की परीक्षा पण्डितजी लेते थे और पाठ के समय नित्य सम्हाल भी करते थे जिसके लिए उनको ७/- मासिक के हिसाब से ८४/- सालाना मिलते थे।

पोथीखाना में कार्यारम्भ के पश्चात् पण्डितजी का महाराजा के साथ नित्यसम्पर्क और भी बढ़ गया। वे उनके पास बैकर प्राय: नित्य ही पुराण, धर्मशास्त्र और इतिहास विषयो की चर्चा करते थे। सुविधा के लिए यथावसर पोथीखाना के कुछ हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थ भी महाराजा के निवास-कक्ष (चन्द्रमहल) के निकट ही नवनिर्मित जमनोत्तरी महल में ले जाकर रख लिये गये थे, जहाँ एक लद्यु पुस्तकालय ही बन गया था। महाराजा में इस नित्यं सम्पर्क के कारण ऐसी रुचि उत्पन्न हुई कि पण्डितजी से कुछ समय बातें करना उनकी दैनिक चर्या का एक अंग बन गया। कभी किसी कारण पण्डितजी न पहुंच पाते अथवा बिलम्ब हो जाता तो "ढलैत" (सन्देशवाहक) भेजकर उनका पता लगाया जाता। पास के और दूर के प्रवासों में भी पण्डितजी उनके साथ रहते थे। दुर्गापुरा (जयपुर से दक्षिण में तीन कोस पर, जहाँ महाराजा प्राय: छुट्टी मनाने जाते थे), हरिद्वार (प्रतिवर्ष यात्रा) अथवा लन्दन तक के "सफरों" (यात्राओं) में पण्डितजी अनिवार्य रूप से उनके साथ रहते थे। आखेट-अभियानों में भी उनकी उपस्थिति अंकित मिलती है। अच्छे अश्वारोही (घुड़सवार) तो वे थे ही।

अन्यान्य शास्त्रो के अतिरिक्त पण्डित मधुसूदनजी नीतिशास्त्र में भी निपुण थे। महाराजा नीति विषयक प्रसंगों पर भी उनसे परामर्श लेते थे और उनकी बात को बहुत महत्व देते थे। इससे राज्य के बड़े सरदारों, सामान्तों और अधिकारी वर्ग में उनकस मान बहुत बढ़ गया था। सभी उनको सम्मानपूर्वक पूज्यभाव से नमन करते थे। वे महाराजा के निजी मण्डल के नवरत्नों में गिने जाते थे। सवाई माधवसिंहजी (द्वितीय) के "नवरत्न" और "चौदहरत्न" शीर्षक चित्रों में पण्डितजी प्रमुख रुप से चित्रित हैं। राजसभा (दरबार) में उनको "बैठक" (बैठने का सम्मान) मिली हुई थी।

पोथीखाना में पण्डितजी के समय में यह कार्य हुआ कि पहले पुस्तकों के "बीजक" (सूचियाँ) छोटी छोटी परचियों पर लिखकर बस्तों पर ही बांध दिये जाते थे। पण्डितजी ने उन बस्तों को सीगेबार (विषयवार) छांट कर सूचियाँ सुलेखकों से लिखवा कर उनकी जिल्दें बंधवा ली जिससे वे सुरक्षित हो गई। कुछ विशिष्ट पोथियाँ और चित्र प्रदर्शन मंजुषाओं (श्यो केसों) में सजा दिये गये जो राज के विशिष्ट मेहमानों को दिखाये जाते थे। इन मेहमानों के लिए महक्मा खास से ड्योढ़ी पर हुकुम आता था जो किसी ढलैत या

चोबदार द्वारा मौखिक रूप से पोथीखाना में पहुंचा दिया जाता था। इन हुक्मों को रजिस्टरों में अंकित कर लिया जाता, कोई लेखक, पण्डित या अहलकार उन मेहमानों को घुमाकर प्रदर्शित वस्तुएँ दिखा देता। हाकिम (पंण्डितजी) के पास रिपोर्ट कर दी जाती जिस पर "दाखिल दफ्तर का हुक्म हो जाता।" बस, यही दैनिक कार्यक्रम रहता था। "खास मुहर" में से निकले हुए विशिष्ट अथवा जीर्ण ग्रन्थों की सुलेखक धीरे धीरे प्रतिलिपियाँ करते रहते, प्रतियाँ तैयार होने पर पोथीखाने में तैनात (नियोजित) पंडित उनका शोधन करते। कभी कभी संस्कृत पाठशाला से भी पण्डित बुला लिए जाते थे। महाराजा या पण्डितजी की फरमाइश के अनुसार चित्र बनते रहते थे। दैनिक हाज़िरी, रुखसत-छुट्टी, ड्योढ़ी की तामील और सामान की खरीद आदि के कागजों में मुशरफ-तहवीलदार की रिपोर्टों पर हस्ताक्षर करके हाकिम (पण्डितजी) अपने घर या महाराजा के पास चले जाते थे। पोथीखाना में ही अनेक वंश-पराम्परागत कवीश्वरों का बेड़ा (वर्ग) भी तैनात था। ये लोग यहां आकर हाज़िरी कराते और चले जाते। यदा कदा पण्डितजी इनको समस्यायें देकर उनकी पूर्ति कराते जो रजिस्टरों में उतार ली जाती थीं। इन कवीश्वरों की फोती-पैदाइश (जन्म मृत्यु), बहाली-बरतरफी (नियुक्ति निर्वृत्ति) और रुखसत छुट्टी के कागजों पर भी पण्डितजी के आदेश अंकित हाते थे। तात्पर्य यह है कि पोथीखाना उस समय एक कारखाना या महक्मा अधिक और शैक्षिक स्थान् कम था। पण्डिजी वरिष्ठ राजपण्डित थे। राज (कारखाना पुण्य) में और राजगृह (ज़नानी-मर्दानी ड्योढी) में कोई भी धार्मिक कार्य उनकी सहमति के बिना नहीं होता था। सन्१९०२ ई. में इंग्लैंड के सम्राट एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेकोत्सव में महाराजा सवाई माधवसिंह को आमंत्रित किया गया। अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि प्राक्तन मान्यतानुसार निषिद्ध समुद्र यात्रा की जाय या न की जाय। पण्डितमण्डली से परामर्श किया गया। प्रधान राज पण्डित मधुसूदन जी के निर्णयानुसार यह स्वीकार किया गया कि महाराजा अपने इष्टदेव श्री गोपालजी की प्रतिमा को आगे करके यात्रा कर सकते हैं। तदनुसार टामस कुक कम्पनी द्वारा नवनिर्मित एस.एस. ओलिम्पिया नामक जलजहाज को किराये लिया गया और उसकी के एक कक्ष में श्रीगोपालजी को विराजमान करके जयपुर नरेश ने समुद्रयात्रा सम्पन्न की। पण्डितजी को भी साथ लिया गया। उनके लिए विशेष रूप से एक रसोइया भी साथ गया। और भी शताधिक लोग् साथ थे। पोथीखाना की पत्रावलियों में इस यात्रा सम्बन्धी संख्या २५ में इतना ही उल्लेख प्राप्त है – "जो कि हम सफर विलायत के श्रीजी संग में जाते हैं और आइन्द : काम का बन्दोबस्त जरुरी है, जिहाजा हुक्म है कि जब तक हम वापिस सफर से न आवें तब तक काम सरिश्त: का हमारी एवज तहसीलदार पोथीखाना का संक्रलाल करता रहे, मुशरफ को इससे मुत्तला किया जावे तारीख ८ मई १९०२ ई. मिती वैशाख सुदी व संवत्। १९५२-"महाराजा को भारत सरकार की ओर से ७ अक्तूबर, १९०६ ई. का

खरीता (बन्द पत्र) मिला जिसमे उनको मई, १९०२ में होने वाले राज्यारोहण समारोह में सम्मिलित होने को लन्दन में निमन्त्रित किया गया था। उन्होंने १० अक्टूबर को दरबार करके वह निमन्त्रण स्वीकार किया। इस दरबार में अंग्रेज रेजीडेन्ट मिस्टर कॉब भी सम्मिलित हुआ था। अपने निश्चयानुसार महाराजा १२५ आदमियों के साथ १२ मई, १९०२ को बम्बई पहुंच कर समुद्र पूजन किया और उसी दिन उक्त जहाज में बैठकर लन्दन के लिए प्रस्थान किया। पत्रावली संख्या २६ से विदित होता है की समुद्र पूजन के लिए ७३) ॥ (तेहत्तर रुपये डेढ़ आना का सामान जमनालाल पतंगवाले की दूकान से खरीद कर साथ लिया गया था जिसकी अतिरिक्त स्वीकृति महकमा कारखाने जात से प्राप्त की गई। यह राजसंघ लन्दन से लौटकर १४ सितम्बर, १९०२ को जयपुर पहुंचा और महाराजा ने ६.१०.१९०२ को दरबार किया। पण्डितजी ने इस लन्दन यात्रा के विषय में कोई वृत्तान्त पोथीखाना की पत्रावली में नहीं लिखाया। १२ अक्टूबर, १९०२ को केवल यह रोजकार (प्रत्यक्ष लिखाया गया कार्यालय आदेश) जारी किया - "जो के हम तारीख १४ सितम्बर, १९०२ ई. को मुकाम जैपुर आ गये, लिहाजा हुक्म है कि जिस तरह पर काम सरिश्ते का तहवीलदार को चार्ज दे गये थे उसी तरह बर सीरत हमको मिला, किसी तरह की शिकायत नहीं है इसलिए कागज़ात दाखिल दफ्तर किये जावें।"

लन्दन में ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों के संस्कृत विद्वानों से मिलने तथा वहाँ पर वेद धर्म पर उनके व्याख्यान तथा तद्विषयक लन्दन के समाचार पत्रों में प्रकाशित प्रशंसाएं - "संस्कृत रत्नाकर" के वेदांक तथा "श्रीमधुसूदन ओझा चरितामृत" आदि में प्रकाशित हुए हैं। बहुत ढूंढ़ने पर भी पण्डित जी के भाषण का मूल पाठ अथवा अनुवाद तो हमकों नहीं मिला परन्तु २६, जुलाई १९०२ के वेस्टमिनिस्टर गजट तथा २३ जुलाई के "दी सन्" पत्रों में जो इस विषय में टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई उनका सांराश इस प्रकार है–

"राज्याभिषेक के अवसर पर जो विशिष्ट व्यक्ति पधारे हैं उनमें एक अद्भुत हिन्दु विद्वान् की उपस्थिति स्मरणीय रहेगी। यह भारत को उज्जवल करने वाला देदीप्यमान प्रकाश, मनुष्य रूप में वैदिक विज्ञान और दर्शनों की निधि श्री मधुसूदन ओझा है जो संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् हैं। कैम्ब्रिज में अब तक जो पूर्व देशीय विद्वान् आये उन सबमें उक्त पण्डितजी का धाराप्रवाह संस्कृत सम्भाषण प्राच्यविद्याविदों के लिए सर्वाधिक रुचिकर रहा।- वैस्टममिनिस्टर गजट' २६-७-१९०२"

"पण्डित मधुसूदन ओझा ऑक्सफोर्ड के प्रोफ़ेसर मैक्डोनल्ड से मिले जो उनका परिचय पाकर बहुत प्रसन्न हुए। गत शनिवार को कैम्ब्रिज़ के प्रोफेसर सी. बैंडल ने

पण्डितजी को निमन्त्रित करके अपनी पत्नी सहित उनका सप्रेम स्वागत किया। पण्डितजी का धाराप्रवाह संस्कृत भाषण प्राच्यविद्याविभाग के विद्वानों के लिए अत्यन्त मनोरजंक रहा। ऐसा भारतवर्ष में भी बहुत कम (सुनने को) मिलता है। यहाँ के विद्वान इनसे बहुत प्रभावित हुए-

—दी सन्; २३ जुलाई, १९०२

इसी क्रम में एक रोचक प्रसंग यह भी उद्धृत किया जाता है कि लंदन स्थित इण्डिया आफिस लाइब्रेरी के अध्यक्ष मिस्टर टोनी भी टॉमस साहब के साथ पण्डितजी से मिलने आए। विद्वत्वर टॉमस विनोदी स्वभाव के थे। उन्होंने पंडितजी से कहा – शृणोमि लक्ष्म्या मधुसूदनं युंत, पश्यामि तु त्वामिह चैकमागत।

मन्ये भवन्तं विबुधं विवेकिनं, कुतस्त्वनैषीन्न सह श्रियं भवान्॥

सुनता हुं कि लक्ष्मी यदा मधुसूदन के साथ ही रहती है परन्तु मैं आप (मधुसूदन) को यहाँ अकेला ही आया हुआ देख रहा हूँ। आप तो विद्वान् और विवेकी है, लक्ष्मी को साथ क्यों नहीं लाए?"

प्रत्युत्पन्नमति आशुकवि पण्डितजी ने तत्काल उत्तर दिया–

"मधुसूदनस्य दृष्ट्वा सरस्वतीलालने विशेषरुचिम्।

रोषादिचापसृतां लक्ष्मीमनुनेतुमत्र सो भ्यायात्॥

"सरस्वती के लालन (लाड़ चाव) में मधुसूदन की विशेष रुचि देखकर वह रुठी सी होकर यहाँ चली आई है, उसी का मनाकर ले जाने को तो वह (मधुसूदन) यहाँ आया है।" दोनों विश्वविद्यालयों और अमूल्य भारतीय ग्रन्थ सम्पदा से निर्मित इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में पण्डितजी के व्याख्यानों को सुनकर वहां के विद्वानों ने प्रसन्नता के साथ विस्मय प्रकट करते हुए कहा कि हम आज वेद के सम्बन्ध में नई सूचना प्राप्त कर रहे हैं। ऐसा वेदार्थ रहस्योद्घाटन् आज तक किसी भारतीय अथवा इतरदेशीय विद्वान् ने नहीं किया। इत्यादि। सम्राट् के राज्याभिषेकोत्सव पर जयपुरनरेश की ओर से समर्पण के लिए भी ओझाजी ने कुछ पद्य रचे थे। उनकी वक्तृताओं और पद्यों का अंग्रेजी में अनुवाद श्री सत्येन्द्रनाथ मुखर्जी महोदय ने किया था। इन सबकों देखकर सम्राट् परम प्रसन्न हुए और उन्होंने पण्डितजी को "कोरोनेशन पदक" प्रदान किया।

स्वाभाविक था कि पण्डितजी के भाषण और पद्य रचनाएँ सभी संस्कृत में हुई। यदि वे अग्रेजी में बोल एवं विश्वभ्रमण कर सके होते तो हम समझते है कि भारतीय

संस्कृति और वेद धर्म के प्रचार क्षेत्र में उनका गौरव और विश्रुति स्वामी विवेकानन्द के समान ही होती।

सफर लन्दन (लन्दन यात्रा) के प्रसंग में एक उल्लेखनीय बात यह हुई कि पण्डितजी ने वहाँ ही महाराजा से स्वीकृति प्राप्त करके पोथीखाना के लिए उपयोगी पुस्तकें Kegan Paul Trench - Tour and Company, London से खरीद लीं और वापस जयपुर आकर संग्रह में जमा करा दीं। उन पुस्तकों की सूची इस प्रकार उल्लिखित हैं –

१. कौषीतकि ब्राह्मण, २. वैतानसूत्र, ३. यास्क निरुक्त, ४. कैशिकसूत्र, मानवधर्मशास्त्र, ६. वज्रछेदिका प्रज्ञापारमिता, ७. सुखावती व्यूहः, ८. शिलाक्षर पाली सर्वानुक्रमणी, ९. वृहद.देवता, १०. शाकटायन श्रौतसूत्र, ११. लाट्यायन श्रोतसूत्र, १२. बृहन्नारदीयपुराण, १३. तण्ड्यमहाब्राह्मण, १४. मानवश्रौतसूत्र, १५. मानवगृह्यसूत्र, १६. अथर्ववेद संहिता, १७. मंत्र संहिता, १८. शाकटायन व्याकरण, १९. श्रौतपदार्थनिर्वचन और २०. कारोनेशन् चित्रावली।

पण्डितजी आत्मनिष्ठ थे। सदा तपः स्वाध्याय में ही निरत रहते थे। प्रचार प्रसार और अनावश्यक वाग्विलास में उनकी रुचि नहीं थी। वैसे, महाराजा भी उनको अपने से दूर रहने का कम ही अवकाश देते थे। इस कारण उनको देश भ्रमण का अवसर बहुत कम मिलता था। फिर भी उनके असाधारण पाण्डित्य, वैदिक रहस्योद्घाटन की अद्‌भुत शैली और प्रवचन प्रवीणता से सम्पर्क में आने वाले विद्वानो को सविस्मय आनन्द प्राप्त होता था। इसी माध्यम से पण्डितजी के वैदुष्य की ख्याति देश में फैली और प्रमुख विद्वत् समारोहों में उनको आमंत्रित किया जाने लगा। सन् १९०५ में प्रयाग के कुम्भ और १९०६ में काशी में कांग्रेस अधिवेशन पर भारत धर्म महामण्डल के महाधिवेशन हुए तब सभी भारतीय नरेशों को निमंत्रण भेजा गया था। जयपुर नरेश ने अपने प्रतिनिधि रूप में पण्डित मधुसूदनजी ओझा को इन अधिवेशनों में भाग लेने की आज्ञा प्रदान की। प्रयाग सम्मेलन में पण्डितजी का विद्वत्तापूर्ण भाषण सुनकर सभापति दरभंगा नरेश सहित समस्त विद्वन्मण्डली मुग्ध हो गई। इसी अवसर पर पंडित जी को "विद्यावाचस्पति" एव "महामहोपदेशक" उपाधियों से विभूषित किया गया था। इसके अनन्तर लाहौर, कलकत्ता, वाराणसी आदि नगरों में भी उनके वैदिक विज्ञान विषयक प्रभावशाली व्याख्यान हुए जहाँ पण्डितजी को ससम्मान अभिनन्दनपत्र समर्पित किये गये।

ऐसे तथ्य अन्य अवसरों पर जयपुर से बाहर जाते समय पण्डितजी प्रायः पोथीखाना के सरिश्ते का काम तहसीलदार शंकरलाल को सौंप कर जाते थे। वह ऐसा समय था जब राजा की तरह पदाधिकारी भी वंशपरम्परागत ही होते थे। पण्डितजी इस विषय में

आश्वस्त थे कि उनकी जागीर और पद आदि उनके एक मात्र सुयोग्य पुत्र प्रद्युम्नजी ओझा को ही प्राप्त होंगे, अतः महाराजा के समक्ष उपस्थिति करके उनको "काम सिखाने" की स्वीकृति भी प्राप्त कर ली थी। तदनुसार वे उनको धर्म सभा और वरणी की सम्हाल तथा पोथी-खाना में भी साथ रखने लगे थे। स्वयं बाहर जाते तब तहसीलदार की निगरानी के काम सरिश्ते का करते रहने के रोबकार (कार्यालय आदेश) भी जारी करने लगे थे। यथा - "जो के हम माफिक हुक्म श्री जी के रुखसत पर देस जाते हैं- लिहाजा हुक्म है कि " जब तक हम रुखसत पर से वापस आवें तब तक काम कारखाना का प्रद्युम्न पिसर हमारे देता रहे और काम सरिश्ते का तहसीलदार संकरलाल करता रहे जुम्मेवारी हम काम पर अपनी समझे। ता. १८ जनवरी, १९०६ ई. (पत्रावली २४६ (२) स्वयं छुट्टी चाहने पर प्रद्युम्नजी ऐसे रोबकार लिखाते थे - "जो के हम बजाय बालिद खुद के माफिक हुक्म काम पोथीखाने का अंजाम देते हैं– चुनांचे अब हमको भी रुखसत पर देश जाना जरुरी है, जिहाजा हुक्म है कि तहसीलदारर बजाय हमारी काम सरिश्ते का करता रहे। तारीख २२ मई, १९०६ ई.द.पं. मधुसूदन ओझा ब.क. प्रद्युम्न शर्मा।

इसी तरह सन. १९१६ में बीकानेर जाते समय रोबकार जारी हुआ — जो के हम बकार सरकार बीकानेर जाते हैं लिहाजा हुक्म है कि ता वापसी काम सरिश्ते का पिसर प्रद्युम्न करते रहें। महकमा कारखाने जात को इत्तिला लिखी जावे। तारीख १२ अक्टूबर, १९१६ ई."। ऐसे ऐसे अनेक आदेश पत्रावलियों में हैं जिनसे तत्कालीन कार्य प्रणाली का परिचय प्राप्त होता है।

पण्डितजी के समय की आवश्यक रुप से उल्लेखनीय घटना यह है कि सवायी जय सिंह के गुरू और धर्मकर्मोपदेशक रत्नाकर जी पौण्डरीक के २३०६ से भी अधिक हस्तलिखित ग्रन्थों के महत्वपूर्ण संग्रह को ग्रहण करके पोथीखाना में सुरक्षित रख लिया गया। इस संग्रह में प्रायः सभी शास्त्रीय विषयों के ग्रंथ हैं जिनमें सर्वाधिक संख्या रत्नाकर जी के प्रपौत्र विश्वेश्वरजी पौण्डरीक द्वारा संगृहीत, लिखायित और रचित ग्रन्थों की हैं। बहुत से तो अज्ञात अथवा स्वल्पज्ञात हैं। इन ग्रन्थों को यद्यपि सूचनी बनाकर पंजीकृत कर लिया गया है, परन्तु विधिवत् सूचीकरण होकर प्रकाशन नहीं हुआ है।

महाराज संस्कृत पाठशाला में अध्यापकों की नियुक्ति के विषय में भी पण्डितजी से अभिमत लिया जाता था। जब १९२७ ई. में यजुर्वेद के अतिरिक्त तीनों वदों के अध्यापन की व्यवस्था की गई तो पंडित जी ने तीन पारम्परिक वेदपाठियों की परीक्षा लेकर उनकी नियुक्ति के लिए सस्तुति की ये थे पण्डित चिरंजीलाल जी ऋग्वेदी, पं. जयचन्द्रजी ओझा सामवेदी और पं. चुन्नीलाल जी अथर्ववेदी। ये तीनों ही पण्डित कोई

परीक्षा पास प्रमाणपत्र धारी नहीं थे, गुणों और योग्यता के आधार पर ही इनका चुनाव किया गया था, परन्तु ये सब यावज्जीवन अपने अपने विषय के अधिकारी विद्वान् माने जाते थे और अन्यत्र भी इनकी सुप्रसिद्धि फैली रही। इन लोगों के बाद संस्कृत कालेज में वैसी वैदिक मण्डली देखने को नहीं मिली। (पत्रावली १८(१)१०७/१९२७)

सन. १९२८ ई. में भी प्रयाग में पण्डितों का महान् संस्कृत सम्मेलन हुआ उसमें पण्डितजी दस दिन की छुट्टी लेकर गये थे। उन्होंने लिखा "जो के इलाहाबाद प्रयाग में बड़े बड़े पंडितायन की सभा है और वहाँ से मुझे बुलाने के लिए चिट्ठी और दो तार आ चुके हैं इसलिए वहाँ जाना जरुरी है जिहाजा महक्मा खास होमडिपार्टमैण्ट को लिखा जावे कि तारीख १९/१/१९२८ से १० रोज की मंजूरी रुखसत आनी चाहिए - ता. १६-१-१९२८ ११ माह बुदी ९ संवत् १९८४ (पत्रा. १८(२) - ६/१९२८)"। ऐसा लगता है कि जब तक माधवसिंहजी जीवित रहे, पंडित जी उनसे ही "बकार सरकार" कहीं जाने अथवा अपने देश जाने की स्वीकृति ले लेते थे और बाद में रोबकार लिखा कर महकमा कारखाने जात को इत्तला लिखा देते थे परन्तु महाराजा की मृत्यु के बाद नियमानुसार खास के होम डिपार्टमैण्ट से रुखसत माँगते थे। स्वर में भी कुछ बदलाव आ गया था, "हम" के स्थान पर "मैं" का प्रयोग होने लगा था। यह भी झलकता था कि महक्मा खास वाले और अधीनस्थ विभाग वाले कुछ छेड़ छाड़ करने लगे थे। सन् १९२८ में ही कारखाना पुन्य वालों ने बादल महल की वरणी में नियुक्त छः ओझा पण्डितों के वेतन के विषय में कुछ आक्षेप किये। पण्डितजी स्वाभिमानी थे और अपने अधिकारों में किसी प्रकार के अनावश्यक हस्तक्षेप को सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने महक्मा खास को कारखाना पुण्य की उनके कार्य में "दस्तंदाज़ी" की शिकायत करते हुए लिखा — इस हालत में मैं काम मौजमन्दिर व सदस्य कारखाना पुण्य व सम्हाल वरणी बादल महल का अंजाम अब नहीं दे सकूंगा। तारीख १८ मई, १९२८ मिती जेठ बु. १४ संवत् १९८४। यह लिखकर उन्होंने उक्त सभी कामों में भाग लेना बन्द कर दिया, पोथीखाना में निरन्तर आते रहे। महक्मा खास और कारखाना पुण्य में बहुत लिखा पढ़ी हुई। अन्त में कारखाना पुण्य के मुन्तजिम मुंशी चांदूलाल जी की यह तहरीर प्राप्त हुई जिसमें महक्मा खास का फैसला दर्ज था — "राज के ऐसे कामों में ऐसे नामी पंडितजी का शरीक न होना ना मौजूं है जिहाजा इस्तीफा नामंजूर किया जावे और पंडितजी को बदस्तूर काम करने की हिदायत दी जावे। उनकी इस अरसे की चढ़ी हुई तनख्वाह भी दी जावे। मिती मंगसर बुदी १३ संमत १९८४" इस प्रकार पाँच - छः मास चलकर यह विवाद समाप्त हुआ। इस प्रकरण से विदित होगा कि तत्कालीन अधिकारी वर्ग भी पण्डितजी की वरिष्ठता और महत्व के प्रति उदासीन नहीं था।"

ऊपर लिखा जा चुका है अध्ययन समाप्ति पर अपने गुरूवर्य पंडित शिवकुमार जी से आशीर्वादात्मक आदेश प्राप्त करके पण्डित मधुसूदनजी वेदार्थावगाहन का मानस बना चुके थे। तदनुसार वे वैदिकग्रन्थनिर्माण कार्य में सवंत् १९४९ वि. से प्रवृत्त हुए जैसा कि उन्होंने अपनी कृति "मधुसूदन-सरस्वती" में लिखा है–

"विक्रमाब्दे समारब्धो गौवेदाङ्कमहीमिते।
वैदिकग्रन्थनिर्माण-क्रमो गुरोर्निदेशतः॥"

तब से ही वे वेदाध्ययन में जुट गये। दैनिक काम काज और राजकाज नियमानुसार निपटाते थे परन्तु उनके मानस में वैदिक रहस्यों की अवगति के लिये चिन्तन और मन्थन चलता ही रहता था। दिन में और रात में देर देर तक अध्ययन और लेखन में लगे ही रहते थे, खान पान की भी सुध नहीं रहती थी। इसी क्रम में तपस्यामय जीवन बिताते हुए उन्होंने सभी संहिताओं, ब्राह्मणग्रंथों समस्त श्रौतसूत्रों, पुराणों, रामायण और महाभारत आदि का मन्थन करके २२८ कृतियों का प्रणयन कर डाला। वे स्वयं ही अपने ही हाथ से लेखन कार्य करते थे और चित्र बनाते थे। इस कारण उन्होंने अनुभव किया कि वे जितना कुछ सोचते है, वह पूर्ण रूप से और शीघ्रता से लिपिबद्ध नहीं हो पाता है। अतः उन्होंने महक्मा खास के होम डिपार्टमैण्ट को लिखा। उनका यह लेखा उनकी मूल अध्ययन एवं लेखन योजना का परिचायक है–" जो के आजकल हिन्दू धर्म के हर एक सीगे के अकसर ऐसे सवालात किये जाते हैं कि जिनका ठीक ठीक जवाब पण्डितों की तरफ से न होता देखकर ग़ैर मजहब वालों का ही नहीं बल्कि वो लोग जो हिन्दू धर्म पर चलते हैं उनका भी हिन्दू धर्म पर से धीरे धीरे ऐतकाद उठता जा रहा है। इसलिए हिन्दु धर्म आजकल (कुछ) ढीला पड़ता जाता है। यह हिन्दुओं के लिए शर्म की बात है। पण्डितों की जानिब से इतमीनान के काबिल जवाब न मिलने का सबब यह है कि हिन्दू धर्म खासकर वेद से तआल्लुक रखता है और वेद के विज्ञान को बिना ठीक ठीक समझे धर्म की बातों को हल करना दुश्वार है। लेकिन यहां वेद के अर्थ का पढ़ना पढ़ाना कुछ अरसे से बन्द है। जो वेद का असली अर्थ जानने की पूरी ख्वाहिश भी रखते हैं वो भी पुरानी पुरानी पुस्तकों को देखकर ठीक मतलब हल नहीं कर सकते। सबब यह है कि वेद की इबारत बहुत ही पुराने ज़माने के खयालात से लिखी हुई है। आजकल के ज़माने में यह मज़मून ठीक ठीक मतलब समझने के लिए काफी नहीं है। इसलिए आजकल के खयालात के मुताबिक नये मज़मून से वेद के मतलब को अदा करने की निहायत ज़रूरत है। इसी गरज़ से, कुछ अरसा हुआ कि एक नया ग्रन्थ तैयार करने का काम जारी किया गया। इसके अट्ठारह भाग हैं। एक से दूसरे भाग का तआल्लुक आपस में रहने से सभी भागों का काम एक साथ जरुरी करना

पड़ा। लेकिन काम बहुत बड़ा होने के कारण इसमें बहुत सी दिक्कतें दर पेश हैं। कितने ही मुखतलिफ कामों की वजह से इस काम के अभी तब जल्दी पूरा होने की उम्मीद नहीं है क्योंकि मदद के लिए दो चार पण्डितों को इस काम के लिए मुलाज़िम रखना मेरे काबू से बाहर है। ऐसी सूरत में बिना इमदाद राज यह काम कभी पूरा नहीं हो सकता - लिहाज़ा महक्मा ख़ास, सींग़ा इलाका ग़ैर व होम डिपार्टमेट को लिखा जावे कि अगर पोथीखाना से लेखक दो, मुसव्विर एक और पण्डित दो, दो साल के लिए मेरे घर पर तैनात हो जावें तो यह ग्रन्थ जल्द तैयार हो जावेगा और राज के नाम से ही आयन्द: छपाया जावेगा जिससे जयपुर राज की नामवरी होगी। तारीख १५ फरवरी, सन् १९२७ ई., मिती माह सुदी १४ संवत् १९८३ का।" (पत्रावली सं. २२/१८७१)

इस आवेदन के अनुसार होम डिपार्टमेण्ट में स्वीकृति प्राप्त हो गई और पण्डित हेरम्ब शर्मा, श्यासुन्दर मुसव्विर (चित्रकार) और सूरज नारायण लेखक को २५-२-१९२७ ई. से पण्डित जी के घर पर काम करने को तैनात (प्रतिनियुक्त) कर दिया गया। दो वर्ष बीतने पर पण्डितजी ने फिर लिखा और कभी दो वर्ष, कभी एक वर्ष और कभी छ: मास के लिए यह प्रतिनियुक्ति में वृद्धि क्रम चलता ही रहा। अन्तिम स्वीकृति १-४-३९ को हुई और २७-९-३९ को पण्डितजी का देहान्त हो गया। पण्डितजी और इन कर्मचारियों का किया हुआ सब काम पण्डितजी के घर पर ही रह गया।यह विचारणीय है कि पण्डितजी पोथीखाना से सम्बद्ध थे और यहाँ के वेतन भोगी कर्मचारी उनकी सहायता के लिए तैनात किये गये थे फिर भी उनके लेखन का कोई भी अंश यहाँ जमा नहीं हुआ। कर्मचारी क्या क्या और कितना कितना कार्य करते थे इसका लेखा जोखा भी प्राप्त नहीं है। पण्डितजी ने अपने प्रथम आवेदन में यह स्वीकार किया था कि "आयन्दा यह ग्रंथ राज के नाम से ही छपाया जायेगा जिससे जयपुर राज की नामवरी होगी।"परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। पण्डितजी के जीवनकाल में ही उनकी कृतियों में से अनेक जो उनके बृहद्ग्रन्थ के ही अंशभूत हैं, छप गई थी। उनमें से किसी की भी कोई एक प्रति पोथीखाना में "भेंट स्वरूप भी" जमा नहीं है। सम्भव है उनको प्रकाशन के लिए राज के द्रव्य स्वीकृत न हुआ हो परन्तु सम्बन्धों को देखते हुए प्रकाशित कृतियों की एक एक प्रति यहां अवश्य आनी चाहिए थी। वैसे गीता विज्ञान भाष्य के मुद्रण के लिए २५००/- रुपये राज्य से दिये भी गये थे (वेदांक ८, २५१), परन्तु उसके भी दो खण्ड बाद में खरीदकर ही संग्रह में रखे गये।

सन. १९३७ई. की एक पत्रावली से विदित होता है कि पोथीखाना के कर्मचारियों की तैनाती के प्रसंग में पंडितजी से तब तक किये गये काम का ब्यौरा माँगा गया। तब उन्होंने लिखा—

"वेद का रिसर्च करीब पचीस तीस वर्ष से मुस्तैदी के साथ जारी है। इसमें आठ दस श्रेणी विभाग हैं। हर एक श्रेणी में जुदे जुदे बहोत से चेपटर हैं जिनमें से करीब पचास से भी ज्यादा चैपटर त्यार हैं, करीब ७० या ८० और होंगे। इनमें कुछ छप चुके हैं, बाकी बिना छपे ही रखें हैं। इनके मुतअल्लिक तसवीरें भी होंगी जो चार श्रेणी में बँटी हैं –

१. भूगोल जमीन के मुल्कों के नक्शे, २. खगोल आसमान के ग्रहों के नक्शे, ३. वेदविज्ञान हिन्दु साइन्स के नक्शे, और ४. यज्ञविज्ञान।

इस रिसर्च में जितनी किताबें तैयार की जावेंगी उनकी एक लिस्ट भी तैयार है जिसको देख सुन कर और पसन्द करके कितने ही लोगों ने किसी किसी मन्थली में छाप कर प्रकाशित भी कर दिया है। इस रिसर्च की बहुत सी किताबों को छपी हुई देख कर हर तरफ के लोगों ने खूब पसन्द किया है।

मैं रियासत के संस्कृत डिपार्टमैण्ट की सर्विस के लिए खास पण्डितों में हूँ। मेरा फर्ज़ है कि अपनी संस्कृत विद्या को लेकर राज की कुछ सर्विस खास तौर पर करूँ जैसे की अगले जमाने में लोगों ने की है और उसको पुराने महाराजाओं ने पसन्द किया है। इस किस्म की किताबें हर रियासत की लाइब्रेरी में पायी जाती हैं। उम्मीद करता हूँ कि आज भी राज इस काम को पसन्द करके अपनावेंगे।

यद्यपि देखने में आता है कि आजकल बहुत से लोगों के ख्यालात संस्कृत विद्या की तरह से पलट गए हैं, वे लोग इसमें कुछ खूबी नहीं समझते। उनसे मेरी सविनय निवेदन है कि जब तक किसी विद्या की जानकारी पूरी तरह न कर ली जाय तब तक उसके खिलाफ राय देना नाजायज है और उसकी जानकारी का जवाब उस इल्म के जानने वाले उसी देश के याने हिन्दुस्तानी पंडित जैसा दे सकते हैं, शायद ही वैसा दूसरा कोई दे सकता है। यह समझ लेना कि हिन्दुस्तानी पंडित दिमाग रखते ही नहीं, यह बिलकुल गलत बात है। मेरा विश्वास है कि इसी रिसर्च से वेद के विषय में लोगों के ख्यालात जरुर पलट जावेंगे। ऐसा काम बिदून इमदाद राज के कभी पूरा नहीं हो सकता। इसलिए अगर इस तरफ राज की निगाह नहीं होती तो मैं इस काम को पूरा नहीं कर सकता और यह मेरे लिए बड़े शोक की बात होगी, आगे मरज़ी राज।

जो किताबें मुलाहिजे के वास्ते भेजी गई हैं वो चार सीगों में बँटी हुई है :-

१. रिसर्च की नई किताबें जो छपी हुई हैं,

२. रिसर्च की किताबें जो अब तक नहीं छपी हैं,

३. रिसर्च के मुताल्लिक नक्शे जो चार सीगों में बँटे हुए हैं, और

४. इस रिसर्च का जिक्र जिन मन्थली पेपरों में छपा है। जो किताबें बन चुका हैं और बनने वाली हैं उनकी लिस्ट भी एक अलग कागज में दर्ज है। राज पण्डित मधुसूदन ओझा, विद्यावाचस्पति।

पत्रावली में इस टिप्पणी के साथ अन्य ब्यौरा उपलब्ध नहीं है। ऊपर लिखे "सीगों" का विगत भी नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय तक कितना कार्य हो चुका था। परन्तु अन्यत्र एतत् संबंधी सूचनाएं प्रकाशित हुई हैं जो वहीं अवलोनीय हैं। यह सामग्री लौट कर आने पर पण्डितजी के घर पर ही रह गई होगी। पोथीखाना में इनके सम्बन्ध में कोई अन्य सूचना अंकित नहीं है।[१]

ऐसा लगता है कि महक्मा खास द्वारा पूछताछ करने अथवा किसी विदेशी विद्वान् से उनके काम पर सम्मति प्राप्त करने के प्रयत्न से पण्डितजी अप्रसन्न हो गये इसी कारण यह तीखी टिप्पणी लिखाई।

संवत् १९९३ में जयपुर के सामन्तों, सेठ साहूकारों और प्रबुद्ध नागरिकों ने अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन के तत्वावधान में पण्डितजी की सप्ततिपूर्ति पर हीरक जयन्ती मनाई। इस अवसर पर बम्बई के शुद्धाद्वैत सम्प्रदायाचार्य गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी ने अध्यक्षता की और देश के बडे बड़े विद्वानों ने भाषण दिए। यह महोत्सव जयपुर के रामनिवास बाग स्थित विशाल एलबर्ट हाल में मनाया गया। इसी अवसर पर अ.भा. संस्कृत सम्मेलन के मासिक मुखपत्र "संस्कृत रत्नाकर" का "वेदांक" नाम से विशेषांक भी प्रकाशित हुआ जिसमें जयपुर और बाहर से आए हुए प्रतिष्ठित विद्वानों के गम्भीर लेख मुद्रित हुए। पण्डितजी को अभिनन्दन पत्र भी समर्पित किया गया। खेद है कि इस उत्सव, अभिनन्दन और पण्डितजी के भाषण विषयक कोई भी सूचना पोथीखाना के अभिलेखों में नहीं पाये गये। "वेदांक" की एक प्रति अवश्य ही पुस्तक संग्रह में प्राप्त है। इस विशेषांक में पण्डितजी के जीवन चरित ओर रचनाओं से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएं संकलित हुई हैं। उस समय तक पण्डिजी की अनेक कृतियाँ प्रकाशित भी हो चुकी थीं। परन्तु उनका प्रचार प्रसार संस्कृत विद्वज्जगत् तक ही सीमित था। ईसवीय सन् १९३४ में पण्डितजी के ग्रंथो को सुचारु रूप से सम्पादित कराकर मुद्रित करवाने हेतु आगरा विश्वविद्यालय के तत्कालीन रजिस्ट्रार पं. श्यामसुन्दर जी शर्मा के प्रयत्न से सर गोपीनाथ जी पुरोहित की अध्यक्षता में एक समिति गठित हुई। पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी और ठाकुर नरेन्द्रसिंह जी, जोबनेर आदि वरिष्ठ विद्वान्

सामन्त और नागरिक इस समिति के सदस्य हुए। स्वयं पण्डित नवलकिशोर जी ग्रन्थसंपादक के रूप में नामांकित हुए । इस समिति के तत्वावधान में भी अनेक कृतियों का प्रकाशन हुआ और प्राय: स्थानीय श्री बालचन्द्र प्रेस में ही उनका मुद्रण हुआ। परन्तु आश्चर्य है कि जयपुर सरकार द्वारा यह नियम बना देने पर भी कि स्थानीय प्रेसों में छपने वाली प्रत्येक पुस्तक की एक एक प्रति पोथीखाना में भेंट दी, जावे पण्डितजी के ग्रन्थ यहाँ पर जमा नहीं हैं । पोथीखाना उनकी कार्यस्थली रहा; यह एक विडम्बना ही मानी जायगी कि पण्डित जी के वैदुष्य के मूर्त साक्ष्य यहाँ न मिलें ।

उक्त पं. श्यामसुन्दर जी शर्मा पण्डितजी के भक्त और परमप्रशंसक थे । राजस्थान संघ बन जाने पर वे मुख्यमंत्री के प्रधान सचिव और पदेन संस्कृत (विकास) मण्डल के सचिव भी नामांकित हुए । सन् १९५० ई. में संस्कृत मण्डल में अन्तर्गत राजस्थान पुरातत्व मन्दिर (अब सरकारी राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान) की संस्थापना हुई। इसके प्रथम बजट में ही शर्मा जी ने पण्डित मधुसूदन ओझा के ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ दस हज़ार रुपये का प्रावधान कराया । तदननुसार पण्डितजी की विशिष्ट कृति "महर्षिकुल-वैभवम्" उनके वरिष्ठ शिष्य पं. गिरिधर शर्मा जी महामहोपाध्याय के सम्पादन में हिन्दी व्याख्या सहित पुरात्तव मन्दिर के आद्य प्रकाशनों में अवतरित हुई । अनन्तर, पण्डितजी के सुयोग्य पुत्र पं. प्रद्युम्न शर्माजी के पास उक्त कृति की मूल प्रति भी उपलब्ध हुई उसका मूल पाठ भी मन्दिर (प्रतिष्ठान) द्वारा प्रकाशित कर दिया गया । इसके बाद पण्डित प्रद्युम्न जी शर्मा ने यह विचार प्रकट किया कि उनकी जागीर के लिये जो अधिग्रहण राशि मिलेगी उसी से एक न्यास स्थापित करके अपने पिता के ग्रंथो का प्रकाशन करावेंगे । पण्डितजी के प्रिय शिष्य स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल जी ने अपने गुरूवर्य द्वारा वेदार्थवगाहन को प्रकाश में लाने का महत् और स्तुत्य प्रयास किया उसमें उनका स्वयं का अध्ययन और चिन्तन भी सम्मिलित है । इस मणिकांचन योग से वेदानुसन्धायक जगत् बहुत उपकृत हुआ है और पण्डितजी की परम्परा अग्रेसर हुई है । और, सबसे अधिक उपयोगी और युगानुकूल प्रयास तो अब पं. मोतीलाल जी शास्त्री के सुपुत्र श्री कृष्णचन्द्रजी और उन्हीं के सुपौत्र पं. प्रद्युम्न शर्मा जी को साथ लेकर राजस्थान पत्रिका के संस्थापक सम्पादक श्री कर्पूरचन्दजी "कुलिश" कर रहे हैं । इस त्रिकुटी के सहयोग में पण्डितजी की कृतियाँ सरल सरलतर रूप से साधारणजनगम्य होकर सामने आ रही है। कुलिशजी तो विदेशों में जाकर भी वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से वैदिक विज्ञान का बोध कराते रहते हैं । इस प्रक्रिया से पण्डित जी के उद्देश्य की बहुत कुछ पूर्ति हो रही है तथा वैदिक और भारतीय चिन्तन परम्परा से विश्व के विद्वान् परिचय प्राप्त कर रहे हैं ।

पण्डितजी की अधीति का विषय गूढ़, उनका अध्ययन गहन, प्रतिभा प्रखर और अभिव्यक्ति में अभिनवता थी। उनकी भाषा संस्कृत थी और वे इसी में सोचते थे और लिखते थे। वास्तव में वेद के अर्थों की परिभाषाएं पहली बार ही संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषा में लिखी भी नहीं जा सकतीं। समय के अन्तराल से तत्कालीन पारिभाषिक शब्द प्रचलन में नहीं रहे और अब उन अर्थों को सरल रूप से व्याख्यायित करना कठिन पड़ता है। संभवत: इसीलिए जब बहुप्रज्ञ पण्डितजी की बात कोई अल्पप्रज्ञ सामान्य जन नहीं समझ पाता था तो वे क्रोधित हो जाते थे। फिर भी ऐसी बात नहीं थी कि वे अपना मन्तव्य सरल चालू भाषा में न समझा सकते हों। उनकी तहरीरो और रोबकारों में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं। भाषणों में भी उनकी भावाभिव्यंजना अवसरानुकूल ही होती थीं। यदि कोई उनसे शास्त्रीय अथवा दार्शनिक प्रश्न कर बैठता तो वे उसे अपने प्रमाणपुष्ट प्रवचनों से सन्तुष्ट कर देते थे। उदाहरण स्वरुप आगे कुछ प्रसंग उद्धृत किये जा रहे हैं—

शंक संवत् १८६० (सन् १९३८ ई.) में रायपुर (मध्य प्रदेश) निवासी शैवाचार्य मधुसूदन दण्डी ने पण्डितजी के पास छ: प्रश्न व्याख्या के लिए भेजे जिनका विस्तृत उत्तर उन्होंने अपने शिष्य तथा सहयोगी पण्डित हेरम्ब शर्मा शास्त्री को लिखवा कर दण्डीजी के पास भेजा।

विषय की गम्भीरता तथा पण्डित ओझाजी की वैदुष्यपूर्ण व्याख्या शैली के उदाहरण स्वरूप प्रश्नों तथा उत्तर अविकल रूप से उद्धृत किया जा रहा है।

द्रष्टव्य है कि शास्त्रीय तथा दार्शनिक विषयों की व्याख्या पण्डित जी तदनुरूप ही करते थे, परन्तु बीच बीच में चलती भाषा तथा उर्दू-फारसी के शब्दों को प्रयोग करने में भी कोई संकोच नहीं करते थे। ऐसा लगता है कि उनकी हिन्दी फारसी मिश्रित कचहरी की प्रचलित उर्दू भाषा से प्रभावित रहती थी।

यदि उनको कोई सुयोग्य श्रुति लेख लिखने वाला उपलब्ध हो जाता तो वे अपनी कृतियों को सरलतम रूप में लिखवा देते।

आज बहोत नजर आते ज्ञानी तपी योगी गली गली रास्ते में।
मनमाने मत जाहिर करते जो अज्ञान फैलता जगत में॥
संदेह कोई मिटाओं विकल्प न उठै मिले पिंड तथा ब्रह्म में।
और पोषक भी होता नीचे दिये हुए भक्त सन्तों के कवित्त में॥
सकल पदारथ हैं जग माहीं, करमहीन नर पावत नाहीं॥

१. मूकं करोति वाचालं, पंगुं लंघयते गिरिम् ।

यत्कृपा तमहं वन्दे, परमानन्द माधवम् ॥

स्तुतिपाठ

२. नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥

गी.अ. २-१६

३. गवां शतसहस्रं च ग्रामाणां च शंत वरम् ।

सर्वाभरण सम्पन्ना मुग्धाः कन्यास्तु षोडश ॥

अ.रा.स. १४, युद्धकाण्ड श्लोक ६१.

४. एक राम दशरथ का छोरा, दूजा राम घट-घट विचरा ।

तीजा राम सबसे न्यारा, आप राम किसे सहारा ॥ (संत वचन)

५. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

गी.अ. २-२३

६. ऊं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णामादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

शान्तिपाठ ॥

रायपुर, ज्येष्ठ शुक्ला १५ (ह.) श्री ११०८ शैवाचार्य मधुसूदनाश्रम दंडी

दिवाणजी का बड़ा तात्यापारा,

पोस्ट रायपुर (सी.पी.)

वैदिकविज्ञानमहार्णव महामहोपदेशक समीक्षाचक्रवर्ती विद्यावाचस्पति औझाजी श्रीमान् पं. मधुसूदनशर्माजी द्वारा लिखाया गया -

१-प्र. मूक करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम् ।

यत्कृपा तमहम वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ १.

अयं भावः । भूः, भुवः,स्वः,महः, जनः, तपः, सत्यम् - इस तरह सप्तव्याहृति मय सप्तवितस्ति परिमित एक ईश्वर का स्वरुप है । जैसा कि भावगत में लिखा है —

"क्वाहं तमो महदहं खचरों ग्निवार्भूः संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।" इस ईश्वर के शरीर में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी - ये पांच पुण्डीर हैं। उनमें स्वयम्भू सूर्य, पृथ्वी ये तीन अग्निमण्डल और परमेष्ठी, चन्द्र ये दो सोम मण्डल कहलाते हैं। याजुषोग्निः (ब्रह्माग्निः) देवाग्निः (वागग्निः) अन्नादाग्निः (पाशुकाग्नि) स्वरुप इन तीनों अग्नियों में सोम रूप अन्न की आहुति से यह प्राकृत यज्ञ अनवरत होता रहता है जिससे इस संसार का स्वरुप बनता है और बना रहता है। अतएव "अग्नीषोमात्मकं जगत्" ऐसा सिद्धांत है। इनमें सोम उस पदार्थ को कहते हैं जो अग्नि में आहूत होने पर अग्नि ही बन जावे, अपनी स्वरूप सत्ता को खो बैठे जैसे आज्य, कर्पूरादि। ऐसी स्थिति में "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इस न्याय से पाँच मण्डल की जगह स्वयम्भू, सूर्य, पृथ्वी - ये तीन अग्निमण्डली हैं, प्रधान रह जाते हैं। ये तीनों मण्डल क्रम से ब्रह्मा, विष्णु, महेश के नाम से पुकारे जाते हैं। यह त्रेताग्निमय, त्रिसंस्थ, विश्वात्मा ईश्वर का स्वरूप है। अतएव इससे उत्पन्न हुआ विश्व भी ज्ञान, कर्म, अर्थ - इस तरह तीन विभागों में बढ़ा हुआ है, जिनमें सबसे ऊपर का ईश्वर शिरस्थानीय स्वयम्भूमण्डल वेदवाङ्मय होने से ज्ञानप्रधान ब्रह्मा माना गया है; और अन्त में "पद्भ्यां पृथ्वीति" पादस्थानीय पृथ्वीमण्डल अर्थप्रधान भूतपतिः पशुपतिः शिवः है। ज्ञान और अर्थ में स्वतः क्रिया नहीं होने से ये दोनों ही अक्रिय हैं; तीसरा मध्यस्थित "प्राणः प्रजानामुदयत्येषः सूर्यः" इससे प्राणस्वरुप क्रिया समर्पक उरस्थानीय सूर्यमण्डल विष्णु मण्डल है। इस मण्डल से ही पूर्वोत्तर मण्डलों में क्रियाशक्ति दी जाती है। जैसा कि श्रुति कहती है –

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशमुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्। तद्भूमिं वव्यवर्तयत्। चक्राण औपशं दिवि" यही बात ध्यान में रखता हुआ किसी कार्य को उद्धत कर्मठ पुरुष अपने में स्वकार्य सम्पन्न करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए सर्वतः प्रथम क्रियाशक्ति समर्पक विष्णुमण्डल को लक्ष्य करके स्तुति करता है – "मूकं करोति वाचालं" अर्थात् गूंगे को भी बहुत बोलने वाला कर देना यह आपकी ही कृपा का वैभव है। "पंगुं लंघयते गिरिम्" अर्थात् चरण रहित को चलने की शक्ति भी आपकी ही कृपा से मिलती है – जिसकी बदौलत वह पंगु पहाड़ का भी उल्लंघन कर सकता है। ऐसे परमानन्दस्वरुप माधव (भगवान्) को नमस्कार करता हूँ। यहाँ परमानन्द में "परम" पद का यह रहस्य है कि आनन्द दो प्रकार का होता है - एक शान्तानन्द (आत्मानन्द), दूसरा विषयानन्द जिसको समृद्धानन्द भी कहते हैं। पुत्र वित्तादि के प्राप्त होने पर जो आनन्द होता है वह विषय सापेक्ष होने से विषयानन्द कहलाता है, परन्तु

उसके क्षणिक होने की वजह से योगियों द्वारा यह उपेक्षणीय समझा गया है, इससे अतिरिक्त आत्मानन्द है जिसको नित्यानंद कहते हैं। जैसा कि "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इस सूत्र में कहा गया है। इसके प्राप्त होने पर तमाम हृदय ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं और सम्पूर्ण संशय भी दूर हो जाते हैं। और अन्त में पाप पुण्यादि समस्त कर्मों से छुटकारा पाकर मनुष्य मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। तथाहि –

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

ऐसे नित्यानन्दघन माधव को - मा लक्ष्मीः तस्याः धवः पतिः लक्ष्मीपति नारायण अथवा मा पृथ्वी तस्याः धवः पतिः स्वामिः, अर्थात् पृथ्वी माता द्यौः पिता यानि जगत् पिता उस सूर्यरूप विष्णु भगवान् को नमस्कार करता हूँ।

प्रश्न २ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥

यन्नास्ति - जो विद्यमान नहीं है। अथवा तिरस्थितं न प्रतिभाति, अन्तर्लीन होने से जिसका स्वरुप प्रत्यक्ष नहीं भासता हो उसको असत् कहते हैं, अर्थात् परसत्ता से प्रतिष्ठित होने पर भी स्वरुप से अप्रतिष्ठित प्रतिक्षण विलक्षण नास्ति अस्ति नास्तीतित्रिक्षणयुक्त प्राणरूपतत्व को असद् ब्रह्म कहते हैं। जैसे कि शतपथ में लिखा –

"असद्वा इदमग्र आसीत् - किं तदसत्। ऋषयो वावतेऽग्रेऽसदासीत।
के ते ऋषयः - प्राणा वा ऋषयः।" शत.

यदि हास्ति, तो विद्यमान यानी सत्ताश्रय है। अथवा यद्रूपमाविः प्रतिभाति। नामरूपकर्म्मद्वारा जिसका स्वरूप प्रत्यक्ष भासता हो उस सर्वाकाशव्यापी सर्वदा एक रूप से सर्वत्र स्थित रहने वाले त्रिकालाबाधित प्रतिष्ठारुप तत्व को सद्ब्रह्म कहते हैं जैसा कि श्रुति कहती है।

"सदेवेदं सौम्य अग्र आसीत। कथमसतः संजायेत।
प्रत्यस्ताशेषभेदं यत सत्ता मात्रमगोचरम्।
वचसामात्म सेवेद्यं तद्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥ १.
अस्तीति बुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥ २.
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अस्तिब्रह्मेति चेद्वेदसंतमेनं ततो विदुः॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। ब्रह्मैवेदं सर्वं। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। अयमात्माब्रह्म। अविनाशी वा अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा।" उप. अयं भाव:। अनादिकाल से अनन्तकाल तक स्थित रहने वाला तथा प्रतिक्षण विलक्षण नित्य परिवर्तनशील विरुद्ध धर्मद्वय समष्टि इस विश्व के सत् और असत् ये दो तत्व हैं। ऐसा तत्वदर्शी विद्धानों का सिद्धान्त है। उसमें स्थिति धर्मप्रयोजक प्रतिष्ठातत्व को सद्ब्रह्म अर्थात् आत्मा कहते हैं। और "मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतिक्षण विलक्षण नित्य परवर्तनशील कार्यस्वरुप प्राणरूपतत्व को असद् ब्रह्म (कर्म या मृत्यु) कहते हैं। इनका निर्वचन वेद तथा अन्यान्य शास्त्रों में नाना प्रकार से हैं। तथा हि—

१. ब्रह्म च कर्म्म च - ब्रह्मैवेदं सर्वं। कर्मण्य कर्म य: वश्येदकर्मणि च कर्म य: (गीता)

२. रस: बलं च - अस्तीति प्रतिपत्तिहेतु: रस:। रसो हि स: रसमेव लब्ध्वा नन्दी भवति। को ह्येवान्यात क: प्राणयात् यथेष आकाश आनन्दो न स्यात् रसे प्रसुप्तो मृत्युर्बलम्। रसं बलते चेष्टयतीति बलम् (उ.)

३. अमृतं मृत्युश्च - मृत्योर्मा अमृतं गमय (शत.)

४. ज्योतिश्च तमश्च - तमसो मा ज्योतिर्गमय (शत.)

५. मूर्त्तं च अमूर्त्तं च - द्वावेव ब्रह्मणो रूपे। मूर्त्त चामृर्त्त च। (उ.)

६. सत् च असत् च - असतो मा सद् गमय। (शत.)

७. पूर्णं च शून्यं च - तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। नैवाग्रे किंचनास। ऋ (उ.)

८. कारणं च कार्यं च - यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यन्त्यभिसंविशति तद् ब्रह्म। सर्व खल्विदं ब्रह्म "(शारीर.) (उ.)

९. आत्मा च शरीरं च - "आत्मैवाधस्तात् आत्मापुरस्तात् आत्मादाक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वम्। न प्राणमन्तरात्मेत्याख्यायते। तत्र वागुपहिता अथ वागेवेदं सर्वम्।"

१०. विद्या च अविद्या च - "विद्यां चेवाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।"

११. सत् च त्यं च - तदेतत् त्रयक्षरं सत्यम्। स इत्येकमक्षरं, तीत्येकमक्षरं अमित्येकमक्षरं। प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यम्। मध्यतोऽनृतम्। तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतं सत्यभूपमेव भवति।" (शत.)

इस तरह भिन्न भिन्न स्थानों में नाना प्रकार से इन पदार्थों का विवेचन मिलता है परन्तु इसमें संशय नहीं करना चाहिए। क्योंकि असत् पहिले था और सत् पीछे हुआ यह एक प्राचीन मतवाद है। उसका यह अभिप्राय है कि सृष्टि उत्पन्न होती है तो उसका प्राग्भाव अवश्य था। जैसे घटोत्पत्ति के पूर्व घट का प्राग्भाव स्वतः सिद्ध है। उस अभाव के द्योतक असत् पद को पूर्व रखकर "असद् वा इदमग्र आसीत्।" यह श्रुति वाक्य है। यद्यपि घटोत्पत्ति के पहिले घट नहीं था तथा घट का उपादान कारण मृत्तिका अवश्य थी। उसके वगैर घटोत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। तद्वत् सृष्टि का मूलतत्व ब्रह्म प्रथम अवश्य था, उसके बिना सृष्टि की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। जैसा कि श्रुति कहती है — "सदेवेदं सौम्य अग्र आसीत्। कथमसतः संजायेत।" यह हुआ सत् और असत् पदार्थ का विवेचन, परस्पर विरुद्धधर्मा (अर्थात् अनमेल) इस पदार्थों के विषय में सूक्ष्मतत्वदर्शी विद्वानों का ऐसा सिद्धान्त है कि — असतः भावो न विद्यते, सतः भावो न विद्यते, अर्थात् यः सत्तया भाव्यते स भावः भावनाभिर्धियंते वा स भावः, ये उद्भवन्ति ते भावाः। पदार्थाः। जो उत्पन्न पदार्थ सत्ता से अथवा भावना से स्पष्ट प्रतीत हो सके और जात्याकृति व्यक्ति का विभाग जिसमें हो उसे भाव या पदार्थ कहते हैं, जैसा लिखा है — "जात्याकृतिव्यक्त यः पदार्थाः। द्रव्ये गुणकर्मणां सामान्यविशेषाभ्यां ये समवायास्ते पदार्थाः।" सत्तासिद्ध, भातिसिद्ध और उभयसिद्ध भेद से पदार्थ तीन तरह के होते हैं, अतएव "अस्तीति भाति भातीत्यस्ति। (है इसलिए भासता है) भासता है इसलिए है। ऐसा लौकिक व्यवहार देखा जाता है। इनमें घट पदार्थों सत्ता सिद्ध और दिग्देशकालपरिमाण पृथकत्वादि भातिसिद्ध हैं।"

"तन्तुषु पट" इत्यादि के समवाय सम्बन्ध उभयसिद्ध है। ऐसी अवस्था में स्वरूपतः अप्रतिष्ठित-प्रतिक्षण-विलक्षण नित्यपरिवर्तनशील असत् प्राणवत् इस कार्यरूप शरीर की (भावो न विद्यते) त्रिकालाबाधित सत्य की तरह चिरकाल तक प्रतिष्ठा नहीं रह सकती। अर्थात् असतः सत्वमनुपपन्नम्। क्योंकि —

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ (गीता)

ऐसा सिद्धान्त है। उसी तरह "एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्" इति श्रुतिवाक्य के अनुसार लोकत्रयव्यापी अविनाशी प्रतिष्ठा तत्वरूप उस परब्रह्म परमात्मा का (अभावो न विद्यते) कभी नाश (अपलाप) नहीं होता। सत्पदार्थ कभी असद्रूप नहीं हो सकता। ऐसी

अवस्था में तेरा शोक करना सर्वथा अनुचित है, यह युद्ध स्थल में श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति उपदेश है ।

प्रश्न ३. पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अयं भावः ।

" तस्मात्परं नापर मस्ति किंचित्

तस्मान्नाणीयो न ज्यायो स्तिकिंचित् ।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-

स्तेनेदं पूर्ण पुरूषेण सर्वम् ॥ " (ऋ.वे.)

इस श्रुति का अश्वत्थवृक्षत् स्थित (निश्चल) उस अमृतमय पूर्णरूप पुरुष से सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है यह तात्पर्य है । अक्षर क्षर को पेट के लिए हुए अव्ययात्मा ईश्वर को पुरुष कहते हैं । जैसा गीता में लिखा है–

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव व ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो क्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयभाविश्य विभत्यर्थव्यय ईश्वरः ॥ इति गीता ॥

इस त्रिपुरुष को गूढात्मा अमृतात्मा कहते है । दिग्देशकालादि से अनविच्छन्न अखण्ड पूर्ण रूप सर्वाकाशव्यापी द्वित्व बहुत्वादि भेद से रहित सदा एक रूप सदा एक रूप से रहने वाला अमृत पदार्थ है । इसका स्वरुप ऐसा है –

सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यन्नव्येति तदव्ययम् ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।

समं सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

इससे रिक्त कोई भी स्थान नही है : अतएव सर्वाकाशव्यापी सर्वत्रानुस्यूत इस अमृततत्व को पूर्ण ब्रह्म कहते हैं । यह पुरुष रूप पूर्णब्रह्म एक पूर्णपदार्थ है । दूसरा पूर्ण पदार्थ कर्म है । यद्यपि "नेवाग्रे किंचिन्नास" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से "शून्यलक्षणो मृत्युः" यह बात सिद्ध होती है । तथापि सर्वत्र व्याप्त पूर्णरूप अमृत पदार्थ के आश्रित मृत्यु पदार्थ भी सर्वत्र व्याप्त होने से पूर्णरुप कहलाता है। तथाहि अर्धं वै प्रजायतेरा त्मनोमर्त्यमासीदर्धममृतम् । शत.

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमतमाहितम् ।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वती ॥
तस्मान्मृत्युर्नम्रयते " शत.

इस अव्ययालम्बित अक्षर प्रजापित का आधा हिस्सा नित्य क्षरणशील होने की वजह से मृत्यु से आक्रान्त अर्थात् मर्त्य भाग कहलाता है जिसको क्षरपुरुष कहते हैं । उस पूर्णरूप अमृत के गर्भ में सर्वत्र मृत्यु प्रविष्ट रहता है और मृत्यु के पेट में अमृत प्रविष्ट रहता है । अतएव मृत्यु नहीं होती है । यह इन श्रुतिवाक्यों से सिद्ध होता है । सर्वत्र परिपूर्ण अमृत पदार्थ से रिक्त स्थान न होने पर भी अमृतपदार्थ धामच्छद नही है । अतः उसमें दूसरे पूर्णरूप मृत्युपदार्थ का प्रवेश हो जाता है ।

एतावता,एक पूर्णरूप अमृत के पेट में सर्वत्र,दूसरा पूर्णरूप यह मर्त्य भाग है जिससे इस कार्यरुप विश्व का स्वरूप बनता है ।

विश्व सर्वत्र मृत्यु से आक्रान्त है यानी कर्म से रहित नहीं है ।

अतएव— " नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" गीता

ऐसा भावत् सिद्धान्त है । अर्थात् ब्रह्म में कर्म,अमृत में मृत्यु,आत्मा में विश्व,कर्म में ब्रह्म, मृत्यु में अमृत, विश्व में आत्मा इस तरह एक का स्वरूप एक दूसरे पूर्ण हैं । इस स्थिति का द्योतक "पूर्णमदः पूर्णमिदं" यह पद है । यहाँ अदः पद से विश्व का मूल कारण सर्वाकाशव्यापी अमृतमथ पूर्णरूप आत्मब्रह्म समझना चाहिए : और इदं पद जहाँ तक अमृत है वहां तक का सारा भाग कर्मपथ मृत्यु से आक्रान्त विश्व का द्योतक है । यह हुआ "पूर्णमदः पूर्णमिदं का अर्थ । अब "पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" इससे आगे का क्रम बतलाते हैं । यह अभिप्राय है कि "सर्व धर्मोपपत्तेश्च" अर्थात् सर्वबलविशिष्ट, सर्वशक्ति, धन, पूर्णरूप उस सच्चिदानन्द ईश्वर से सच्चिदानन्दस्वरुप इस विश्व का उदंचन उत्पत्ति होता है । अतएव—

"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।" उ.
जायमानो ह वैजायते एताभ्यः सर्वाभ्यो देवताभ्यः । शत.

यथाण्डे तथा पिण्डे ।" ऐसा सिद्धान्त है : अथवा अनन्तबल धनपरात्पर में माया[१] कला[२] गुण[३] विकार[४] आवरण[६] अंजनादि[७] पृथक्-पृथक् बलावच्छिन्न परातपर[१] पुरुष[२] षोडशी[३] सत्य[४] यज्ञ[५] विराट्[६] विश्व[७] इस तरह सप्त संस्थामथ विश्व का स्वरूप बन जाता है । यह "पूर्णात्पूर्णमुदच्यते" इसका तात्पर्य है । इससे सृष्टिक्रम बतलाया गया है ।

"पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।"

इससे प्रति संचर क्रम में भी ब्रह्म कर्म से परिपूर्ण इस विश्व में आत्म ब्रह्म ही शेष रहता है । यह बात बतलाई गई है ।

" एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन ।" वृ.उ.

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥" वृ.उ.

इत्यादि श्रुतिवाक्यों के अनुसार मृत्युगत नानात्व बुद्धि को हटाने पर अर्थात् मृत्युमय पूर्णरूप को निकाल देने पर "नेतिनेत्यात्मा अशीय्यो नहि शीय्यते, असंगो नहि सज्जते,असितो न व्यथते,"यह पूर्णरूप अविनाशी आत्मब्रह्म ही शेष रह जाता है । इत्यर्थः । इसका स्वरूप लोक में नव संख्यात्मक है विस्तारभय से उसका यहाँ लिखना उचित नहीं समझकर छोड़ दिया गया है । इसको जानने की इच्छावाले जिज्ञासु लोग श्री गुरुचरणो द्वारा निर्मित गीताविज्ञानभाष्य के तृतीय काण्डान्तर्गत गीताकृष्ण रहस्य का अवलोकन करें, उसमे नव संख्या का वैज्ञानिक स्वरूप तथा अन्यान्य श्री कृष्ण सम्बन्धी नाना वैज्ञनिक तत्वो का सुविशद रूप से वर्णन है । गीता में प्रदर्शित वैज्ञानिक भावों का समझाने के लिए यह एक अलौकिक ग्रन्थ है ।

प्रश्न ४- नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

अयं भावः अंशो नाना व्यपदेशात्" ममैवांशोजीवलोकेजीवभूतः सनातनः"इत्यादि वाक्यो से विराट् रूप उस महापुरुष ईश्वर का ही एक अंश योगमायाव्यवच्छेद से प्रवर्ग्य रूप में अल्पाल्प होता हुआ क्लेशकर्मविपाकाशयादि अविद्या रुप पाप्माओं से संसृष्ट होकर जीव प्रजापति बन जाता है । "दशाक्षरा वै विराट् "ईश्वर का विराट् रूप दशावयव है । अतः तदंशभूतजीव भी दशात्मसमष्टि क्षुद्र विराट् कहलाता है । ईश्वर में अमृत, ब्रह्म, शुक्र- ये तीन विभाग हैं । जैसा श्रुति कहती है—

"तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते" इति ।

१- अमृत भाग में - ४,परात्पर, अव्यय-अक्षर-क्षर यह आत्म चतुष्टयी है । ।
२- ब्रह्म में - ५ स्वयंभू परमेष्ठी,सूर्य-चन्द्र-पृथ्वी यह पांच प्राकृतात्मा है ।
३- शुक्र वर्ग में-वाग्-आपः-अग्निः । अग्नि-आपः-वाक् ॥ इस तरह मर्त्यामृत शुक्र समष्टि है ।

एवं ४\५\१ मिलकर संपूर्ण विश्वविराट् रूप ईश्वर का स्वरूप है । तद्वत् जीव में भी आत्मग्राम,देवग्राम,भूतग्राम यह तीन भाग हैं ।

१. उसमें आत्मग्राम में परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर- ये चारों मिलकर एक गूढोत्मा कहलाता है । यह अमृत भाग है ।

२. शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा और भूतात्मा ये पाँच क्रम से अव्यक्त, त्रैगुण्य, बुद्धि, मन शरीर के नाम से अध्यात्म में प्राकृतात्मायें हैं जो कि ब्रह्म सत्य के नाम से पुकारी जाती हैं ।

३. और, पंच महाभूत से बना हुआ शरीरात्मा बाह्यात्मा कहलाता है । इस तरह ४-५-१ मिलकर दशात्म समष्टि जीव प्रजापति का स्वरुप है ।

१- अव्ययाक्षर क्षर से गूढोत्मा का स्वरुप बनता है । यहाँ सर्वालम्बन अव्यय है : सर्वशक्ति घन सर्वकर्ता कर्ताजगन्निर्माता अक्षर है विपरिणामी उपादान कारण क्षर है ।

२- पंच विश्वसृज, पंच पंचजन, पंचपुरंजन- ये मिलकर एक शान्तात्मा

३- सत्व-राज-तम, अथवा आत्मा प्राणा:प्रशव: भेद से त्रिपर्वा त्रैगुण्यात्मा

४- तथा धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य- ये ४; विद्या बुद्धि और अविद्या: अस्मिता, रागद्वेषो, अभिनिवेशश्चेति ४; अविद्याबुद्धि से विज्ञानात्मा का स्वरुप बनता है ।

५- तद्वत् पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, प्राणापानव्यानसमानोदानरूप पंच प्राण मिलकर प्रज्ञानात्मा कहलाता है ।

६- पंचभूतमात्रा, पंचप्राणमात्रा, पंचप्रज्ञामात्रा - ये मिलकर भूतात्मा का स्वरुप बनता है। इनमें शुक्रवर्गीय भूतात्मा के तीन विभाग हैं । शरीरात्मा[१]-हंसात्मा[२]-दिव्यात्मा । इनमें दिव्यात्मा फिर तीन तरह का होता है। वैश्वानर[३]-तेजस[४]-प्राज्ञ-उनमें प्राज्ञ भी तीन तरह का होता है । कर्म्मारूपा[५]-चिदाभास[६]-ईश्वर; ईश्वरांश भी तीन तरह का होता है- उउर्ज्[७] - श्री[८] - विभूति: ।

"यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमद्वर्जतमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥"

(गीता)

इस तरह शुक्रवर्गीय भूतात्मा में ९ विभाग होते हैं । एतावता सम्पूर्ण मिलकर १८ आत्म समष्टि, । जीव प्रजापति में है ।

इनमें वैशेषिकशास्त्रोक्त क्षेत्र रूप इस शरीरात्मा (भूतात्मा) का आलम्बन सांख्यशास्त्रोक्त क्षेत्रज्ञरूप विज्ञानात्मा है । जैसा कि मनुस्मृति में लिखा है—

"योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षेत ।
करोति यस्तु कर्म्माणि भूतात्मा सोच्यते बुधैः ॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्व सुखं दुःख च मन्मसु ॥"इति

उस विज्ञानात्मा का आलम्बन अव्यक्तात्मा अक्षरात्मा है । यह शारीरिक सिद्धान्त है । तथाहि-

"यथा सुदीप्तात् पावकात्सहस्रशों विस्फुलिंगाः प्रादुर्भवन्ति ।
तथा क्षराद् विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चेवौपि यन्ति ॥"
इति (मुण्ड.उ.)

पुनः गीता में तथा अन्य उपनिषदों में सर्वालम्बन अव्ययमात्मा बतलाया है ।

"यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ॥
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।"इति (गीता)
अत्रेदं बोध्यम् ।
"एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो स्य न कर्म्मणा वर्धते नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न कर्म्मणा लिप्यते पापकेना ॥" (वृ.उप.)

इस श्रुति वाक्य के अनुसार प्रथम विज्ञानात्मा ही असंग है । पुनस्तदालम्बनभूत अक्षरात्मा, "कूटस्थो क्षर उच्यते" इत्यादि प्रमाणों से अविनाशी कूटस्थ, नित्य जन्ममरणादि द्वन्द्व धर्मा से असंस्पृष्ट कहा गया है । फिर तदंतर्निरुढ कार्य कारण रहित सर्वालम्बन लोकत्रयाधार सर्वाकाशव्यापी अव्यात्मा अमृतात्मा है । जैसा लिखा है –

"न तस्य कार्य करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु ।
कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि न करोति न लिप्यते ॥
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
न चाहं तेषु ते मयि ।"
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥ इत्यादि ॥

ऐसी अवस्था में छेदन, शोषण, दाहादि भौतिक गुणों का प्रभाव प्राणमात्रा, प्रज्ञामात्रा, भूतमात्रा से बना हुआ भूतात्मा का एक भाग भूतमात्रा से सम्बन्ध रखने वाले पंचभौतिक पिण्डरूप शरीरात्मा पर ही पड़ता है न कि अन्तरर्निगूढ कार्य कारणरहित निर्लेप उस अव्ययात्मा पर असंगत्वात् ।

अपिच - सर्वाकाशव्यापी लोकत्रयाधारज्ञान ज्योतिरूप उस अव्ययात्मा पर सूर्यचन्द्राग्निविद्युत् रूप भौतिक ज्योति का प्रभाव नहीं पड़ता यह इस श्रुत्यन्तर से भी स्पष्ट जाहिर है । तथाहि -

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतो यमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥"

आत्मा से इन सबको प्रकाश मिलता है, न कि यह आत्मा को प्रकाशित करते हैं । एतावता भौतिकगुणो से असंस्पृष्ट, असंग, अल, शाश्वतरूप यह अव्ययात्मा है । यही बात लक्ष्य में रखकर श्रीकृष्णभगवान् अर्जुन के प्रति उपदेश करते हैं —

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः५ ॥"

एनं अव्ययमात्मानं शस्त्राणि न छिन्दन्ति - भौतिकपिण्ड समूह के अवयवादि विश्लेषण को छेदन कहते हैं, सौर प्रकाशवत् सर्वत्र व्याप्त अव्ययात्मा का शस्त्र प्रहार से छेदन नहीं हो सकता । अच्छेद्यत्वात् तथा "नैनं दहति पावकः" भौतिक पदार्थों के साथ सौर पदार्थों के विश्लेषण को दाह कर्म्म कहते हैं । यह भी उस अव्ययात्मा में नहीं हो सकता । अदाह्यत्वात्, यह "नैनं दहति पावकः" इस पद से कहा है । तद्वत् "न चैनं क्लेदयन्त्यापो" अर्थात् पानी द्वारा वारुण पदार्थों के संश्लेषण को क्लेदन कहते हैं, जिससे दुर्गन्ध वगैरह पैदा हो जाती है। यह कर्म्म भी ज्योतिस्वरुप अव्ययात्मा पर नहीं हो सकता, अक्लेद्यत्वात् । और मारुत (वायु) द्वारा रुक्षता धर्म प्रयोजक रौद्र पदार्थों के संश्लेषण से शोषण भी नहीं हो सकता, अशोष्यत्वात् । यह "न शोषयति मारुतः" इस पद से बतलाया गया है ।

प्रश्न ५. गवां शतसहस्त्रं च ग्रामाणां च शतं वरम् ।
सर्वाभरणसम्पन्ना मुग्धाकन्यास्तु षोडश ॥

अयं भावः । १००,००० गौदान करें अथवा १०० ग्राम पुण्य करे, इन दोनों से भी श्रेष्ठ है कि सम्पूर्ण आभूषण से युक्त (मुग्ध) अर्थात् जो रजस्वला न हुई हों ऐसी १६ कन्याओं का दान करे (विवाह करा देवें) ।

प्रश्न ६. एक राम दशरथ का छोरा, दूजा राम घट घट विचरा।
तीजा राम सबसे न्यारा, आप काम किसके सहारा ॥

अयं भाव: - आत्मा, ईश्वर और जीव भेद से, दो प्रकार का होता है। उनमें प्रथम अधिदैवत में ईश्वर की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं, कि विश्व, विश्वात्मा, विष्वातीत इस तरह तीन भागों में बँटा हुआ ईश्वरात्मा है। ऐसी अवस्था में "एक राम दशरथ का छोरा" यह पद उत्पन्न नाशधर्म्मा प्रतिक्षण विलक्षण विश्व की तरफ इशारा करता है। "दूजा राम घट घट विचरा" यह पद "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" अर्थात् सूर्यचन्द्रपृथव्यादि चराचर रूप जगत् को पैदा करके स्वयं आत्मरूप से सबमें प्रविष्ट हो गया, इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व में आत्मरूपेण सर्वानुस्यूत उस विश्वात्मा को बतलाता है। जैसा कि श्रुति कहती है –

"तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिराप: स्त्रोतस्वरणीषु चाग्नि:" इत्यादि। तीसरा पद दोनों से अतिरिक्त उस विश्वातीत को बतलाता है जो कि न आत्मा है और न विश्व है क्योंकि विश्व के परिच्छिन्न होने की वजह से तत्प्रविष्ट विश्वात्मा भी घटस्थित घटाकाशवत् परिच्छिन्न भाव को प्राप्त होता है, परन्तु इनसे अतिरिक्त - "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" - इस श्रुतिवाक्य के अनुसार अनन्त अर्थात् परमभूमारूप आनन्दघन वह निर्विशेष ब्रह्म जो कि परिमित सीमा से बाहर सर्वत्र व्याप्त रहता है उस अचिन्त्य वाड्मनसातीत को विश्वातीत कहते हैं जिसके लिए श्रुति कहती है–

"संविदत्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधि:।
यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह।"

इत्यादि उस विश्वातीत को लक्ष्य करके " तीजा राम सबसे न्यारा" यह सन्त वचन है। और वह विश्वातीत सर्वाधार होता हुआ स्वयं निराधार है। जैसे– जाति में जाति, प्राण में प्राण नहीं रहता तद्वत् सर्वाधार का आधार नहीं होता यह आशय "आप राम किसके सहारा" इस चतुर्थ पद का है। यह हुआ अधिदैवत में ईश्वरात्मा का विवेचन ॥

इसी तरह जीव (अध्यात्म) में भी "एक राम दशरथ को छोरा" इस वचन से गीतोक्त त्रिपुरूष पुरुष विज्ञान बतलाया गया है। तथाहि - "एक राम दशरथ का छोरा" यह पद अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते अपक्षीयते, नश्यति, अर्थात् विद्यमान है, उत्पन्न होता है, बढ़ता है, बालयुवावृद्धादि भाव से जिसके स्वरुप में बदल होती है, क्षीण होता है, अन्त में नाश हो जाता है। इत्यादि। षड्भाव विकारों से युक्त कार्यब्रह्मरूप उस क्षर पुरुष पर इशारा करता है।

"दूजा राम घट घट विचरा" यह इशारा है सर्वान्तर्यामी उस अक्षर पुरुष पर जो कि नियति रूप से अन्तर्यमन करता हुआ अन्तर्यामी बनकर सब में बैठा रहता है । जैसा लिखा है—

"ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ॥इति ॥"

अपि च श्रूयते -

"तस्य वा एतस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ
तिष्ठेते । द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठेते ।"
"यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्योऽन्यतरोयं सर्वाणि भूतानि न
विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरोपमयति ।
एषत आत्मा अन्तर्याम्यमृत" इति ।
यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्रांणमन्तरोपमयति ।
यं वाड्. न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरोपमयति ।
यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं त आत्मा अन्तर्याम्यमृता ।

इत्यादि । (वृ. ७ ब्रा) -

इस अन्तर्यामी कारण ब्रह्मरूप परावर पुरूष को बतलाने वाला दूसरा पद है । "तीजा राम सबसे न्यारा", यह कार्य-कारणातीत उस निर्लेप अव्ययात्मा को बतलाता है जो कि प्रतिष्ठारूप होने से सर्वाधार बतालाया गया है । जैसे जाति में जाति, प्राण में प्राण नहीं होता । उसी तरह सर्वाधार का आधार नहीं होता । यह आप राम किसके सहारा" इस चौथे पद से बतलाया गया है ।

आधुनिक काल में वैदिक विषयों की पठन पाठन प्रणाली वैदिक परिभाषा ज्ञान के शिथिलप्राय नजर आ रही है । अतएव प्रश्नकर्ता महाशय को यह बात लिखना अनुचित न होगा कि ऐसे अत्यन्त गहन गुरुगम्य विषयों के सम्बन्ध में पत्र द्वारा प्रश्न करना तथा पुनः पत्र द्वारा ही उत्तर देना ये दोनों ही क्रम मेरे ख्याल में अप्रशंसनीय हैं । तथापि "आज्ञागुरूणां ह्यविचारणीया" इसके अनुरोध से शक्ति खोलकर सूक्ष्मरूप में उत्तर लिखना पड़ा है । परन्तु इतने लिखने पर भी सम्भव है यह विषय यथावत् समझ में न आवे, अतः इस विषय में यदि और भी संशय रह जावे तो उन संशयों को हटाने के लिए जिज्ञासु भाव से श्रीगुरुचणो में कम से कम छः मास तक यदि बाकायदा पढ़ने का प्रयास करें तो अवश्य निःसंशय रूप से सबका सथावत् तत्वविज्ञान समझ सकते हैं ।

न संशयं प्राप्य मनोहतः स्याद् ध्रुवं परीक्ष्ये पथि संशयः स्यात् ।
संशय्य निर्णेतुमुपैतु यत्नं प्रयत्नतोऽन्विष्यलभेत रत्नम् ॥

भवदीय

पं. हेरम्ब शास्त्री

पण्डिजी के गम्भीर शास्त्रीय ग्रन्थों के विषय में विवेचन और समीक्षा करने के लिए उतने ही दीर्घकालिक एकान्त अध्ययन की आवश्यकता है । हम इस कार्य के लिए योग्यता और सामर्थ्य का अपने में अभाव अनुभव करते हैं । अतः पोथीखाना में प्राप्त पत्रावलियों के आधार पर ही पण्डित जी सम्बन्धी वृत्तान्त यहां उद्धृत किया गया है । इसलिए उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के क्रमशः परिचायक उन्हीं के रचे दो पद्य उद्धृत करके विराम करते हैं —

व्यक्तित्व

नित्यैकान्तसदो निवासनिरतो शान्तिप्रियः सुस्थिरः
शीघ्रक्राधमहोदयः कृशतनुर्मित्या त्र्यशीत्यङ्गुलः ।
अन्यस्वार्थ - विधानबाधविमुखो निर्द्रोह निष्प्रेमधी
निर्मानो मधुसूदनो भिमनुते सर्वातिगं तन्मतः ॥

— ब्रह्मविज्ञाने

अपने कार्य का लक्षण परिचय उन्होंने इस प्रकार दिया है —

ग्रन्थास्तु लभ्यन्त इहाद्य वैदिका
ये ये तथा तेषु च यान् लभामहे ।
विज्ञानबिन्दून परितश्चितानिमान् ।
संगृह्य तान् दर्शयितुं यतामहे ॥
वेदोक्तवादान् प्रतिपद्य तेषां
समन्वयायैष कृतः प्रयत्नः ।
असाधु यत् तत्र स नः प्रमादः
यत् साधु सर्वः स ऋषिप्रसादः ॥

वेद पुरुष की जीवन गाथा

ओमप्रकाश शर्मा
वरिष्ठ शोध सहायक
राजस्थान प्राच्यविद्या
प्रतिष्ठान, जोधपुर

जयपुर की माधवसिंहकालीन पण्डित सभा में प्रधान, वेदविज्ञानदिवाकर, समीक्षा चक्रवर्ती, वैदिक वस्तुविज्ञान के अप्रतिम विवेचको, महामहोपाध्याय विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन जी ओझा वर्तमान शताब्दी के वैदिक आकाश के देदीव्यमान सूर्य हैं। वस्तुविज्ञान को आधुनिक शैली में सुस्पष्ट करने वाला कोई वैदिक भाष्य अद्यावधि नहीं बना था। वैदिक एवं सनातन धर्म संकट के बादलों से आवृत्त था, ऐसे समय में इस महामनीषी ने इस धरा पर अवतीर्ण होकर वेद की विज्ञानमूलकता सिद्ध कर इसके गौरव को पुनः स्थापित किया था। प्रस्तुत पत्र का मूल उद्देश्य इस महामनीषी के जीवनामृत का रसास्वादन मात्र है। साथ ही अवान्तररूपेण पूर्वपरम्परा पर भी एक सामान्य दृष्टिपात किया गया है। क्योंकि पूर्वपरम्परा ही भावी परम्परा का आधार होती है और वह भी इसलिए कि भावी वेद सम्मेलन का मुख्य प्रतिपाद्य पण्डित ओझा का विज्ञानवादी भाष्य होने से उसकी पूर्वपीठिका के रूप में ऐसे मनीषी के जीवन के उदात्त प्रसंगों का स्मरण न केवल पुण्य स्मरण होने से अवसर को पवित्रता प्रदान करेगा अपितु ऐसा इसलिए भी आवश्यक है कि कदाचित् उनके जीवनदर्शन में से उनके प्रतिपाद्य दर्शन का किंचित् दिग्दर्शन हो सके।

आर्य जाति के गौरव ग्रन्थ वेद निखिल भू-मण्डल में धर्म एवं ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादक होने से इन्हें "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनुस्मृति), वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः (गीता) अथवा "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" कहकर, इनका वैशिष्ट्य दर्शाया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में तो पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि "वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशः" कहकर वेदार्थ के स्पष्टीकरण में इन्हें सहायक माना गया है। संक्षेप में वेदज्ञान के अभाव में आत्म अथवा ब्रह्मज्ञान सम्भव नहीं है और ब्रह्म को जाने बिना दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति संभव नहीं है।

वेद के दुरूह अर्थ को स्पष्ट करने में विगत शताब्दियों एवं वर्तमान में अनवरत प्रयत्न किये जाते रहे हैं – भाष्यकारों के इन प्रयासों को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। सायण, महीधर, उव्वट आदि प्रथम वर्ग में, पाश्चात्य भाष्यकार रुडोल्फ, मैक्समूलर, मैकडोनल, ग्रिफिथ, स्मिथ आदि द्वितीय वर्ग में तथा वर्तमान शताब्दी के महर्षि दयानन्द सरस्वती, अरविन्द, विद्यावाचस्पति ओझा, मोतीलाल शास्त्री आदि तृतीय वर्गान्तर्गत देखे जा सकते हैं। पाश्चात्य भाष्यकारों का दृष्टिकोण मूलतः विकासवाद के सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं लेकिन उसका मूलाधार सायणीय भाष्य ही है – दूसरे उनका दृषिकोण भारतीय चिन्तन परम्परा के प्रतिकूल होने से समीचीन नहीं माना गया है। कालप्रवाह में उद्‌भासित भारतीय चिन्तन परम्पराओं को हम रहस्यवाद, अध्यात्मवाद, प्रकृतिवाद अथवा मनोविज्ञान आदि विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं। महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण समाजवादी व स्पष्ट है। उन्होंने वेदों को सत्यविद्याओं का निधान, स्वतः प्रमाण एवं अन्य शास्त्रों को परतः प्रमाण स्वीकार किया तथा अपने मत के समर्थन में वेदों की अन्तः साक्षियों का अवलम्बन लिया।

इन सब वेदभाष्यों की तुलना में विद्यावाचस्पति पण्डित ओझाजी का विशुद्ध विज्ञानवाद पर आधारित भाष्य निस्सन्देह प्रशंसनीय है तथा वेदों के सम्यक् परिज्ञान हेतु अपरिहार्यरूपेण मौलिक एवं महत्वपूर्ण है। पण्डित जी का अटूट अभिमत था कि प्रत्येक शास्त्र में निहित परिभाषा से ही उसका परिज्ञान संभव है, अतः वेद के रहस्य को समझने हेतु उसकी इतस्ततः विकीर्ण एवं लुप्तप्रायः परिभाषाओं को ढूंढना पड़ेगा। यही कारण है कि पण्डितजी ने नूतन वेदभाष्य की रचना कर उन परिभाषाओं को ही विद्वज्जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया था। ओझा जी का विज्ञानवाद कोई कल्पना प्रसूत मत नहीं है वह तो पूर्णतया श्रुति, स्मृति एवं पुराणों पर आधारित है तथा इनके विरुद्ध उक्त भाष्य में कुछ भी अभिहित नहीं है। अपने इन्द्रविजय[१] नामक ग्रन्थ में उन्होंने कहा है – ब्राह्मणात्मक वेदराशि से जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है उसे ही मैंने अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है, निर्मूल एवं नवीन कुछ भी नहीं है - नवीनता अगर है तो मात्र विषय प्रदर्शन में। अपने "ब्रह्मसिद्धान्त" नामक ग्रन्थ के प्रारंभ में उन्होंने पुनः प्रतिपादित किया है कि "वैदिक ग्रंथों में वैज्ञानिक सिद्धान्त यत्र - तत्र बिखरे पड़े हैं, मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उन विकीर्ण सिद्धान्तों का एकत्रीकरण किया है।"

पं. ओझाजी के २२८ ग्रंथों में ब्रह्मविज्ञान विषयक ४० ग्रंथ है। जिन सिद्धान्तों के परिज्ञान हेतु शताब्दियों से वेदों का दोहन होता रहा है, उन्हीं सिद्धान्तों को नवनीत रूप में

पण्डित जी ने हमारे सामने रखा है । आवश्यकता है इस निधि को समझने की - उसे प्राप्त करने की एवं उसे प्रकाश में लाने की ।

बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिलान्तर्गत गाढ़ा ग्राम वास्तव्य पं. श्री वैद्यनाथ झा[२] के घर पर संवत् १९२३ की कृष्णा जन्माष्टमी की रात्रि वेला में एक बालक का जन्म हुआ था जिसे मधुसूदन संबोधन से अभिहित कर नाम प्रदान किया गया। गाढ़ा ग्राम सीतामढ़ी रेल्वे स्टेशन से १० मील की दूरी पर दक्षिण की ओर स्थित है । इनकी प्रारभिक शिक्ष अपने पिता की देख रेख में सम्पन्न हुई थी । इनके पितामह पं. देवनाथ झा मझोलिया राज्य के प्रधान पण्डित थे । इनके पितृव्य पं. राजीव लोचन जयपुर नरेश रामसिंह द्वितीय के सभा पण्डित थे जिन्होंने "धर्मचन्द्रोदय[३]" नामक ग्रंथ की रचना की थी ।

सन्तति सुख से वंचित पं. राजीव लोचन अपने अनुज के सुपुत्र मधुसूदन को गोद लेकर जयपुर ले आये तथा योग्य विद्वानों की देख रेख में संस्कृत, फारसी एवं आंग्लभाषा में उनकी शिक्षा प्रारम्भ कर दी गई । अंग्रेजी एवं फारसी के सामान्य ज्ञान के बाद इन्होंने नियमित संस्कृत शिक्षा सुप्रसिद्ध व्याकरणविद् श्री विश्वनाथ झा तथा रामभज जी शास्त्री से प्राप्त की ।

बाल्यकाल से ही विलक्षण मेधावी एवं कुशाग्र बुद्धि इस बालक की प्रत्युत्पन्नमति से विस्मित होकर महाराजा रामसिंह ने एक बार इनके पितृव्य को कहा था – "देखना, यह बालक भविष्य में भारी उन्नति करेगा ।" इनके बाल्यकाल की एक और घटना उल्लेखनीय है । एक बार एक तेजस्वीं साधु[४] इनके घर पर आया । बालक मधूसूदन उस समय घर में एकाकी ही थे । साधु ने बालक को एक चूर्ण की पूड़िया दी और निगलने को कहा । भयवश एवं किंकर्तव्यविमूढ़ता की दशा में बालक ने पुड़िया अपने गले में उतार ली और अन्यमनस्क सा बैठ गया । इधर उनके चाचा आ पहुँचे । पूछने पर साधू ने विनम्र भाव से उत्तर दिया कि – "मैने इस बालक को ब्राह्मी चूर्ण दिया है" – इस घटना के बाद बालक के जीवन में भारी परिवर्तन परलक्षित होने लगे और उनकी प्रतिभा निखरती गई ।

जीवन के पन्द्रह वर्ष पूर्ण करने के पूर्व ही इनके पिता का निधन हो गया । इसके कुछ समय पश्चात् महाराजा रामसिंह भी चल बसे । राज्याश्रय समाप्त हो जाने पर संवत् १९३९ में इन्हें अपनी जन्मभूमि वापस आना पड़ा ।

मिथला में अध्ययन की समुचित व्यवस्था न होने के कारण इस विद्याव्यसनी बालक ने वाराणसी जाने का निश्चय किया । प्रारंभ में घर वालों ने व्यवधान डाले, किन्तु बालक की दृढ़ता मति के आगे उनकी एक न चली । फलस्वरूप बालक ने वाराणसी की

दरभंगा पाठशाला में पं. शिवकुमार जी मिश्र से व्याकरण, साहित्य, मीमांसा, न्याय, वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन कर उन्हें आत्मसात् कर लिया। विद्याध्ययनोपरान्त इनका मिथिला के सुप्रसिद्ध विद्वान् बच्चन झा से "खण्डनखंडखाद्य" पर शास्त्रार्थ भी हुआ जिसमें इनकी ही विजय हुई। उन्हीं दिनों आर्य समाज अपने जोर पर था और सनातनधर्मी अकेले पड़ गए थे। वि.सं. १९४५ में पं. शिवकुमार जी ने इन्हें वैदिक सिद्धान्तों को प्रकाश में लाने का आदेश दिया जिसे इन्होंने वहीं वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार में जीवन लगाने की प्रतिज्ञा कर शिरोधार्य किया।

१७ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह तत्कालीन अलवर नरेश के राजगुरु चंचलनाथ जी झा की सुपुत्री से हुआ। इनकी विवाह विषयक एक घटना बड़ी ही रोचक एवं उल्लेखनीय है। एक दिन भावी श्वसुर एवं जामाता घोड़ा गाड़ी पर बैठकर आ रहे थे। रास्ते में पण्डितजी ने इनकी परीक्षा हेतु एक पद्यांश पढ़कर इन्हें समस्यापूर्ति के लिए कहा।

"गणयति कष्टमहो न साभिलाष:"

घर पहुंचने से पूर्व ही मधुसूदन जी ने समस्यापूर्तिपरक चार विभिन्न श्लोकों का पठन किया जिनमें एक का विवरण निम्नप्रकार से है —

रथ गज वाजि विहारि कोमलांग
शिशुरपि राजकुमार रामचन्द्र:।
समुनि पदाति वदेति हा विदेहान्
गणयति कष्टमहो न साभिलाष:॥

प्रस्तुत पद्य में सीता स्वयंवर हेतु विश्वामित्र के साथ प्रस्थानकर्ता राम का वर्णन है। रथ हाथी एवं अश्वों की सवारी के अभ्यस्त राम आज मुनि विश्वामित्र के साथ पैदल विदेह की ओर प्रस्थान कर रहे हैं। ठीक ही है, साभिलाष पुरुष कष्टों की चिन्ता न कर अपने ईप्सित को प्राप्त कर लेता है। श्लोक का गूढ़ार्थ यह है कि अपने विवाह में मुनि विश्वामित्र के साथ राम ने पदयात्रा की थी। आज मधुसूदन मुनिसदृश चंचलनाथ जी के साथ विवाह हेतु निकले हैं।

वाराणसी में अध्ययन समाप्त कर मधुसूदनजी ने कोटा, बूँदी, झालरापाटन, नीमच, रतलाम इत्यादि स्थानों की यात्रा कर वहां के विद्वानों को प्रभावित किया। बूँदी में तो एक तैलंग भट्ट नैयायिक से आपका शास्त्रार्थ भी हुआ था। रतलाम में आपकी भेंट तत्कालीन शंकराचार्य (द्वारिकापीठ) श्री माधवतीर्थ से हुई और उनके अनुरोध पर आपने

"पर्यटनमीमांसा" नामक ग्रंथ के लेखन में सहयोग किया। इस समय तक ओझाजी का अप्रतिम वैदुष्य व्यापक चर्चा का विषय बन चुका था।

जयपुर राज्य के शिक्षा निदेशक पं. हरिबाबू के आग्रह पर आपने जयपुर की महाराजा आर्ट्स कॉलेज में संस्कृत विभागाध्यक्ष का पद स्वीकार कर लिया। उन्हीं के विशेष अनुरोध पर आपने सिंहलीटीकायुक्त "जानकीहरण" नाटक का सम्पादन किया, किन्तु कार्य पूरा होने से पूर्व ही श्री हरिदास बाबू का निधन हो गया। अन्ततोगत्वा यह ग्रन्थ सन् १८९३ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ किन्तु उक्त प्रकाशन में सम्पादकरूपेण हरिदासबाबू का उल्लेख हुआ, ओझा जी को मात्र भूमिका में प्रदत्त धन्यवाद के दो शब्दों से ही सन्तोष करना पड़ा। इससे कविहृदय को हुई वेदन का अनुमान लगाया जा सकता है।

जयपुर के तत्कालीन राजज्योतिषी श्री केवलराम श्रीमाली के परामर्श से वृन्दावन में निर्मित मन्दिर की प्रतिष्ठा के अवसर पर आपने श्रीमाली जी के निर्णय में ४० दोष निकाले। उस दिन महाराजा माधवसिंह भी इनके वैदुष्य से प्रभावित हुये बिना न ह सके। महाराजा ने वि.स. १९५१ में इन्हें राजकीय संग्रहालय "पोथीखाना" का अध्यक्ष बनाते हुए निजी प्रधान पण्डित और मौजमन्दिर नाम से विख्यात धर्मसभा का अध्यक्ष पद भी प्रदान किया। महाराजा माधवसिंह प्रतिदिन आपसे थोड़ी बहुत शास्त्रीय चर्चा किया करते थे। महाराजा के सभी धार्मिक अनुष्ठान पण्डितजी की अनुमति से ही होते थे। महाराजा की सभी यात्राओं एवं आखेट में पण्डितजी उनके साथ रहते थे।

वि.स. १९५८ में सम्राट एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक पर महाराजा माधवसिंह के साथ आपको इंग्लैंड जाने का अवसर मिला। तत्कालीन रूढ़िवादी समाज की दृष्टि में विदेश यात्रा सर्वथा वर्जित थी किन्तु आपने "प्रत्यन्त प्रस्थान मीमांसा" नामक नवीन ग्रन्थ की रचनाकर ऐसी यात्राओं के औचित्य को सिद्ध किया। विलायत में आपसे भेंटकर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर मैकडोनल, कैम्ब्रिज के प्रोफेसर बैडान, इण्डिया आफिस पुस्तकालय के श्रीयुत् टोनी एवं यूरोप के प्रख्यात विद्वान् टॉमस आदि आपकी नवीन वैदिक विवेचना से अचम्भित हो गये। उस समय का एक और रोचक प्रसंग है –

श्रीयुत् टामस ने इनके साथ एक वार्ता प्रसंग में एक पद्य सुनाया – "मैं सुनता हूँ कि लक्ष्मी सदा मधुसूदन (विष्णु) के पास ही रहती है। तुम भी मधुसूदन हो फिर भी अकेले हो। विवेकी विद्वान् होकर भी लक्ष्मी को (धर्मपत्नी) को कहाँ छोड़ आये ?

शृणोमि लक्ष्म्या मधुसूदनं सुतं

पश्यामि तु त्वामिह चैकमागतम् ।

मन्ये भवन्तं बिवुधं विवेकिनं

कुतस्त्वनैषीन्न सह श्रिय भवान् ॥

पण्डितजी का आशुकवित्व तत्क्षण ही मुखरित हुआ –

मधुसूदनस्य दृष्ट्वा सरस्वतीलालने विशेषरुचिम्

रोषादिवापसृतां लक्ष्मीमनुनेतुमत्र सोऽभ्यायात्"

अर्थात् सरस्वती के लालन में मधुसूदन की विशेष रुचि देख लक्ष्मी रुष्ट होकर यहाँ भाग आई है, उसे मनाने हेतु मधुसूदन यहाँ आया है ।

उन्हीं दिनों में लन्दन के इण्डिया आफिस में पण्डितजी ने वेद धर्मविषयक एक विस्तृत संस्कृत व्याख्यान दिया था जिसमें उनके धाराप्रवाह, संस्कृत प्रवचन एवं विषयनिरूपण की नवीन शैली से उपस्थित श्रोतागण स्तब्ध रह गए थे । वहाँ के समाचार पत्र "वैस्टमिनिस्टर[५]" और "दि सन[६]" ने इस विद्वान् को वैदिक विज्ञान एवं दर्शनों की निधि और भारत को उज्जवल करने वाले एक देदीव्यमान नक्षत्र के रूप में आंका था ।

एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक पर आपने कुछ पद्य सम्राट को भेंट किए थे जिनके प्रत्युत्तर में सम्राट[७] द्वारा धन्यवाद सहित आवको कोरोनेशन मेडल प्रदान किया गया था ।

विदेश यात्रा से लौटने पर पण्डितजी ने अपने गुरु की आज्ञानुसार वेदार्थ परिशीलन जारी रखा तथा इसके वास्तविक अर्थ को उजागर करने हेतु समस्त संहितायें, ब्राह्मणग्रन्थ, सूत्र-साहित्य, पुराण एवं रामायणादि का विशद अध्ययन कर सैकड़ों ग्रंथों की रचना की । इस कष्टसाध्य कार्य में पण्डिजी ने अपने जीवन के ५० अमूल्य वर्ष लगा दिये ।

सन् १९०५ के कुंभी में "भारत धर्म महामण्डल" के महाधिवेशन पर जयपुर की ओर से ओझाजी ने भाग लिया था । उस समय आपके व्याख्यान से सभी उपस्थित विद्वान् मुग्ध हो गए । दीर्घकाल तक आपके व्याख्यान की चर्चा विभिन्न समाचार पत्रों में होती रही । सन् १९०६ में काशी के कांग्रेस अधिवेशन पर दिया गया आपका एक अन्य भाषण भी काफी चर्चित रहा । वि. सं. १९९३ में "अखिलभारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन" की ओर से आपकी हीरक जयन्ती मनाई गई । यह महोत्सव जयपुर के रामनिवास बाग के अलबर्ट म्यूजियम में सम्पन्न हुआ था । इस अवसर पर अनेक विद्वानों को आमंत्रित किया गया था । उस अवसर पर पं. गोकुलनाथ जी महाराज के सभापतित्व में एक अभिनंदन पत्र व संस्कृत रत्नाकर का विशेषांक "वेदांक" आपको समर्पित किये गये थे ।

वैदिकवस्तु विज्ञान के इस अद्भुत-विवेचक की छत्रछाया में अनेक सुविख्यात विद्वानों ने ज्ञानार्जन कर इस वाङ्मय के प्रचार प्रसार में योगदान किया है। यथा — १. पं. चन्द्रदत्त जी ओझा, २. पं. सूर्यनारायणजी आचार्य, ३. श्री कन्हैयालाल जी, ४. पं. मदनलाल जी व्याकरणाचार्य, ५. पं. मथुरानाथ जी भट्ट, ६. पं. जयचन्द्रजी झा, ७. मोतीलाल जी शास्त्री, ८. स्वामी, सुरजनदासजी, ९. श्रीकेदारनाथ जी ज्योतिर्विद्, १०. पं. वृद्धिचन्द्र जी शास्त्री, ११. श्री नवलकिशोरजी कांकर, १२. महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्म चतुर्वेदी।

विलुप्त वैदिक विज्ञान का जो बीजारोपण पं. मधुसूदन जी ने किया उसे प्रकाशित करने वालों में मधुसूदन जी के पुत्र श्री प्रद्युम्न शर्मा, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, नवलकिशोर शर्मा, आद्यादत्त ठाकुर आदि का नाम सदैव उल्लेखनीय रहेगा, किन्तु इस क्षेत्र में प्रतिदिन १८-२० घण्टे घोर परिश्रम कर साठ हजार पृष्ठों का साहित्य सृजन करने वाले मधुसूदन जी की परम्परा के ये महामनीषी थे — पं. मोती लाल जी शास्त्री जिनके विशाल, वाङ्मय को देखकर तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का कथन था कि — "ये ग्रन्थ भारतीय संस्कृति की कुंजी है और भारतीय विद्वानों को देखना चाहिये कि इनमें कितना सार है।" आपने अपने गुरु की प्रेरणा से "मानवाश्रम" नामक एक संस्था का सन् १९४३ में शुभारम्भ किया था। जयपुर स्थित इस शोध संस्थान के माध्यम से अब तक गीता, उपनिषद्, श्राद्धविज्ञान, शतपथ ब्राह्मणभाष्य आदि अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

सम्प्रति विद्यावाचस्पति जी के शिष्यों में श्रद्धेय जी सुरजनदास जी स्वामी का नाम बड़े ही आदर से लिया जाता है। आपने ४ वर्षों तक ओझाजी की सेवा में रहकर वेद-विद्या का गहन अध्ययन किया था। आपने लगभग उनके १२ ग्रन्थों का सम्पादन किया है तथा विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में अनेक शोधपूर्ण लेख भी लिखे हैं। श्री स्वामी जी के अतिरिक्त "राजस्थान पत्रिका" के वर्तमान सम्पादक श्री कर्पूरचन्द्र कुलिश ने भी अपने दैनिक पत्र के माध्यम से ओझाजी के चिन्तन एवं वाङ्मय को प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

वि.स. १९९६ भाद्रपद शुक्ला १५ को केवल तीन दिन की साधारण बीमारी के पश्चात् पण्डिजी ने इस असार संसार को त्याग दिया। डाक्टरी परीक्षण में पाया गया कि अत्यधिक मानसिक श्रम से उनका निधन हो गया। मृत्यु से कुछ समय पूर्व अपने एक मात्र पुत्र प्रद्यम्नं ओझा से आपने इस विशाल साहित्य को प्रकाशित करवाने की इच्छा व्यक्त की थी जिसे उन्होंने यथाशक्य निभाया भी।

अपने उत्कृष्ट परिश्रम और साधना के बल पर उन्होंने कोई दो सौ से अधिक ग्रंथों की रचना की थी जिन्हें ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, पुराण समीक्षा और वेदांग समीक्षा आदि चार मोटे भागों में विभाजित कर सकते हैं। जो उनकी ग्रन्थ सम्पदा हमारे सामने है वह उनकी ज्ञानमहिमा है – वे उससे भी महान् थे – वेद पुरुष थे जैसा कि वेद में ही कहा गया है –

"एतावानस्य महिमा अतो ज्यायोश्च पुरुष"

पं. मधुसूदन ओझा की गुरु परम्परा

डॉ. पद्मधर पाठक
निदेशक
प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर।

"चूँकि तुमने गुरु मुख से वेद के थोड़े अंश को पढ़ लिया है, अब तुम्हारी साम्प्रदायिक विद्या फलवती होगी। अब तुम जाकर वैदिक विज्ञान में अनुसन्धान का कार्य करो" ये वाक्य थे मधुसूदनजी के गरु पण्डित शिवकुमार शास्त्री के। शतपथ ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका का अध्ययन कराकर शिवजी ने उन्हें आर्शीवाद देते हुए उनका आगामी कार्यक्रम निर्धारित कर दिया था। प्रेरणा मिलते ही वेदों में विज्ञान के दबे सूत्रों को पकड़ने के लिए ओझा जी ने एक के बाद एक अनेक ग्रन्थ तैयार किये थे। निस्सन्देह जिस दुर्लभ कसौटी के सहारे वे आगे बढ़े थे वह उनकी साधना एवं प्रतिभा का पुरस्कार था। सर्वोपरि था शिवकुमार जी का आशीर्वाद जिसने मधुसूदनजी में वह अदम्य उत्साह भर दिया कि वे आजीवन इस दिशा से विलग नहीं हुए।

शिवजी की चर्चा से पूर्व इस सम्मेलन का बीजांकुर भी कम रोचक नहीं है।

संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् आदि में संकेतात्मक रूप में जो तत्व छिपे हैं उनके फैलाव को लेकर विद्वानों एवं जिज्ञासुओं के लेखों का जो उपक्रम जयपुर से प्रकाशित हिन्दी पत्र "राजस्थान पत्रिका" में चल पड़ा है उसने इस ओर एक नया वातावरण तैयार कर दिया है। एक अच्छा परिणाम यह निकला है कि इन लेखों को पढ़कर वैज्ञानिक भी आगे आ रहे हैं। आवश्यकता भी इसी बात की थी। पत्रिका के संस्थापक सम्पादक श्री कर्पूर चन्द कुलिश की इस धुन के पीछे भी कोई आन्तरिक अनुभूति काम कर गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। न केवल भारतवर्ष में बल्कि विश्व के कोने काने में स्वयं जाकर उन्होंने मधुसूदन जी को पुनः स्थापित किया है।

इस चेतना का संचार बल्कि आश्चर्यजनक प्रभाव जोधपुर विश्वविद्यालय के प्रो. दयानन्द भार्गव पर भी ऐसा पड़ा है कि मधुसूदनजी के साहित्य में लगभग कण्ठ तक वे उतर चुके हैं। उनके कुछेक मौलिक लेख निस्संदेह चिन्तन के नए आयाम खोल रहे हैं।

इधर प्रतिष्ठान को तो मधुसूदन के दो दुर्लभ ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का सौभाग्य पहले से ही प्राप्त था। फलतः एक दूसरे से सम्पर्क कर इस वेद भाष्य परम्परा पर एक

अखिल भारतीय विद्वत् गोष्ठी की मन आती और जाती रही। अन्ततः जोधपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के सान्निध्य में इस कार्य के लिए ११ - १२ - १३ फरवरी निकाल ही ली। राज्य सरकार के कला एवं संस्कृति विभाग के सचिव श्री एच.सी. पाण्डेय, आइ.ए.एस., कुलपति महोदय एवं श्री कुलिशजी सहर्ष संरक्षकों में परिगणित होने को सहमत हो गए।

हमारा एक बड़ा वर्ग ऐसे सम्मेलनों के महत्व की अनदेखी कर देता है। वे इन्हें वेद के प्रचारकों का दंगल समझकर घूरते हुए बगल से निकल जाते हैं। वेद कोई जातीय ग्रन्थ नहीं है। पूरी सृष्टि के लिए एक ऐसा निचौड़ है जिसके मर्म को समझने में हमारी संकीर्णता ने ही अनेक शास्त्रों और धर्मों की गठरी बांधकर उनके सशंकित अनयुयायियों को एक कोने में डाल रखा है।

वेद के जिस पक्ष को समझने के लिए हम यहाँ दूर दूर से एकत्र हुए हैं वह है "विज्ञानवाद"। आधुनिक विज्ञान की चिन्तन धारा के वे सूत्र दूढ़ने हैं जिनको व्यावहारिक रूप देकर ही विज्ञान अमूर्त को मूर्त की शक्ल दे सका है। इसके लिए मधुसूदनजी की लेखनी में दबे संकेतों को उकेरना होगा। विज्ञान भी कोई ऊपर से लादी हुई वस्तु नहीं है। वैज्ञानिक स्वयं उस सूक्ष्मतम सूत्र को पहले पकड़ता है जिस पर सबकी दृष्टि जाकर भी नहीं जाती है। यदि हम आधुनिक विज्ञान की इस चिन्तन शैली को मधुसूदन जी के इशारों से जोड़ें तो खाली हाथ नहीं लौटना पड़ेगा। जो "थ्योरी" और "प्रेक्टिकल" में सम्बन्ध होता है कुछ वही स्थिति ओझाजी के सूत्रात्मक वाक्यों और विज्ञान के व्यावहारिक आचरण में पाई जाती है। पं. मोतीलाल शास्त्री ने एक सीमा तक अनेक गुत्थियाँ खोलने की कोशिश की है। तो भी मधुसूदन जी तक साधन पहुँच पाने के कारण अनेक विद्वान् उनके चारों और चक्कर काट रहे हैं। इस दिशा में विज्ञान के साथ तालमेल बैठा लेना आवश्यक है।

इस कुतुहल से निकलकर पं. शिवकुमार शास्त्री की संक्षिप्त चर्चा ओझा जी के उस गुरू का स्मरण करना होगा जिन्हें बाबा विश्वनाथ के समान ही "अद्वितीय विश्वनाथ[१]" कहलाने का गौरव प्राप्त था। हाल यह था कि रेशम कटरा स्थित उनके मकान के चबूतरे पर एक माली ने फूलमाला की दुकान लगां रखी थी ताकि शिवजी से मिलने वाले उनके लिए फूलमाला भी साथ लेते जाय। उनका जन्म वाराणसी से चार कोस उत्तर में स्थित उन्दी गाँव में १८५७ ई. को हुआ था। वे सरयूपारीय ब्राह्मण कुल में उत्पन्न मिश्र उपनामा श्री राम सेवक शर्मा एवं श्रीमती मतिरानी देवी के पाँच पुत्रों में सबसे छोटे थे। उन्हें देखने वालों का कथन है कि उनके भाल पर श्वेत प्रभा, रसना पर त्रिशूल एवं ग्रीवा में शिव के नीलकण्ठत्व की कालिमा थी। अपने पिता के देहान्त पर शिवजी केवल चार वर्ष के थे।

दस वर्ष की अवस्था में अपने चाचा के साथ बिहार के बेतिया नगर चले गए थे। इनके चाचा ने शिवजी को पढ़ाने में कोई विशेष रुचि नहीं ली, उल्टे शास्त्रों के प्रति उनके आकर्षण पर उन्हें प्रताड़ित और करते रहते थे। चौदह वर्ष के इस बन्धन से निकल कर वे काशी चले आए और आजीवन बेतिया का मुँह नहीं देखा। काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में उन्होंने पं. दुर्गादत्त पण्डित से लघु कौमुदी पढ़ना आरम्भ किया और प्रतिदिन गंगाजल लाकर श्री विश्वनाथ का अभिषेद किया करते थे। विद्यालय के नैयायिक श्री काली प्रसाद शिरोमणि से हेत्वाभासान्त न्याय का ज्ञान प्राप्त कर नव्य न्याय में पांडित्य प्राप्त किया। पं. गणेश श्रौती से सम्पूर्ण खण्डनखण्ड खाद्य, परमहंस परिव्राजकाचार्य विशुद्धानन्द सरस्वती से अद्वैत सिद्धि एवं पूर्व मीमांसा का अध्ययन लाभ किया। तदनन्तर श्री राजाराम शास्त्री के पट्ट शिष्य श्री बालशास्त्री रानाडे से इन्होंने व्युत्पतिवाद, शक्तिवाद तथा धर्मशास्त्र का सांगोपांग अध्ययन किया।

इसके अनन्तर राजकीय संस्कृत कालिज में अध्यापक पद पर नियुक्त किए गए और सफलतापूर्वक उन्होंने चार वर्ष तक अध्यापन कार्य किया परन्तु कालेज के अध्यक्ष पद पर "राइट" महोदय के आसीन होने पर उन्होंने वहां से त्याग पत्र दे दिया।

किसी धनाढय व्यक्ति के विवाह प्रसंग में बराती बनकर दरभंगा जाने पर दरभंगा नरेश श्री लक्ष्मीश्वर देव ठक्कुर से उनका साक्षात्कार हुआ। दरभंगा राज्य सभा पंडितों के साथ शास्त्रार्थ में इनकी धाक जम गई। महाराजा से एक हजार रुपये का पारितोषिक भी उन्हें मिला था एवं पचास रूपये मासिक वेतन पर वे राजपंडित बन गए।

श्री विशुद्धानन्द स्वामी की प्रबल प्रेरणा से महाराजा लक्ष्मीश्वर देव ने काशी में "दरभगा पाठशाला की स्थापना की जहाँ महातात्या शास्त्री, महा. प्रमथनाथ तर्कभूषण और श्री सीताराम शास्त्री ने बहुत समय तक अध्यापन कार्य किया था। काशीवास की तीव्र अभिलाषा को देखते हुए दरभंगा नरेश ने शिवजी को दरभंगा पाठशाला में लगा दिया। श्री लक्ष्मीश्वर देव के निधन पर उनके पुत्र महाराजा रमेश्वर सिंह ने शिवजी के प्रति विशेष श्रद्धा रखते हुए उनका वेतन बढ़ाकर ७५ रुपये कर दिया था।

काशी स्थित नगवा महल्ले में पं. शिवकुमार शास्त्री के एक मात्र जीवित पौत्र पं. श्रीनाथ जी से गत वर्ष जब मैने भेंट की थी तब उन्होंने शिवजी के दरभंगा प्रवास का एक कारण उनका काशी में पं. सुधाकर द्विवेदी से आए दिन का टकराव बतलाया। दोनों तेजस्वी थे, किन्तु शिवजी के आने पर सुधाकर जी को सम्मानपूर्वक खड़ा होना पड़ता था। सुधाकरजी के आने पर उतनी संख्या में लोग अपने स्थान से नहीं उठते थे। ईर्ष्या के इस वातावरण से शिवजी खिन्न हो गए थे। त्याग पत्र देकर वे उसी वेतन पर दरभंगा चले

गए। चले तो गए किन्तु काशी वास का मोह उन्हें कचोटता रहा। अतः दरभंगा नरेश ने उनका ख्याल कर काशी में एक दरभंगा पाठशाला खोल दी थी। काशी के अन्य नागरिकों ने इस घटना पर चर्चा करने से कोई परिणाम नहीं निकला।

शिवजी के गुरु बालशास्त्री का प्रसंग उठने पर पं. श्रीनाथजी का यह कथन था कि उनके चारों शिष्यों में यथा शिवकुमार जी, गंगाधर शास्त्री, तात्या शास्त्री तैलंग व पं. दामोदर शास्त्री में पाण्डित्य को लेकर केवल गंगाधर जी शिवजी से टक्कर ले सकते थे। गुरु होने पर भी पं. बालशास्त्री रानडेको भी उन्होनें एक बार पीछे रख दिया था, पर पश्चात्ताप से अन्न त्याग कर बैठ गए थे। बाल शास्त्री जी ने उन्हें मनाकर ऐसा करने से रोका था। यों बालशास्त्री रानाडे की वेदी के चारों कोनों को उनके लब्धवर्ण चारों शिष्य अपने कन्धों पर धारण कर जब चले थे तो इस अनुपम दृश्य को देखने के लिए काशीवासी घरों से बाहर निकल आए थे। बालशास्त्री जी भी १८३९ ई. में काशी में जन्में थे।

अपनी ६ वर्ष की अवस्था की धुंधली याद को ताज़ा करते हुए पं. श्रीनाथ जी ने बतलाया कि लाहौर में सनातन धर्म सभा के अवसर पर शिवजी की सवारी का घोड़ा बिदक जाने पर किसी प्रकार उनकी सवारी को वहाँ के प्रसिद्ध नागरिकों ने कन्धों पर रखकर पंडाल तक पहुँचाया था। इनमें लाहौर के दीवान कृष्ण किशोर, लाला मूलचन्द्र, राय बहादुर रामशरण दास के नाम उन्हें याद थे। वहाँ सिरोही के नरेश ने शिवजी से दीक्षा लेनी चाही थी किन्तु वे इसके लिए सहमत नहीं हुए। मधुसूदनजी की चर्चा होने पर पं. श्रीनाथजी ने कहा कि काशीवास के समय वे घर के बाहर ताला लगा देते थे।

शिवकुमार जी की धार्मिकता शैशवः काल से ही लोकोत्तर थी। शास्त्रार्थ में वे अद्वितीय थे। महामहोपाध्याय श्री रामधन तर्क पचांनन के साथ द्वैत मिथ्यात्व, महा. श्री राम मोहन सार्वभौम एवं पं. श्री गट्टू लाल के साथ विशिष्टाद्वैत में इनका जो शास्त्रार्थ हुआ था उसमें शिवजी की ही विजय हुई थी। उनके पाण्डित्य से तुष्ट होकर शृंगेरी पीझाधिष्ठित जगदगुरु शंकराचार्य के द्वारा "सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पंडितराज" की उपाधि एवं स्वर्ण पदक उन्हें मिला था। वामरा के महीपति द्वारा "अत्रैव विद्यारसः" एवं कलकत्ता कान्युकुब्ज सभा द्वारा "विद्यामार्त्तण्ड" की उपाधि से शिवजी को सम्मानित किया गया था।

काशी में रहते हुए स्वामी भास्करानन्द सरस्वती के जीवन चरित को विषय बनाकर शास्त्रीजी ने "यतीन्द्रजीवनचरितम्" ग्रन्थ का निर्माण कर उसे महोपाध्याय पं. महेश चन्द्र न्यायरत्न महोदय को समर्पित किया था। स्वामी भास्करानन्द के सात्विक गुणों को अतुलनीय मानते हुए वे लिखते हैं :

शशिरुक् शशिरुक् कमलं कमलं
कुमुदं कुमुदं वद कम्बुरयम् ।
कुरूतामतिवक्रचलो यतिन:
स्थिरराजित सत्वागुणानु कृतिम् ॥

दरभंगा राजकुल वर्णन परक "लक्ष्मीश्वर - प्रताप" नामक अपनी काव्यकृति में पं. शिवकुमार जी शास्त्री ने दरभंगा नरेश लक्ष्मीश्वर सिंह का यशोगान किया है । व्याकरण ग्रन्थ परिभाषेन्दु शेखर एवं शिव महिम्नस्तोत्र की जो टीकाएँ शिवजी ने लिखी थी वे अन्यान्य कारणवश पूर्णता प्राप्त न कर सकी । उन्होंने वीर शैव सम्प्रदाय में प्रचलित शिवलिंग के धारण की प्रथा के पीछें वैदिकत्व पर "लिगधांरण चन्द्रिका" की शरत् नाम्नी व्याख्या की रचना १९०३ ई. में की थी । अक्षरश: सत्य है कि "पं. शिवकुमार शास्त्री भूतभावन विश्वनाथ के नैष्ठिक उपासक थे । इसीलिए शिवोपासना परक ग्रन्थों की व्याख्या लिखने में उनका नैसर्गिक अनुराग था चाहे वह जंगम सम्प्रदाय का हो या वैदिक संम्प्रदाय से सम्बद्ध हो ।"

शिवकुमार जी ने अपने वैदुष्य से विभूषित कर अनेक प्रकाण्ड पांडित्यपूर्ण शिष्यों को तैयार किया था । इनमें जयपुर राज सभा के प्रधान पण्डित विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा, दीन बन्धु झा, महादेव शास्त्री, नन्दन झा, कुन्तलाल चौधरी, जयदेव मिश्र, न्याय वेदान्त निष्णात अच्युतानन्द त्रिपाठी, वैयाकरण श्री निरीक्षण तिवारी, महा. बबुजन झा, फूदन चौधरी, मुकुन्द झा, चुम्बे झा आदि को शिवजी के सामीप्य का लाभ था और वह भी पुत्र समान । वयोवृद्ध नेता पं. कमलापति त्रिपाठी उनके दौहित्र हैं ।सन १९१८ ई. में और भाद्रमास के द्वितीय दिन शनिवार को पं. शिवकुमार शास्त्री का स्वर्गवास हुआ था ।

वैदिकविज्ञानस्योत्थानाय मधुसूदनस्यायासः

डॉ. पंचदेव झा
प्राचार्यः
शारदा-संस्कृत-महाविद्यालयः
विद्यान्तिरोड, लखनऊ

अस्य परिवर्तिनः संसारस्यायं हि नियमो दृश्यते यत् यावत् कार्यजातमस्ति तत् सर्वं परिवर्तनशीलम्, संसरति इति व्युत्पत्या च संसारस्य संसरणात्मकत्वं स्वभावसिद्धम् । तत्र स्थितानां भावानां विपरिवर्तने किमाश्चर्यम् । प्रतिक्षणं हि सांसारिकाणां पदार्थानां परिवर्तनं सर्वैरिवानुभूयते । यथा - प्रातः प्रभाकरः मन्दतेजाः, कतिपयमुहूर्तानन्तरं स एव प्रखरैरंशुभिः तपति, सायं च तीक्ष्णत्वं तस्यैव परिहीयते । एवमेव सर्वेषामपि वस्तूनां अवस्थान्तरप्रापणं कालकृतं भवति । उन्नतस्यावनतिः अनवतेश्चोन्नतिरिति प्राकृतम् । तत्र द्विविधं हि कार्यं चेतनमचेतनं च । तत्राचतनाश्रितानां जरायुजाण्डजोदिभजानां मनुष्यपशुचटककपोतलता-गुल्मादीनामादिमध्यावसानास्ति स्त्रोऽवस्थाः प्रत्यक्षमनुभूयन्ते अत्र मनागपि न संशयलेशः, पदार्थानामाद्यावस्थायां प्रसरणप्रचारादिमध्ये स्थानम् अन्ते विशीर्णावस्था चेति तिस्रोःवस्थाः भवन्ति । एवमेव चेतनाश्रितानां शौचाचार विज्ञान धर्मादीनां गुणानामपि परिवर्तनं भवतीति सर्वेषां चक्षुष्मतां सुविदितमेव । उदाहरणार्थं विद्वांसस्तावद् ध्यायं ध्यायं पूर्ववृत्तान्तं स्मारं स्मारं च कथासारमनुभवन्तु, यत् कथम्भूताः बलिष्ठा, पुरुषाः, तदाश्रिताश्च धर्मादयोऽपि गुणाः कृतयुगे त्रेतायामेतेषां धर्मादीनामेकस्य पादस्य ह्रासः, द्वापरे द्वयोः पादयोः, कलियुगे त्रयाणां पादानां ह्रासोऽभूत् । कृतयुगे हि चतुर्वर्ष शतायुजः पुरुषाः, त्रेतायां त्रिवर्षशतायुजः, द्वापरे द्विवर्ष शतायुषश्चेति क्रमशोऽभूत पादह्रासः । अस्मिन् कलियुगे पुरुषाणां परमं शतायुर्विहाय रसायन- तपोजपादीन् । एवं कलियुगस्य पादह्रासे समारब्धे वर्तमानसमये वर्तमानानां मानवानामायुर्धर्मादीनां गुणानां क्रमशः एकस्य पादस्य ह्रासं करिष्यत्येवेति दुर्निवारेयं प्रकृतिः । सत्येव कलियुगस्य प्रथमे पादे शतमायुः, द्वितीयेपादे पंचसप्ततिः तृतीये पादे पंचाशत्, चतुर्थे पंचविंशतिरिति । एवं सिद्धे संसरणशीले संसारे वैदिकाचारविचारविज्ञानादयश्च लोकद्वय-साधकाः सन्तीति इन्द्रविजये पूज्यचरणेन पितामहेन श्रीमता मधुसूदनेनैवमुक्तम्

अत्राचारविचारा वैज्ञानिकनियति भावनाक्लृपः ।
तेनेह लौकिका अपि धर्मा इह पारलौकिकाः सर्वे ॥
सर्वेभ्योऽपि च देशान्तरीयधर्मेभ्य उत्कर्षः ।

धर्मेऽत्र भारतीये यदयं लोकद्वयौपयिकः ॥

परलोकसिद्धिः-

यद्यपि परलोके सन्देहो वर्तेतेऽस्ति परलोको न वेति, तत्रापि आप्तानां वचः प्रामाण्यादस्त्येव परलोकः। ये च प्रत्यवतिष्ठन्ते प्रत्यक्षाभावेन परलोकस्य विचिकित्सामाश्रित्य तान् प्रति प्रत्यक्षमपि चोदाह्रियते, तद्यथा मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्यसंभावनां वर्णस्वराकृतिसत्वबुद्धिभाग्यविशेषाः, प्रवरावरकुलजन्मदास्यैश्वर्यम् सुखासुखमापुः, आयुषो वैषम्यम्, दूतकृतस्यावाप्तिः, अशिक्षितानां च रुदितस्तनपानहासलासादीनां च प्रवृत्तिः, लक्षणोत्पत्तिः, कर्मसादृश्ये फलविशेषः मेधा क्वचित् क्वचित् कर्मणिये मेधा जातिस्मरणम्, इहागमनमितश्च्युतानां च भूतानां समदर्शने प्रियाप्रियत्वम्। अतएवानुमीयते यत्स्वकृतमपरिहार्यमविनाशिपौर्वदेहिकं दैवसंज्ञकं आनुबन्धिकं कर्म तस्यैतफलम् इतश्चान्यद् भविष्यति, फलाद् बीजमनुमीयते फलं च बीजात्। युक्तिश्चैषा षड्धातु समुदायात् गर्भजन्म, कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया, कृतस्य कर्मणः फलम्, नान्यस्माद् बीजादन्यस्योत्पत्तिरितियुक्तिः। प्रयोजनं चैतत्परलोकैषणाया यदिस्मिन् जन्मनि कृतं शुभाशुभात्मकं कर्म तदवश्येमेव प्रेत्य भोक्तव्यम्। भगवतः वासुदेवस्य वचनं यथा –

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च"। इति प्रामाण्याद प्यवश्येमेव प्राणिनां जन्म भवितेति सिद्ध्यति। एवं स्थिते –

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" इति कर्मणा नियतः सम्बन्धो जीवस्य। जाते च जीवे जन्मनि यादृशं शुभाशुभात्मकं पौर्वदेहिकं कर्म तादृशमेव भोक्तव्यम्। अतो जानता पुरुषेण कदाचिदपि अशुभात्मकं कर्म न कर्तव्यम् कृते चाशुभमेव फलम्। यद्यपि सर्वेऽपि पदार्थाः पृथिव्यामेव विद्यन्ते, तत्रापि भाग्यमन्तरा केपि तान् न समुपलभ्यन्ते, अतः सिद्ध्यति यत् तथाभूतं शुभं कर्म कुर्य्युः येन परत्रापि शुभमेव फलमाप्नुयः, इत्यस्माद्धेतोः परलोकस्यान्वेषणमपि कार्य्यम्, तथैवम्भूते परलोके सिद्धे सति लोकद्वयहितं समनुपश्यता पुरुषेण लोकद्वयहितकरं कर्मसम्पाद्यम्।

भौतिकविज्ञानस्य परलोकसाधने मन्दत्वम् –

यद्यप्याधुनिकं विज्ञानं भौतिककाख्यं साङ्गोपाङ्गं विद्यतेऽथ चोपकरोति लोकान्, तथाप्येतदाविष्कृतं वस्तु न चिरस्थायि मध्ये मध्ये लोकापकारकं च।

भौतिकविज्ञानाविष्कृतं यदासील्लोकनुग्राहकं तदेव दोषाप्लुतं जायते, एतत्तु स्वयं वैज्ञानिका एवोद्घोषयन्तीति सर्ववादिसम्मतम्, प्रमाणं चात्र भोपालगैसदुर्घटना। पश्यामश्च विद्युतस्ताण्डवविलसितं दारुणम्। कदाचिद्धि वायुयानानि पतन्ति, जातु सङ्घटयति परस्परं शकटीद्वयम्। समासेन तु परिवर्तनशीलानां भूतानां परिवर्तनेन साकं भौतिकविज्ञानाविष्कृतवस्तुनामपि परिवर्तनं स्वाभाविकमेव। किन्त्वियं गतिराध्यात्मिकविज्ञानस्य नास्ति अत एव वेदाः प्रशंसन्त्याध्यात्मिकविज्ञानं, वर्णयन्ति च विविधानुपायान्, तस्योन्नतेः। वैदिककाले आध्यात्मिकविज्ञानस्योन्नतिरेव सर्वेश्रेठाऽभिमताऽसीत् सर्वतोविशेषेण। भौतिकविज्ञानं च केवलं भौतिकशरीरायैवोपकारिमध्ये मध्ये चापकारीति पूर्वं निगदितं न परत्र सहायकम्। अतएव महर्षयः केवलं भौतिकविज्ञानवेत्तारं मायालिप्तं विलासप्रियं सांसारिकभोगलिप्सुं परलोकोपेक्षकं परतन्त्रं परं सापेक्षं च मत्वोपेक्षन्ते स्म। एवं संसरणशीले संसारे सर्वेषां वस्तुजातानामादिमध्यावसानास्तिस्रोऽवस्थाः, तत्रैव वैदिकविज्ञानस्यापि तिस्रोऽवस्थाः केन निवार्येरन्।

<u>वैदिकविज्ञानस्याद्यावस्था</u> -

आद्यावस्थायां वैदिकविज्ञानस्य प्रचारे बहूनि वर्षाणि व्यतीतानीत्यनुमीयते, सैव तस्य बाल्यावस्थेति भण्यते। यथाऽद्यत्वेऽपि राजनियमप्रचारादौ विरुन्धते केचित्, केचित् विवदन्ते, अनुमन्वते केचित्, केचिच्चोदासते, बहोःकालात् स्थैर्य भवति तथैव वैदिकविज्ञानस्यापि स्थैर्यं बहुभिरेव वर्षैः प्रबभूव।

<u>वैदिकविज्ञानस्य मध्यावस्था</u> -

कस्यचिदपि वस्तुनः या द्वितीयावस्था भवति सैवा तस्य प्रौढावस्थेति भण्यते। वैदिकविज्ञानस्य द्वितीयावस्थायां सर्वं वैदिकविज्ञानं भारतीयानां वैज्ञानिकानां करतले विलसति स्म। अत्र प्रसंगे पूज्यपादपितामहप्रणीत-सुप्रसिद्धेन्द्र-विजयमाश्रित्य किंचिद्-वैदिकविज्ञानस्य स्वरूपं प्रदर्श्यते - सर्व एवाभयुक्ताः भारतीयां प्राचीनां विद्यां तु परमोत्कृष्टां मन्यन्ते, तस्याः सम्पूर्णाङ्गत्वात्, तथा सर्वदेशोन्नतेर्मूलत्वात्सर्वविद्याया गुरुत्वाच्च। एतदाश्रयेण भारतमपि सर्वेषां गुरुरासीदित्यत्र नास्ति विचिकित्सा लेशोऽपि। अस्याः भिननभिन्नाङ्गेषु ज्ञानविज्ञानादीनां सर्वेषामपि लोकोपकारकाणां पदार्थानां समावेशोऽस्ति।

प्राकृतिविद्यादिव्या विद्या चेति द्विविधा विद्या। निगमागम-भेदात्तत् द्वौ भेदौ प्राकृतविद्यायाः। अनयोः अवान्तरभेदास्तु बहवः। एते ज्ञानविषयाः। दिव्यविद्याभेदेषु विज्ञानादीनां वर्णनम्।

केचित्तु विवदन्ति यन्नास्ति भारतीयवेदेषु आधुनिकविज्ञानादिसाधनमिति, तद्भ्रान्तिमूलकत्वम्। का कथा भौतिकोन्नतेराध्यात्मिकोन्नतेरपि यत्र पर्याप्तवर्णनोपलम्भात्। आमनन्ति च तामेव चरमोन्नतिम्। मधुसूदनप्रोक्तैर्विधिभिर्यदि सम्यक्तया वेदादिकमधीयत साधनं च क्रियेत तदा दिव्यं ज्ञानमात्मबलमुद्भवति तस्यापि अनेके भेदा: भवन्ति। आत्मबलोदयेनात्मन: संयोगादष्टौ सिद्धयो भवन्ति, ताश्च सन्ति अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति: प्राकाम्यम् ईशित्वं वशित्वं चेति।

१. अणिमा –

अर्थात् अणुताभाव:। यथा च ग्रसन्त्या: सुरसाया: विशाले मुखे मारुति: सागरोल्लंघनकाले क्षुद्रो भूत्वा प्रविश्यान्तप्रतिरगतम् यथा वासीतान्वेषणाय दशानन वेश्मनि वृषदंशकवत्क्षुद्र-शरींरो भूत्वा प्रच्छन्नो गृहान् परिशोधयामास।

२. महिमा –

महत्वं कायवैपुल्यम्, यथा समुद्रलंघने हनुमान् सुरसामुखे प्रवेशाभावाय महत् शरीरं सम्पादयामास।

३. गरिमा –

गुरुत्वशरीरभारवर्धनम्। यथा चांगदो लंकायां रावणसभायां पादमारोप्य बलिष्ठैरपि निशाचरैरनुत्थाप्य पादो विजयीबभूव।

४. लघिमा –

अतिगुरोरपि शरीस्यातिलघुत्वसम्पादनम्। येन साधनं विनाऽपि नभसि संचरणं भवति। यथा हनुमत: समुद्रलंघनकाले।

५. प्राप्ति: -

-दूरस्थ एवं पुरुषोऽतिविप्रकृष्टवस्तु ग्रहीतुं शक्त:।

६. प्राकाम्यम् -

पृथिव्यादि तत्तद्धर्मेभ्योऽभिघातेभ्यश्च मनोवृत्यप्रतिबन्ध:। यथा भूमावपि मज्जति यथोदके, विशालायामति अनुप्रविशति, जलेऽपि अनार्द्रीभाव:।

७. ईशित्वम् -

अलौकिककर्मसम्पादने सामर्थ्यलाभः, यथा हनुमत्कृष्णादीनां पर्वतोत्थापनादिकम् ।

८. वशित्वम् -

प्रबलस्य वशीकरणम् । यथा - कृष्णस्य कालीयदमनकाले नागवशीकरम्, सौनरे राजकन्यावशीकरणम् । "ममानुरूपो नायं वेति तद्गत चेतसाम्" इत्यादिः ।

एवमेवेन्द्रियसंयमादिह दृष्टिसिद्धयोऽष्टौ । ताश्च यथा— १. अतीतानागतज्ञानजन्मान्तरज्ञानम् । २. दूरपरोक्षज्ञानम् । ३. सर्वभूतरुतज्ञानम् । ४. मनोविज्ञानम् । ५. भूगर्भज्ञानम् ६. भुवनज्ञानम्, ७. ओषधिभावज्ञानम् ८. ताराज्योतिः प्रभावज्ञानम् । आसां सिद्धीनां विस्तृतविवेचनं श्रीमता मधुसूदनेन इन्द्रविजयनामके ग्रन्थे कृतम् वर्तते ।

नैगमीयमन्त्रबलसिद्धयोऽष्टौ । यथा — १. सर्पाकर्षिणी, २. अग्निजलस्तम्भनी, ३. अक्षयकारणी, ४. निग्रहानुग्रहणी, ५. पुत्रसंजननी पुत्रेष्टिः, ६. प्रावृषेण्या जलवर्षणी, ७. आपोनप्लीयम्, ८. मधुविद्या । आसामपि विस्तृतं विवेचनं झा-महाभागेन तत्रैव कृतं दृश्यते ।

हृदयसंयमात् तपोबलसिद्धयोऽष्टौ, यथा — देवसाक्षात्कारच्छायापुरुषसिद्धिः । २. बलगा (कृत्याभिधाना), ३. आत्मोत्क्रमसाक्षात्कारः, ४. मृतपुरुषसाक्षात्कारः, ५. विश्वरुपदर्शनम्, विराटरुपदर्शनम्, ६. मायाव्यामोहनम्, ७. उपश्रुतिविद्या, ८. संस्कारोपधानी इति आसामपि विवेचनं तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

प्राणसंयमाद् देवबलसिद्धयोऽष्टौ - यथा - १. काकव्यूह, २. परकायप्रवेशः, ३. प्राणहारिणी, ४. मृतसंजीवनी दैवीशक्तिः, ५. स्नायुसंजीवनी, ६. छायानिग्रहणी, ७. आकृतिपरिवर्तनी, ८. लिंगपरिवर्तनी ।

महौषधिबलसिद्धयोऽष्टौ — १. मृतसंजीवनी गुटिका, ३. संजीवनी, ३. विशल्यकरणी, ४. सावर्ण्यकरणी, ५. संधानकरणी, ६. अरिष्टभैषज्या, ७. डिम्भप्रसविनी, ८. बलावबले ।

आगमीयमन्त्रबलसिद्धयोऽष्टौ । यथा — १. मारणम्, २. मोहनम्, ३. उच्चाटनम्, ४. वशीकरणम, ५. विद्वेषणम्, ६. स्तम्भनम्, ७. आकर्षणम्, ८. संरक्षणम् ।

मन्त्रबलसिद्धयश्चाप्यष्टौ - यथा - दिव्यविमाननिर्माणादिकम् । किं बहुना अत्र भारते सर्वाः सिद्धय आसन् । यासां प्रभावेण भुवनत्रयवर्ति किमपि दुर्लभं नासीत् । अतएव तपति वैदिकविज्ञानोन्नतिशालि-वैदिककालसूर्ये भारतो यमत्युच्चः सर्वगुरुश्चासीत् ।

वैदिकविज्ञानस्य चरमावस्था - इयमेव चरमावस्था विशीर्णावस्थापि भण्यते । क्रमेण वेदोक्तपठनपाठनादिकम् तथा सिद्धसाधनादिकं च ह्रासमगमत् । एतत् सर्वं महाभारतयुद्धात् पश्चादभूत । महाभारते तु सर्वासामपि सिद्धीनां समुल्लेखो लभ्यते । यथा — जनमेजयसर्पसत्रे सर्पाकर्षण्यः मुनिव्यासस्य धृतराष्ट्र-संजयादिकेभ्यो दिव्यदृष्टिदानम् ।

महाभारतकालस्तु पंचसहस्रवर्षाणामितस्ततः आसीदिति मन्यन्ते विज्ञाः । ततोऽनन्तरमपि बौद्धराज्यात् पूर्वं तु किंचिदुन्नतदशायामेवासीत् । बौद्धानां वेदेषु दुराक्रमेण प्रायेण वेदोक्तानां सिद्धीनां निरवशेषोऽभूत् । ततोऽस्माकं दुर्दैववशादालस्यात्प्रमादात् प्रकृतिपरिणामाच्च स्वसाम्राज्याभिमानिभिर्वकुलसर्पवत् स्वाभाविकवैरैः प्रतिकूलधर्मैः हिन्दूद्वेषिभिः यवनैः सहस्रो . विज्ञानाधारभूतानि ग्रन्थरत्नानि विनाशितानि इति सुविदितमेवेतिहासविदाम् ।

साम्प्रतं तु केचित् यत्र-तत्र मन्त्र-तन्त्रादिभिर्मारणमोहनोच्चाटनादिकानां विडम्बनं तथा भूतप्रेतानामपसारणादिकं कुर्वन्ति, किन्तु तद्विडम्बनमात्रम्, नाटकमात्रम्, अनुकरणधरम्, - लोकोपतारणशरणं नान्यत् किंचित् फलप्रदम्, कुत्रापि सिद्धेरदृष्टत्वात् ।

एवं दुर्निवारया नया विपरिणामिन्या प्रकृत्या भारतदेशो यमिदानीं धीराणां गृहमप्यगृहं, मर्यादायाः स्थानमप्यस्थानम्, आचाराणामाचार्योऽप्यनाचार्यः, धर्मस्य विधाताप्यविधाता, यज्ञानामार्हताप्यनार्हता, देशानां गुरुरप्यगुरुः शास्त्राणामादर्शोऽप्यनादर्शः, वैदिकविज्ञानस्याश्रयोऽप्यनाश्रयोऽकारि । यत्र हि वैदिकविज्ञानस्याधाराश्चत्वारो वेदा अपि न लभ्यन्ते । एतादृशं क्रमशो ह्रासेन विशीर्णं वैदिकविज्ञानं सर्वांगजीर्णं दुःखस्थां दृष्ट्वा को नाम शोकानुतपतहृदयो नोष्णं सखेदं विनिःश्वसिति संस्कृतो भारतीय इति ?

वेदविज्ञानस्येमां दयनीयां दशामवलोक्येदानीं किमस्माभिर्नैराश्यभाव आलम्बनीयः, आहोस्विदाशावादिभिर्भाव्यम् ? अत्र प्रसंगे सामन्दमिदमावेद्यते यत् किलानन्दकन्दः सच्चिदानन्दो भवान् मुकुन्दः पूर्वप्रतिज्ञातं "यदा यदा हि धर्मस्ये" त्यादिपदजातं स्मारं स्मारमस्मिन् वैज्ञानिके युगे लुप्यमाना विद्या विज्ञानद्वारा समुद्रं धर्तुं, तर्केण च धर्म्म - मर्म्मजिज्ञासमानानां नूतनपरिपाटीपृथिलितमेदसां सचेतसां संदेहानपनेतुमस्मत् कृतिनायकान् मिथिलायां सीतामढीमण्डलान्तर्गते गाढ़ाग्रामे प्राहिणोत् । को नाम न जानात्येतान् वेद-बादसयणानिव वैदिकविज्ञानसाधनप्रवणान्, अभिनवसायणानिव सविज्ञान-

वेदभाष्ययलेखपरायणान्, विद्याविभवाधिरूढवाचस्पतिपदान्, तत्वतोऽवधारितनिगदान्, नास्तिक मधुसूदनातिव श्रीमतो मधुसूदननान् वेददर्शनकृतक्षणान् चरणेक्षणानिव दक्षिणान् विचक्षणान्। ये हि भिन्न-भिन्नप्रस्थानतया नानाविधसम्प्रदायदुग्रहिग्रस्तान् सुप्रशस्तान् गम्भीरसरलाशयान् परमेश्वरोपास्तिसम्भेदान् चतुरोऽपि वेदान् गजेन्द्रानिव नितान्ततो लब्धखेदानालोच्य समुपेक्षितसहाया अपि तदुद्धाराय च नियोजितस्वकीयकाया एव मधुरमूर्तिभूता इव करुणया यथार्थतो मधुसूदनायन्ते। एते महानुभावाः शास्त्राणा - मवैज्ञानिकतया परतर्कितं वैयर्थ्यं ध्यायं ध्यायं कलिबलकलुषितस्य सर्वशास्त्रमूलभूतस्य वेदस्य तादृशीं न्यूनतामापूरयितुमखिलमाकलय्यामूलचूडं वेदविद्याकलापं, शिरसि निधाय गुरोरुपदेशम्, दूरेऽपास्य सांसारिकविलसितजातम्, तृणत्याज्यं परित्यज्य चामन्दं समृद्धानन्दसन्दोहम्, अविगणय्य शारीरिकश्रमम्, परिश्रम्य चाविरतं चत्वारिंशद्वर्षेभ्योऽप्यधिक- दैवप्रतिष्ठेन विलक्षणप्रतिभाबलेन च वैज्ञानिकैतिहासिकाँश्च द्विशताधिकान् ग्रन्थान्, विरचय्य पिपठिशून् पाठयन्तो विज्ञानमुद्भासयन्तमोध्वान्तं ध्वंसयन्तो परं ब्रह्मपुरमिव जयपुरं समलंकुर्वन्ति स्म।

एभिर्महानुभावैर्विज्ञानौपयिक-परिभाषाविकासार्थ-सरल-गद्य-पद्यमयाः स्वतन्त्रग्रन्था एवं निबद्धमारभ्यन्त। येषां ग्रन्थानां कृतिकल्पलतिका प्रतिपत्रं समुद्गमयति नानाविज्ञानानि, ददाति सद्विद्याफलानि, अपनयति वाज्ञानानि, उद्योतयति वेदार्थान् स्मारयति वैदिककेतिवादान् प्रयच्छति नानाविषयान् अनुकूलयति नवशिक्षादीक्षीतान् अपि पाण्डित्यप्रवरान् प्रकुरुते च कुण्ठमतीनपि वाक्पतीन्।

एभिर्विद्यावाचस्पतिभिर्यादृग्वैदिकविज्ञानान्वेषणे यतितम्, न तादृगस्मिन् युगे कुत्रचित् कृतमिति दृष्टश्रुतम्। प्राज्यो यावन्तो वेदभाष्यकाराः श्रीसायणमाधव-महीधराचार्यादयोऽभूवंस्ते सर्वे एव समयानुकूलत्वात् तेषु तेष्वर्थेषु विज्ञानं गवेषयितुं न बद्धपरिकरा अबोभूवन्। अर्वाचस्तु ये वराकाः भाष्यकारा आविर्भूतास्ते तु पर्यायमात्रप्रदर्शनेन कृतार्थतामिव प्रकटयन्तः स्वान्ते परितुष्यन्तश्च वैदिकभाषानभिज्ञत्वेन यथावद्वेदशब्दार्थकरणेऽपि न चक्षमिरे, प्रत्युतार्थाभासबोधनेन जनसमाजस्य विचारपरिवर्त्तनहेतुभिरेव तैर्बभुवे। यथा आयुर्वेदपरिभाषानभिज्ञेन केनचिद् विज्ञेन केवलं व्युत्पत्त्यैव "कण्टकारिका" द्रव्यस्य "उपानद्" इति कृतोऽर्थो व्यर्थो भवति, तथैव तैः कृतो वेदार्थो विद्वत्समाजे केवलमुपहासपात्रतामेव सेवते। अतएव वैदिकीं पद्धतिमनुसृत्य धर्मशास्त्रेषु पुराणेषु दर्शनेषु च यज्ज्ञानमुपदिष्टं तदपि तैर्न विज्ञातमिति सर्वेऽपि ते वैदिकविज्ञानमूलकानां सनातनधर्माचारव्यवहाराणां वैयर्थ्यं साधयामासुः।

परमेते विश्वविख्यातवैदुषीवैभवाः स्वल्पानपि धर्माचारान् विज्ञानमूलकानेव साधितवन्तः, पौराणिकाख्यानानि च स्वरचितेषु ग्रन्थरत्नेषु यथा-स्थानमाधिदैविकाध्यात्मिकाद्यर्थेषु विभज्य विज्ञानसिद्धान्येव प्रतिपादितवन्तः। इदमप्यवश्यं ज्ञेयं यदेते झा-महाभागा न केवलं सर्वाण्येवाख्यानानि आधिदैविकानि, आध्यात्मिकानि, आधिभौतिकानि वा सन्तीति विश्वसन्ति, किन्तु हरिश्चन्द्रप्रभृति-राजर्षीणां चरित्राणि आधिभौतिकानि, ताराहरण - चीरहरणादीनि कानिचिदाधिदैविकानि, पुरंजनोपाख्यानादीनि कानिचिदाध्यात्मिकानि, ध्रुवाख्यानप्रभृतीनि, कानिचिच्च द्विभावपराणि, कानिचित् त्रिभावपराणि वा सन्त्याख्यानानि इति मन्यन्ते, सप्रमाणं साध्यन्ति च।

यद्यप्येतेषां झामहाभागानां प्रधानमुद्देश्यं वेदरहस्यमुद्धरणमेव, किन्तु तदंगभूतानां वेदांगानां तन्मूलकानां पुराणानां दर्शनानां चालोचनमन्तरेण वैदिकविज्ञानप्रकाशने दुष्करमिति मत्वा वेदैः सह वेदांगपुराणाप्रभृतिविषया अपि लेखितुमेभिरुपक्रान्ताः।

ते च सर्वेऽपि विषयाः पंचसु विभागेषु विभक्ताः विराजन्ते, तत्र प्रथमे ब्रह्मविज्ञानान्तर्गते सप्तमहाग्रन्थाः चत्वारिंशच्चान्तग्रन्थाः, द्वितीये यज्ञविज्ञानान्तर्गते चत्वारो महाग्रन्थाः विंशतिश्चान्तर्ग्रन्थाः, तृतीये पुराणसमीक्षान्तर्गते त्रयो महाग्रन्थाः, अष्टादश अन्तर्ग्रन्थाः, चतुर्थे वेदांगसमीक्षान्तर्गते चत्वारो महाग्रन्थाः, त्रिंशच्चान्तर्ग्रन्थाः, पंचमे आगमरहस्यान्तर्गते षण्महाग्रन्थाः, विंशत्यधिकशतसंख्यकाश्चान्तर्ग्रन्थाः भवन्ति। उपर्युक्तानां समेषामन्तर्ग्रन्थानां संख्या अष्टाविंशत्यधिकद्विशतमपरिमिताः ग्रन्थाः भवन्ति। एषु कियन्तः साम्प्रतं यावत् समाप्ताः, कियन्तः, प्रक्रान्ताः कियन्त क्रोडपत्रस्थाः वा सन्ति, येषामन्वेषणं विद्वद्भिः नूनमेवोपकारबुद्ध्या करणीयमिति दिक्।

Contributions of Madhusudan Ojha to the interpretation of Vedic Thought

A.S. Ramanathan
8, Pushpaka Nagar, Srirangam
Trichy – 620 006

No other ancient literature in the world has been subjected to so many divergent interpretations as the Vedas, Brahmanas and the Upanisads of the Aryans. While tradition has kept the Aryan culture intact despite its diversities in space and time, our understanding of the essence or purport of this culture has been on the wane ever since Veda Vyasa divided the Vedas into meaningful divisions and gave them to us together with their respective Upanisads and Brahmanas. He also wrote and gave us the Vedanta Sutras, the Puranas, the Mahabharata and above all the Bhagavad Gita as guid once material for the correct understanding of the wisdom of our ancients.

During the last two thousand years or so, several distinguished personalities have appeared in this land and have taught us the essentials of this culture in their own way. The authors of Darshana Granthas had their own interpretation of this culture some stressing on the karma aspect, some stressing on the Jnana aspect and yet some others streesing both. At the same time, the authority of the Vedas and their injunctions were questioned by some who were called Nastikas by those who believed in them. Then the three great Acaryas, Shankara, Ramanuja and Madhava came into the scene and propagated their own views of Vedic religion. Sayana, the well known commentator of the Vedas paid special attention to the utility of the mantras in rituals and his commentary naturally did not bring out the

concepts enshrined in them. The Westerners inspite of their earnestness could not get at the real meanings of many passages. Dayanand and Aurobindo had their own method of viewing the Vedic religion. The result of all this has been that today an unbiassed student of Vedic literature is baffled by the huge amount of heterogenous literature on the Vedas, Brahmanas and Upanisads and is unable to get at a coherent and clear picture of the essence of this religion.

The reasons for this state of affairs are not far to seek. They may be briefly stated as follow: –

1. There are many contradictory statements in the Vedas, Brahamanas and Upanishads which, if not understood in the correct perspective will lead to divergent conclusions when sudied by different scholars.

2. Most of the scholars have not realised the fact that unless the Vedas, Brahmanas and Upanishads are studied together with cross-references a correct picture of the Vedic thought will not emerge.

3. There have been certain basic concepts of the Aryans which have guided them in their compositions whether they belong to the Jnana kanda or the Karma Kanda. Most of the scholars have hardly tried to unearth these concepts.

4. Many technical words occur in the Vedas Brahmanas and Upanishads and unless their correct meaning is understood, one is likely to miss the correct purport of many difficult passages occuring in the above literature.

5. The Arthavada portion of the Brahmanas invariably contain cruicial information for the proper understanding of Vedic passages. These have been, by and large, neglected by most of the scholars.

It is in the above context one has to view the contributions of Madhusudan Ojha. He was a scholar who practically spent his entire life in Vedic research and came out with his encyclopaediac knowledge of the entire ancient Sanskrit literature, gave us real insight into Vedic Wisdom. His writings covering a wide range of subjects can be broadly classified under four heads.– (1) Brahma Vijnana, 2) Yajna Vijnana 3) Itihasa and 4) reviews (समीक्षा ग्रन्थ) on specialised topics. It is most unfortunate that many of his writings have been lost to us. A few have been printed and published. Very few scholars in the country are aware of his contributions.

Madhusudan Ojha had a few disciples, of them, Motilal Sharma, Giridhar Sharma Chaturvedi and Surajandas Swami are the more prominent. Motilal Sharma was an outstanding scholar who was able to really cope up with the genius of his master. His outstanding contribution has been a Commentary on Shatapatha Brahmana for the first six kandas. Ojha rightly realised that it is Shatapatha Brahmana that holds the key to vedic interpretation and made maximum use of the Arthavada portion of this Brahmana to bring out the real meanings of Vedic passages. Giridhar Sharma Chaturvedi wrote commentaries on Brahma Siddhanta of Ojha as well as his Maharshikulavaibhavam. Surajandas Swami has published Hindi versions of a few works of Ojhaji. He is also involved in the publication of Shatapatha Brahmana Bhashya of Motilal ji and is helping Shri Karpur Chand Kulish, founder Editor of Rajasthan Patrika in this task. Kulishji is also bringing out Hindi translations of some of Ojhaji's works with the help of Chaturvediji's sons. It is very gratifying to learn that Surajandas Swami ji is also bringing out Hindi translation of छन्दसमीक्षा, a rare work of Ojhaji on छन्दस्.

A critical evaluation of the contributions of Ojha to the interpretation of Vedic wisdom is not easy. It requires a thorough study of all the writings by a scholar who has sound knowledge of the entire cross section of ancient Sanskrit literature and also has the brilliance to see through

the mind of Ojha. However it is not difficult for us to highlight some of his outstanding achievements.

By far the greatest merit of Ojha is his stunning analytical capacity. As a scientist, the author has been very much impressed by his approach to the subject. He puts before us the topic thread bare, so that a really intelligent research worker can read between the lines and build up his thesis on the topic discussed.

Let us first take up his exposition of the Veda tatva. Ojha was the first to analyse the word Veda in detail and show that it has a far deeper meaning than what is normally understood by us. We know only that Veda refers to book of knowledge of the Aryans and for convenience in the performance of rituals it has been divided into three parts (वेदत्रयी) viz. Rigveda, Yajurveda and Sama Veda. We also have the fourth Veda viz. Atharva Veda whose style is slightly different from other Vedas. We do not understand why they should be called infinite (अनन्ता वै वेदाः) and why they should be called अपौरुषेय (not the product of human mind) when they contain only descriptions) of the nature and fuctions of some Gods of Nature, some historical facts about the society in those days and details about rituals and stotras associated with them.

There are many statements in the literature which go to show that the word Veda is intimately connected with the creative processes in Nature. A few examples are given below:

१. शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पंचमः ।
वेदादेव प्रसुयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥मनु. १२/९८

२. सर्वेषा तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादो पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु. १/२१

३. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्धयर्थ ऋग्यजुस्सामसंज्ञकम् ॥ मनु. १/२३

४. ऋग्भयो जातं सर्वशो मूर्तिमाहुस्सर्वा गतिर्याजुषी है व शाश्वत् ।

सर्व तेजः समारूष्यं हि श्श्वत् सर्व हेदं हह्मणा हैव सृष्टम् ॥ तै.ब्रा. ३.१२.९

५. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

झन्दासि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजयत ॥ ऋ १०.९०.९

६. अथ स सर्वाणि भूतानि पर्यक्षण

ऋय्यय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतांन्यपश्चत् ॥ श.ब्रा. १०.४.२.१

७. तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत् ।

वाचा हि चीयते ऋचा यजुषा साम्ना ॥ श.ब्रा. १०.५.१.१

८. सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता- ऋचौ यजूषि सामानि ।

तेनाग्निस्त्रेधा विहिताः ॥ श.ब्रा. १०.५.१.२

९. सा या सा वाक्- असौ स आदित्यः ।

स एष मृत्युः ॥ श.ब्रा. १०.५.१.४

१०. यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्त्थं, ता ऋचः स ऋचां लोकः ।

यदेतदर्थि दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि, स साम्नां लोकः ।

अथ य एवे तस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः, तानि मंजूषि स यजुषा लोकः ।

सेषां त्रय्येव विद्या तपति । १०.५.२.१-२

११. त्रयो ह वै समुद्राः ।

अग्निर्यजुषां, महाव्रत साम्ना, महदुवर्थ ऋचाम् ॥ श.ब्रा. ९.४.३.१

१२. ऋक्-सामे वै इन्द्रस्यं हरी । ऐ.ब्रा. ८.६.२४

१३. स (प्रजापतिः) एतानि त्रीणि ज्योतिष्यभ्यतप्यते ।
सो ग्नेरेवचोसृजत, वायार्यजूंषि, आदित्यात्सामानि ॥ कौ.ब्रा. ६/१०

१४. स (प्रजापतिः) भूरित्येव ऋग्वेदस्य रसमादत्त सो यं पृथिव्यभवत् ।
तस्य यो रसः प्राणेदत् सो ग्निरभवद्रसस्य रसः ।
भुव ज्ञात्येव यजुर्वेदस्य रसमादन्त तदिदमन्तरिक्षमभवत् दस्य यो रसः प्राणेदत् स वायुरभवद्रसस्थ रसः ।
स्वरित्येव सामवेदस्य रसामदत्त सो द्यौरभवत् ।
तस्य यो रसः प्राणेदत् स आदित्यो भवद्रसस्य रसः ।. जै.उ.ब्रा. १.१.१-५

१५. इयमेव ऋक्, अग्निः साम ।
अन्तरिक्षमेव ऋक् वायुस्साम ॥
द्यौरेव ऋक् आदित्यः साम ।
न क्षत्राण्येष ऋक् चन्द्रमाः साम ॥ छा.उप. १/६

One can go on quoting many such passages to prove that the word Veda and its division into Rik., Yajus, and Sama have a much deeper meaning than what is normally understood by us. Ojhaji made maximum use of these statements and brought out many interesting details about the nature and purpose of the Vedas. All these details are said to be contained in his work वेदसमीक्षा which is so far not available to us. Motilal Sharma in his तात्विकभेद उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका has dealt with many concepts of our Maharshis on Veda. Ojha's other works also contain to some extent the eleboration of these concepts.

We give below some salient points emerging out of the above exposition.

1. The word Veda is intimately connected to the creative processes in Nature. Since the creative processes in Nature are infinite the Vedas also are infinite (अनन्ताः). Since they occur in Nature they are not the product of the human mind (अपौरुषेय)

2. The words Rik., Yajus and saman have distinct meanings in the Creative process. The riks give rise to physical form of the object. All the movement is attributed to yajus. Saman is responsible for the Mahima (or Tejas) part of the object. In other words the Veda principle involving Rik. Yajus and Saman enters into every object of creation.

3. The sun who may be conceived as the embodiment of Prajapati the creator is also a typical example of the embodiment of all the three Vedas and therefore the saying goes एषा त्रयी विद्या तपति. The disc of the sun represents the riks, the halo round the sun represents the samans and the purusha inside represents the yajus.

4. Prajapati is the Atman of the cosmos and has three attributes viz. मनस्, प्राण and वाक्. The Veda which can be conceived as his Mahima has also the same three attributes viz. मनस् प्राण and वाक्. The Manas part produces vijnana, the prana part runs the yajna cycle and the vak part fills the entire space.

5. To look at in another way, it was believed that prana is the origin of the universe and is manifold in nature. It is called ऋषि (प्राणा वा ऋषयः). The operations of the pranas extend to the entire universe and is responsible for the creation of all that we see in the universe. This Operation can rightly be called Veda of the Supreme lord of Creation (स्वयं भू ब्रह्म) or "ब्रह्मनिश्वसित वेद"

6. The Rik., deals with the material part of the created object. It provides a seat for the manas and prana to operate. The centre about which creation proceeds is called उक्थ. A series of such centres of creation is called महदुक्ष. It is also called ऋचां समुद्रः The influence of the created object is felt upto a certain distance. If the object is right it shows itself as rediance round the object. Since the degree of influence is the same at any distance all round, the radiance round the object is called Sama.

7. The movement within the mandala is yajus. In other words the vak part of the created object is covered by riks, the prana part of it by yajus and the manas part of it by sama. Prana is subtler than vak and manas is subtler than prana. The earth which is really conceived as Agni pinda is solid, the air above it subtler and the space above it is rarer than the atmosphere. That is why Rigveda is called Agniveda, the yajurveda Vayarva veda, and the Sama veda Jyotirveda or Aditya veda. It is interesting to note that the first rik in Rigveda deals with Agni of the earth (पुरोहितम्). The yajuryeda starts with the propitiation of Vayavyagni (वायवस्थः) and the Samaveda begins with the propitiation of Adityagni that is for away (अग्न आयानि). It may be incidentally noted the Sama is three times, rik (तृचं साम) has its origin in the fact that the circumference is three times the diameter.

8. We have already seen that the moving force in any object of creation is yajus. The movement takes place with respect to a steady back ground. The movement of wind in space constitutes yajus. जुः is akasha and is movement.

9. The back ground of establishment of an object of creation is called Brahma. The movement towards

the centre of the object is Visnu and that away from the centre of the object is Indra. In other words Indra is the force which tends to disintegrate the form of the object and Visnu is the force which opposes it and maintains the form.

10. Another important aspect of creation is छन्दस्. The form and shape of a created object is controlled by छन्दस्ः rik. and saman are controlled by chandas while yajus which is established on them does not have a chandas of its own. That is why it is said ऋक् सामे इन्द्रस्य हरी.

11. The Samaveda mainly deals with the primordial waters (आपः) in the region above the sun. Samaveda is also called Brahmaveda or Atharva Veda. All the four vedas thus take part in creation. In other words Agni and soma are the two fundamental entities that take part in creation. Agni is the eater of food (annada) and soma is food (anna). The whole universe is created and sustained by this anna - annada principle.

12. Akasha is an important medium for the origin and propagation of the Vedas. Both prana and vak (matter) fill this akasha. It is immaterial whether vak is the origin of Veda or prana is the origin of veda. Both are indispensable parts of the universal Atman which pervades the entire space. Akasha is of three kinds, paramakasha is the infinite Brahmakasha. Paramakasha is the region of operation of Indra prana, the controlling prana of all pranas. It is also called Indrakasha. Bhutakasha is region of propogation of found and the region of origin of all forms as are known to us. It is in this region the human mind has the maximum operation.

13. Sound (शब्द) constitutes an important means of communication of knowledge. The creative processes can be conceived as revealing themselves in the form of Sound and if these sounds can be interpreted in terms of knowledge about the processes then this forms the basis of शब्दवेद-शब्दब्रह्म. To give one example of sound communicating knowledge take thunder-storm. From an intelligent analysis of the sounds produced by thunder, the Vedic seers inferred the details of the on-coming rainfall intensity. It will be interesting to the readers to note that several rainfall forecasing rules exist in post Vedic literature based merely on the sounds emanating from thunder. Incidentally we understand why so much importance was given to the proper intonation of the letters, while the Vedas were recited. In course of time when communication of knowledge through sounds or oral expression become possible, the Vedic seers produced the Shabda Veda or Veda Mantras as we have today in books. In other words Shabda Veda which is पौरुषेय वेद is the expression of the seers to whom the creative processes revealed themselves when they were earnestly trying to discover the laws of nature. They passed on their direct knowledge orally to others who did not have the mental capacity to acquire it themselves. Since hearing plays an important part in communication, the Vedas are also called श्रुतिः.

14. We may also reason this way. If the three attributes of Vedatma viz. manas, prana and vak, the vak part is of two kinds. One is in the form of शब्दब्रह्म and the other is in the form of अर्थब्रह्म. Agni is अर्थ and therefore we have आग्नेयवाक् and शाब्दिकवाक् which give rise to Agneyaveda and Shabdika veda. Agneya Veda which may also be called Vijanana Veda is part

of Ishwara himself and is therefore अपौरुषेय Shabdika veda which may also be called Shastra Veda is पौरुषेय. Shabda Veda represents the शरीर of Veda while vijnanaVeda represents the आत्मा of Veda.

There are many more interesting details about Veda explained by both Ojha and Motilal Sharma. The reader is referred to the original works of these scholars. Ojhaji analysed the relation between Veda and Dharma also. A short account of this analysis is given by the author in a separate paper.

Ojha's contribution to our understanding of Vedic Cosmogony (ब्रह्मविज्ञान) is unparalleled in the research contributions to this subject. His works ब्रह्मसमन्वय, ब्रह्मविनय, ब्रह्मचतुष्पदी and ब्रह्मसिद्धन्त form a group in which the concept of Brahman has been analysed from various angles based on the statements in the Vedas, Brahmanas, Upanishads and Gita. It is not possible in this short paper to go into all details of his analysis we would therefore confine ourselves to merely out ining his achievements.

1. In Vedic Literature (inciuding Brahmanas and Upanishads) we come across many terms which represent Atma or Brahman. They are, निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर, विश्वात्मा, जीवात्मा, विश्वातीतः, गूढोत्मा निर्गुणः निष्कलः निर्विकारः षोडशीपुरुषः प्रजापतिः, चिदात्मा क्षेत्रज्ञ, ईश्वरः, परमेश्वरः, पुरुषोत्तमः and so on. There are also many contradictory passages in literature about the nature of Atman or Brahman. Nobody before Ojha, ever tried to analyse the real meanings of these terms and reconcile the various contradictory passages. Ojha took great pains to examine all the passages carefully and gave us a clear picture of the meanings of these terms and their role in the creative process.

2. Ojha analvsed ब्रह्म as चतुष्पात् and defined the padas as निर्विशेष, परात्पर, पुरुष and पुर. While निर्विशेष is Brahman in the pure Rasa state and is described in the Vedas

and Upanishads, as निर्धमक, अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, अपरिमेय etc., परात्पर is the stage where both Rasa and Bala are present in an unlimited bacground and renders Him all powerful (सर्वशक्तिमान) and all knowing (सर्वज्ञ). Both Rasa and Bala are one and are not distinguishable from each other in this stage. Purusa is the stage where bala builds itself in the background of rasa and gives rise to regions of active prana. This Purusa is of three kinds viz., Avara, Paravara and Para. These are also called क्षर, अक्षर and अव्यय. The Pura stage is the cosmos or शरीर in which the Purusa lives. While निर्विशेष and परात्पर are limitless, पुरुष is subjected to limit and is directly involved in creation.

3. Avyaya is ज्ञानस्वरूप, Akshara is कर्मस्वरूप. and kshara is अर्थस्वरूज. In other words there are only three entities in the cosmos viz., ज्ञानक्रिया and अर्थ and these three have their origin in Avyaya, Akshara and kshara respectively. When Manas appears in the ocean of rasa and bala as a result of build up of bala, the Avyaya stage is reached. As a result of further build up both inside and outside manas, four more kalas of Avyaya come into existence. While the build up inside gives rise to विज्ञान and आनन्द, the build up outside gives rise to प्राण and वाक्. Thus DeJÙeÙe has five kalas viz., आनन्द, विज्ञान, मनस्, प्राण and वाक् Avyaya is called the prime Atma (मुख्य आत्मा). If the manas tends towards विज्ञान and आनन्द, it leads to much of the Atma and if it tends towards प्राण and वाक्. it leads to. That is why the saying goes.

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

4. Akshara Purusa resides in the prana part of Avyaya Purusa. He is responsible for activity (क्रिया) and has three components ब्रह्मा, विष्णु and इन्द्र. Which are otherwise name प्रतिष्ठाशक्ति, आकर्षणशक्ति and विक्षेपणशक्ति. The first is responsible for the maintenance of form

of the object, the third one throws out matter from the object and the second one fills up the void by bringing matter from outside. In addition to the above, Agni and Soma are also the kalas of Akshara Purusha. Thus Akshara Purusha also has five kalas.

5. Kshara Purusha resides in the vak part of Avyaya and is responsible for the material part of the cosmos. In the creative process Avyaya Purusha (also called Purushottama) provides the basic support (आलंबन), Akshara purusha constitutes efficient cause (निमित्तकारण) and kshara purusha constitutes material cause (उपादानकारण). Kshara purusha also has five kalas and they are exhibited at all the three levels viz., आधिभौतिक, आधिदैविक and आध्यात्मिक prana, Apah, Vak, Anna and Annada are its kalas at the adhibhautik level. At the adhidaivika level they are चन्द्र, परमेष्ठी, सूर्य and पृथिवी. All these constitute the ब्रह्मान्ड which forms a branch of the विश्ववृक्ष. At the adhyatmik level they are, कारण, सूक्ष्म and स्थूल शरीर as well as प्रजा and वित्त. The whole cosmos is filled with kalas of kshara purusha.

6. The purusha with his fifteen kalas has the support of परात्पर and is called षोडशीप्रजापति. Ojha goes into great detail about the creative processes not found in any other works. No other author has dealt with the role of Pranas in creation in the way he has explained. It will take several years of hard work to master his writing.

At the adhyatmik lavel the concept of Atma has been dealt with by him in great detail. His work entitled आत्मनिवित् is not availabale to us. However, the same subject has been dealt with by him in his other works also. Motilal Sharma has given an excellent exposition of आत्मस्वरूप and आत्मगति in his works. चिदात्मा, शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा have all been explained by him in great detail. Many contradictory statements in the Vedas, Brahmanas and Upanisads

regarding the nature and final destiny of the Atman (आत्म गति) have been explained and reconciled. Never in the past such an analysis has been attempted by any other author.

Since yajna is the basic process involved in creation it gets detailed treatment at the hands of Ojha. His work entitled यज्ञसमीक्षा is not available to us. However, this subject is dealt with in other works also. Motilal Sharma also deals with यज्ञ in many of his works.

The concept of Prajapati is no where so clearly explained as in the works of Ojha and Motilal sharma. Ojha's analysis of the ten schools of thought prevalent during the Vedic period regarding the origin of the cosmos gives him the highest place among the scholars of all times. His works on these ten school (वादs) contain the essence of Vedic Metaphysics.

Ojha's contributions to the interpretation of Vedic terminology enable us to understand the correct meanings of many words occuring in Vedas, Brahmanas and Upanishads. Words like, ऋत, सत्य, रस, बल, माया, वयुन, वयोनाध, ऋषि, आभु, अभ्व, इन्द्र, स्वाहा, स्वधा, वषट्कार, सावित्री, गायत्री, ज्ञान, विज्ञान, छन्दस् etc. receive masterly analysis at his hands. The elaboration of each of these would demand separate paper for each and therefore the author would not attempt it here.

In the light of his analysis of the Brahman Ojha has reconciled many statements in the दर्शन ग्रन्थs. He has shown that while the वैशेषिक दर्शन stops with क्षर आत्मा, and सांख्य दर्शन stops with अक्षरात्मा, the वेदान्त दर्शन and गीता reach upto अव्ययातमा.

There are many other works of Ojha which are aqually important. Mention may be made of इन्द्रविजयः, जगद्गुरुवैभवम, महर्षिकुलवैभवम, कादम्बिनी, अत्रिक्ष्याति, यज्ञमधुसूदन and पथ्यास्वस्तिः. They cannot be dealt with here for want of space. The author's main interest in writing this paper is tocreate an awareness among scholars and to bring to their attention this neglected but most outstanding scholars of all times.

Ojha's language is simply marvellous. We see the beauty of Sanskrit language in his writings. Poetry flows so easily from his mind and reflects the richness of his many sided personality.

पण्डित मोतीलाल जी की दृष्टि में वैदिक संस्कृति की सर्वाङ्गीणता

डॉ. दयानन्द भार्गव
पूर्व आचार्य एवम् अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

पण्डित मधुसूदन ओझा के अन्यतम शिष्य पण्डित मोतीलाल जी ने अपनी कृतियों में वैदिक संस्कृति के ४८ मुख्य उपादान तत्व परिगणित किए हैं जिन्हें संलग्न तालिका में चार सूचियों में विभक्त करके बारह चतुष्कों द्वारा इस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है कि जहाँ एक ओर शास्त्री जी की दृष्टि में वैदिक संस्कृति की समग्रता उभर कर आये वहाँ दूसरी ओर उस सांस्कृतिक दृष्टि का वेदोक्त प्रमाण भी चार सूचियों के दो अन्तराल में अंकित रहे ताकि ओझाजी की वेद व्याख्या पद्धत्ति की परमात्मा का यह पक्ष उजागर हो सके कि इस पद्धत्ति का आधार स्वयं वेद में ही है ।

सूचि-अ तथा संस्कृति का बाह्यपक्ष

सूचि-अ की बारह अवधारणाओं के प्रथम शरीर है । अभिप्राय यह है कि इस सूचि में अंकित बारह अवधारणाएं संस्कृति के शारीरिक पक्ष से सम्बद्ध है । इसे सस्कृति का मूर्त रूप भी कह सकते हैं (अ-११) संस्कृति का यह मूर्त पक्ष आर्थिक अभ्युदय पर आधारित है (अ-२) तथा आर्थिक अभ्युदय श्रम (अ-३) एवं कर्म (अ-४) पर टिका है । अग्नि (अ-१०) अर्थात् ऊर्जा श्रम और कर्म का मूल है । श्रम और कर्मठता के ये नैतिक मूल्य शरीर के तमस् (अ-५) अथवा जड़ता को दूर करके देश (अ-८) को सम्पन्न (अ-२) बनाते हैं । वर्णो में शूद्र वर्ण (अ-७) और आश्रमों में ब्रह्मचर्य (अ-६) श्रमशीलता और कर्मठता के उन जीवन मूल्यों के साधना स्थल है जिन्हें आज की भाषा में Dignity of labour कहा जाता है । सूचि अ में अंकित बारह अवधारणाएं (तथा शेष तीन सूचियों की अवधारणाएं भी) परस्पर इस प्रकार अन्योन्याश्रित है कि यदि इनमें से किसी एक अवधारणा के प्रति भी किसी समाज अथवा राष्ट्र में उपेक्षा या शिथिलता का भाव आता है तो उस सूचि की शेष ग्यारह अवधारणाएं भी स्थिर नहीं रह पातीं जैसे जहाँ इस अ सूचि में अंकित मूल्यों का ह्रास होता है वहाँ देश (अ-८) निर्बल हो जाता है, शरीर (अ-२) असमर्थ हो जाता है । तथा अर्थ पुरुषार्थ क्षीण कर दारिद्र्य को जन्म देता है । आज का अधिक उत्पादन करो नारा संस्कृति के इसी पक्ष का अंग है ।

अ-सूचि के दाहिनी ओर जो श्रुति वाक्य उद्धृत किये गये हैं उनके संदर्भ स्थलों के पश्चात् कोष्ठक में दिये गये अंक ये संकेत देते हैं कि उद्धृत श्रुति वाक्य द्वारा (अ) सूचि की किन किन अवधारणाओं का पारस्परिक सम्बन्ध अभिव्यक्त होता है। उदाहरणत: अ-१ के अनन्तर दिये गये श्रुति वाक्य के बाद कोष्ठक में (१+१०) लिखा है जिसका यह अर्थ होगा कि इस श्रुतिवाक्य द्वारा अ-सूचि में दी गई प्रथम अवधारणा (अर्थात् शरीर) का दसवीं अवधारणा (अर्थात् अग्नि) से सम्बन्ध बताया गया है। इन चारों सूचियों में उद्धृत श्रुतिवाक्यों के बाद कोष्ठक में दिये गये अंकों का यही तात्पर्य समझना चाहिये। अ-सूचि के साथ प्रमाण रूप में दिये गये— श्रुति वाक्यों द्वारा यह समझ में आ सकता है कि किस प्रकार ऋक् तत्व (अ-१२) व्यक्ति, राष्ट्र या समाज में मूर्त, भौतिक, आर्थिक या शारीरिक पक्ष की उन्नति के लिये श्रमशीलता तथा कर्मठता पर बल देते हैं। एक अन्य मूल्य वाणी भी है। (अ-९) जो राष्ट्र के आर्थिक अभ्युदय के लिये आवश्यक है। इसलिए ऋग्वेद में वाक् को राष्ट्री सङ्गमनी वसूनाम् कहा गया है।

सूचि-ब तथा संस्कृति का मानसिक पक्ष :

ब-सूचि में संस्कृति के मानसिक पक्ष को लिया गया है जिस प्रकार अ-सूचि कर्म द्वारा तमोगुण पर विजय की सूचक है उसी प्रकार ब सूचि उपासना द्वारा (ब-४) रजोगुण (ब-५) को अभिभूत करने की सूचक है। दूसरी ओर रजोगुण (ब-५) मन को (ब-९) गति (ब-११) भी प्रदान करता है। जीवन की यह गतिशीलता जिसे आजकल Dynamic व्यक्तित्व कहा जाता है हमारे मन की (ब-१) सब कामनाओं (ब-२) की पूर्ति करती है। दिग् दिगन्तों में (ब-८) वैश्य (ब-७) गति द्वारा (ब-११) व्यापार के माध्यम से उस अर्थ को (अ-२) जन भोग्य (ब-२) बनाता है जिसका उत्पादन अ-सूचि में अंकित १२ अवधारणाओं से होता है। किन्तु इन पदार्थों का भोग यदि व्यक्ति स्वयं ही करता रहे तो स्वार्थ परायणता का जन्म होता है जबकि यदि दान (ब-३) द्वारा हम अपनी सम्पदा को बाँटकर भोगते हैं तो वह एक सुखी गृहस्थ (ब-६) का आधार बनता है। वायु (ब-१०) इस सूचि में अंकित जीवन मूल्य गति शीलता - का प्रतीक देव है जिसका सम्बन्ध यजुर्वेद (ब-१२) से है। संस्कृति के भौतिक तथा आर्थिक रूप को जिस प्रकार ऋक् तत्व प्रतिपादित करता है उसी प्रकार संस्कृति के मानसिक पक्ष तथा काम पुरुषार्थ का साधन यजुस्तत्व है। अ-सूचि के समान ब-सूचि का अवधारणाओं के भी पारस्परिक सम्बन्ध को बतलाने वाले श्रुतिवाक्य अ-सूचि तथा ब-सूचि के अंतराल में दिये गये हैं। इस सूचि में अंकित किसी भी एक तत्व की उपेक्षा संस्कृति के मानसिक पक्ष को दूषित कर देती है तथा राष्ट्र के काम पुरुषार्थ की सिद्धि में बाधक बनती है।

सूचि-स तथा संस्कृति का बौद्धिक पक्ष :

सूचि-स में दी गई अवधारणाएं संस्कृति के बौद्धिक पक्ष को उजागर करती है। पुरुषार्थों में धर्म पुरुषार्थ (स-२) इस पक्ष का सूचक है जिसका मुख्य तप (स-३) और ज्ञान (स-४) है। वर्णों में क्षत्रिय वर्ण (स-७) धर्म (स-२) की स्थापना करता है। और आश्रमों में से वानप्रस्थ (स-६) आश्रम में धर्म की साधना मुख्यत: की जाती है। क्षत्रिय धर्म की स्थापना द्वारा काल (स-८) का निर्माण करता है इसीलिये महाभारत में कहा गया है कि राजा कालस्य कारणम्। क्षत्रिय प्राणवन्ता (स-९) की तथा तेजस्विता (स-११) का उपासक है इसलिए स-सूचि में अंकित अवधारणाओं का अधिष्ठाता देव आदित्य (स-१०) है जिसका सम्बन्ध सामवेद (स-१,२) से है। स-सूचि से सम्बद्ध प्रमाण सूचि के ऊपर तालिका के ऊपरि अर्धभाग में दाहिनी ओर अंकित है।

अ, ब, स सूचियों की तरतमता :

अर्थ से काम ओर काम से धर्म अधिक महत्वशाली है। इसी प्रकार शरीर से मन और मन से बुद्धि अधिक महत्वशाली है। अ,ब और स सूचि में दी गई अवधारणाओं की तरतमता का सब चतुष्कों में यही क्रम समझना चाहिये। धर्म अर्थ का तथा मोक्ष काम को नियत्रित करे तो एक समृद्ध समाज, सशक्त राष्ट्र तथा सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है, अन्यथा जब धर्म पर अर्थ तथा मोक्ष पर भोग हावी हो जाता है तो समाज विशृंखलित, राष्ट्र खण्डित और व्यक्तित्व उच्छृंखल हो जाता है। जिसे हम त्रयी कहते हैं अर्थात् ऋक्, यजु और साम - वह इन तीन सूचियो में ही समाप्त हो जाती है। संस्कृति के ये तीन पक्ष ही इन्द्रिय गोचर अथवा बुद्धिगम्य हैं। इसलिए इस तालिका की अ,ब,स तीनों सूचियों तालिका के निम्न अर्ध भाग में दी गई है। ये तीनों पक्ष उपनिषदों की परिभाषा में अविद्या, अथवा अपरा विद्या तथा आज की भाषा में विज्ञान कहलाते हैं। किन्तु संस्कृति का एक पक्ष ऐसा भी है जो न इन्दियगोचर है न बुद्धिगम्य। वह तत्व है आत्म तत्व। द-सूचि में दी गई सब अवधारणाएं संस्कृति के आत्म-पक्ष से जुड़ी हैं। यही द-सूचि विद्या अथवा परा विद्या अथवा ज्ञानपक्ष की सूचक है।

द-सूचि तालिका के ऊर्ध्वगामी अर्ध भाग में इसलिए दी गई है कि इस सूचि में अंकित अवधारणाएं अ,ब,स सूचियों में अंकित अवधारणाओं से सर्वथा अतीत है। अ,ब,स सूचियों में गुणों का साम्राज्य है, जबकि द-सूचि की अवधारणाएं गुणातीत है। एक दिक्देशकालावच्छिन्न है दूसरी दिक्देशकालाद्यनवच्छिन्न, एक वाणी , मन तथा बुद्धि का विषय है, दूसरी वाड्मनस् अगोचर, एक विज्ञान, दूसरी ज्ञान, एक बल, दूसरी रस। इनमें

प्रथम मिथुनभाग (अर्थात् द्वन्द्व रूप) के कारण मिथ्या कहलाती है किन्तु वह अलीक नहीं हैं। पण्डित मधुसूदन जी ने शंकराचार्य के मिथ्यात्व का यही अर्थ किया है इसीलिये उनके जीवनदर्शन में विज्ञान भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सका है जितना अध्यात्म। ज्ञान पक्ष का अधिष्ठाता देव सोम (द-१०) तथा विज्ञान पक्ष का मुख्य अधिष्ठाता देव अग्नि (अ-१०) ही जगत् का मूलमन्त्र जिसका स्मरण कराने के लिये ओझाजी तथा उनके शिष्य बारम्बार "अग्निषोमात्मकं जगत्" की श्रुति की रट लगाये रहते हैं।

द-सूचि तथा संस्कृति का अध्यात्मपक्ष :

द-सूचि में संस्कृति में आत्म तत्व के उपकरण दिये गये हैं। इस पक्ष का मूल उद्गम अथर्व तत्व (द-१२) है। इसीलिये अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहा जाता है। वर्णों में ब्राह्मण (द-७) और आश्रमों में संन्यास (द-६) आश्रम इस आत्म की उपलब्धि के विशेष स्थान हैं। आत्मतत्व दिक्कालातीत (द-८) और गुणांतीत (द-५) है। आत्मा तत्व का स्वरूप सदा प्रकट है इसलिए यह संविद् रूप है (द-४)। यह आत्मा ही वास्तविक यज्ञ है (द-३)। यह सर्वमय है (द-११)। इसका देव सोम है (द-१०) क्योंकि उसी के पान से मोक्ष (द-२) की प्राप्ति होती है।

वेद तथा वेदान्त :

जैसा कि अभी संकेत किया गया है, संस्कृति के अध्यात्मपक्ष का वर्णन करते वाली विद्या पराविद्या कहलाती है। किन्तु यह मानना ठीक नहीं है कि वेदों में परा विद्या नहीं हैं। जैसा कि सूचि-द के बायीं ओर दिये हुए वेद के उद्धरणों से सिद्ध होता है, वेदों में अध्यात्मतत्व का विस्तृत वर्णन है। इतना अवश्य है कि जहाँ वेदों में इस आत्मतत्व के विधि मुख वर्णन पर बल है, वहाँ वेदान्त अर्थात् उपनिषद् के उसी आत्मतत्व का निषेध-मुख वर्णन अधिक बलवान् है।

उदाहरणत = जहाँ यजुर्वेद "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा" कहता है वहाँ उपनिषद्" न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्" की भाषा बोलते हैं। प्रस्तुत तालिका में जितने वेदावाक्य उद्धृत है वे विध्यात्मक हैं। उपनिषदों में इन्हीं भावों को बतलाने वाले निषेधात्मक वाक्य सरलता से खोजे जा सकते हैं। आत्मतत्व के इस विश्वमयात्मक विधि रूप तथा विश्वोत्तीर्ण निषेध रूप वर्णन का समंजस्य पुरुषसूक्त में दृष्टव्य है — स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।

वैदिक संस्कृति की समग्रता :

अ,ब,स तथा द सूचियों में विभक्त इन अड़तालीस अवधारणाओं पर ज्यों ज्यों हम वेद वचनों के आलोक में विचार करते हैं त्यों त्यों वैदिक संस्कृति की समग्रता अधिकाधिक उजागर होती है। दूसरे कोण से यदि इन्हीं चार सूचियों में समाविष्ट बारह चतुष्कों पर दृष्टिपात करें तो हमें ऋक्, यजु, साम और अथर्व के बारहवें चतुष्क में से मूर्ति, गति, तेज और सर्व का ग्यारहवाँ चतुष्क प्रादुर्भूत होता दिखेगा। जिसका सम्बन्ध क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य और सोम के दसवें देव चतुष्क से तथा वाणी, मन प्राण और आत्मा के नवें मनोता चतुष्क से है। यही चतुष्क देश, दिक्, काल और दिक्कालाद्यनच्छिन्न उस आठवें चतुष्क का मूल है जिसके ताने बाने से यह विश्व बना है। तालिका के इन आठवें से बारहवें तक के ५ चतुष्कों में वेद की तत्व मीमांसा आ गई है। जबकि सातवें और छठे चतुष्क में वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत समाज व्यवस्था का समावेश हो गया है। पंचम चतुष्क में गुणात्मक प्रकृति, चतुर्थ चतुष्क में साधना के अंग, तृतीय चतुष्क में जीवन मूल्य, द्वितीय चतुष्क में पुरुषार्थ चतुष्टय और प्रथम चतुष्क में हमारे व्यक्तित्व के बार उपादान समाविष्ट हो गये है। इस प्रकार इस तालिका से परस्पर सम्बद्ध एक ऐसा समग्र जीवन दर्शन फलित होता है जिसमें संस्कृति के सभी अंग – तत्व मीमांसा, समाज व्यवस्था, प्रकृति, जीवन मूल्य, जीवन के लक्ष्य तथा व्यक्तित्व का विकास – समाविष्ट हो जाते हैं।

मधुसूदन जी की वेद व्याख्या पद्धति के इस मूलमन्त्र को लेकर कि वेद मुख्यतः ऊपौरुषेय तत्व है तथा शब्द राशि रूप वेद तो उपचारतः ही वेद कहे जा सकते हैं, मुख्यतः नहीं, पंडित मोतीलाल जी शास्त्री ने ८०,००० पृष्ठों में इन समस्त सास्कृतिक उपादानों की व्याख्या कितने विस्तार से की होगी, इसका अनुमान केवल इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि इन बारह चतुष्कों में से केवल एक आठवें चतुष्क पर ही उन्होंने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ "दिक् देशकाल स्वरूप मीमांसा" लिखा जो ७०५ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। हमने अपने इस निबन्ध में मोतीलाल जी के विशाल साहित्य में से स्थालीपुलाक न्याय से केवल बारह चतुष्क चुन लिये हैं। ऐसे अनेक चतुष्क मोतीलाल जी के साहित्य में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं, तथा चतुष्को से भी अधिक त्रिक हैं। इस निबन्ध के साथ संलग्न तालिका में जो वेद के प्रमाण दिये हैं उनमें दसवें तथा ग्यारहवें चतुष्क के प्रमाण तो स्वयं मोतीलाल जी ने ही दे दिये थे किन्तु शेष नौ चतुष्कों के प्रमाण अधिकतर स्वयं लेखक ने खोजे हैं। इन प्रमाणों को खोजते समय लेखक को एक सुखद अनुभूति यह हुई कि मोतीलाल जी के साहित्य में जो कुछ आपाततः उनके मन की कल्पना जैसा प्रतीत होता है वह वस्तुतः उनकी कल्पना नहीं है बल्कि उसके लिये स्वयं वेदों में प्रमाण उपस्थित हैं। वेदवाक्यों की ही विषयवस्तु को एक विशेष प्रकार से क्रमबद्ध रूप से सजाकर पंडित मोतीलाल जी शास्त्री ने उसे एक ऐसा आकार प्रदान कर दिया जो अत्याधुनिक है किन्तु वस्तुतः जिसका मूल संसार के

प्राचीनतम ग्रन्थ – वेदों – में निहित है। पंडित मोतीलाल जी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा उन तत्वों को इस तरह उजागर किया है कि वे न केवल वर्तमान के लिए प्रासंगिक अपितु भविष्य के लिये मार्ग सूचक भी बन गये। ग्रन्थ की अन्तर्दृष्टि को साधना द्वारा समझने की पौरस्त्य प्रणाली तथा उपलब्ध तथ्यों को विश्लेषण तथा वर्गीकरण की प्रक्रिया द्वारा नवीन ढंग से प्रस्तुत करने की पश्चिम की वैज्ञानिक प्रणाली का सामंजस्य पण्डित मोतीलाल जी के ग्रथों में उपलब्ध होता है।

ओझाजी की पद्धति द्वारा अनुशीलन करने पर वेद संग्रहालय की वस्तु न रह कर हमारे दैनन्दिन उपयोग की वस्तु बन जाते हैं, यह इस पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है। मोतीलाल जी द्वारा प्रतिपादित वैदिक संस्कृति का यह स्वरूप सम्प्रदायातीत तथा सार्वभौम है – यह कहने की आवश्यकता नहीं है। वेद के ऋषियों को स्वप्रतिपादित संस्कृति की यह सार्वभौमिकता सुविदित थी अन्यथा वह यह दावा न करते कि – सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा।

पण्डित मधुसूदन ओझा की वेद व्याख्या – एक समीक्षा

प्रो. ब्रजबिहारी चौबे,
निदेशक,
विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत व भारत भारती
अनुशीलन संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय,
होशियारपुर ।

जिस प्रकार काशी की पण्डित परम्परा देश के हर कोने से आये पण्डितों को अपने में समाविष्ट कर संस्कृत साहित्य का संवर्धन तथा वैदिक साहित्य का संरक्षण करती रही, उसी प्रकार जयपुर की पण्डित परम्परा भी देश के विभिन्न भागों से आये पण्डितों को ससम्मान स्वीकार करती रही और संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों को पल्लवित एवं पुष्पित करती रही । मिथिला में पैदा हुये पं. मधुसूदन ओझा की कार्यस्थली जयपुर ही थी । यहां स्थानीय पण्डितों का, जहाँ उन्हें सहयोग प्राप्त हुआ, वहाँ राज्याश्रय में एक बहुत बड़ा सम्मान भी प्राप्त हुआ ।

सर्वतोमुखी विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न उस पण्डित की जिह्वा पर मानो सरस्वती का वास था । अन्यथा इतना विस्तृत गम्भीर साहित्य का सृजन कर पाना किसके लिये सम्भव था ? इसी अद्भूत प्रतिभा के कारण उनका सर्वत्र देश और विदेश में सम्मान हुआ । आज उस विद्वान् पर राजस्थान या मिथिला को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत को गर्व है ।

पण्डित मधुसूदन ओझा ने अपनी सम्पूर्ण रचनाओं का प्रणयन चार व्यापक विभागों के अन्तर्गत किया । वे विभाग हैं - ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, पुराण समीक्षा तथा वेदांग समीक्षा । इन्हीं चार विभागों के अन्तर्गत उनकी समस्त रचनाएं है और ज्ञान के विभिन्न पक्ष ब्रह्म यज्ञ, धर्म, दर्शन, विज्ञान, कर्मकाण्ड, आचार, ज्योतिष, इतिहास, व्याकरण आदि विषयों का इनमें सारगर्भित वैज्ञानिक विवेचन किया गया है । प्रस्तुत निबन्ध में हम पं. मधुसूदन ओझा की वेद विषयक दृष्टि की समीक्षा तथा वेद भाष्यकारों की परम्परा में उनके योगदान का विवेचन करेंगे ।

वेद का स्वरुप और लक्षण क्या है, इसकी रचना किसने की, इसका प्रतिपाद्य विषय क्या है तथा इनका प्रामाण्य है या नहीं, आदि विषयों पर बहुत प्राचीन काल से विवेचन होता आ रहा है । वस्तुतः वेद के विषय में इस प्रकार का विवेचन मीमांसा काल से शुरू होता है । मीमांसा-दर्शन का उदय इन्हीं विषयों के विवेचन के लिये हुआ । मीमांसकों ने

प्रामाण्य-विचार को एक दार्शनिक रूप दिया और पूर्व पक्ष एवं सिद्धान्त पक्ष की शैली अपना कर बड़े विस्तार में इन विषयों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों का विवेचन किया। आचार्य जैमिनि ने अपने "मीमांसा-सूत्र" में इन विषयों को सूत्ररूप में संकलित किया। शबरस्वामी, कुमारिलभट्ट, प्रभाकर, आपदेव आदि मीमांसा के विद्वानों ने इस विषय पर अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों एवं भाष्यों का प्रणयन किया और अनेक युक्तियों से वेद के प्रामाण्य को प्रतिपादित किया। माधवाचार्य, सायण आदि वेद-भाष्यकारों ने मीमांसकों के वेद विषयक प्रामाण्यवाद को आगे बढ़ाया और कई नई युक्तियों की भी उद्‌भावनाऐ की।

मीमांसादर्शन के प्रादुर्भाव से पूर्व वेद विषयक धारणा क्या थी, जिसके उत्तर में इस दर्शन का विकास हुआ, इस विषय पर जब हम विचार करते हैं, तो मालूम होता है कि उस समय वैदिक कर्मकाण्ड एवं ब्राह्मणवाद से विरुद्ध एक आन्दोलन खड़ा हुआ था। ब्राह्मणवाद का, जो मुख्य रूप से वेदों के ऊपर आधारित था, खण्डन इन ब्राह्मणविरोधी सम्प्रदायों का मुख्य विषय था। ब्राह्मण धर्म के मूलभित्ति रूप वेदों की सत्ता के विषय में ही उन्हें सन्देह होने लगा और उन्होंने जनता में इसके विरुद्ध बहुत प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि वेदों का अध्ययन अध्यापन ही बन्द होने लगा। लोग समझने लगे कि वेद हैं ही नहीं और यदि हैं भी, तो उसका कोई अर्थ नहीं। यज्ञ यागादिक कर्मों में, जो इनका प्रयोग किया जाता है, उसका कोई आधार नहीं। स्वर्ग आदि अनिर्दिष्ट फलों की प्राप्ति, जो इनका उद्देश्य बताया जाता है, इनके द्वारा कभी सम्भव नहीं। यज्ञादि आडम्बर हैं, इनसे स्वर्ग आदि की प्राप्ति असंभव है। यास्क के समय में यह विचारधारा इतनी व्यापक हो चुकी थी कि स्वयं यास्क हो इस विचारधारा के नेता कौत्स के मत का खण्डन करना पड़ा।

इस प्रकार समाज में जहाँ वेद तथा ब्राह्मण विरोधी विचारधारा व्यापक होती जा रही थी, वहाँ उसकी प्रतिक्रिया में पुनः ब्राह्मण धर्म का उत्थान हुआ। शास्त्रार्थ करके ब्राह्मण विद्वानों ने वेद-विरोधियों को परास्त किया और अपने ब्राह्मणवाद को पुनः प्रतिष्ठित किया। लोगों में यह आस्था दृढ की कि वेदों की सत्ता में अविश्वास नहीं किया जा सकता। वेद हैं, और वे निरर्थक नहीं, वे नित्य हैं, अनित्य नहीं, वे किसी पुरुष की रचना नहीं; वे अपौरुषेय है। इसलिये उनकी प्रामाणिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। इसी पृष्ठभूमि वे वेद प्रतिष्ठा के लिये मीमांसा दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ था। आज वेद के प्रमाण्य विचार को हम भले महत्व न दें, किन्तु यास्क, जैमिनि, शबर, कुमारिल आदि आचार्य जिस युग में हुये, उस युग में इसके ऊपर विचार करना अत्यावश्यक था। यदि वेद के प्रामाण्य को उन आचार्यों ने सिद्ध न किया होता, तो आज अनेक विद्याओं की तरह वेद भी लुप्त हो जाते।

अट्ठारवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय आचार्य एवं वेदों के भाष्यकार थोड़े बहुत अन्तर के साथ मीमांसकों के ही मत को स्वीकार करते रहे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से, जब पाश्चात्यों ने वेद का अध्ययन शुरू किया, वेद विषयक परम्परागत भारतीय मान्यताओं के प्रति अनेक सन्देह उत्पन्न होने लगे। सन् १८०५ में कोलब्रुक ने सर्वप्रथम यह मत व्यक्त किया कि वेद नाम से जो एक विशाल साहित्य उपलब्ध है, वह मानवकृत है, अपौरुषेय नहीं। कोलब्रुक के बाद मैक्समूलर, रॉथ आदि विद्वान वेद को पुरुषकृत मानकर ही उसके अध्ययन के प्रवृत्त हुये। वेदों के प्रतिपाद्य विषय, उनका रचना काल, उनकी भाषा तथा रचना शैली पर उन्होंने, जो मत व्यक्त किये, वे भारतीय मान्यताओं से बिलकुल भिन्न थे। एक तरफ भारतीय विद्वानों में से अधिकांश ने पाश्चात्यों की वेद विषयक मानयताओं का अनुसरण किया, वहाँ दूसरी तरफ स्वामी दयानन्द सरस्वती, पण्डित मधुसूदन ओझा, अरविन्द आदि कतिपय विद्वानों ने उसका विरोध किया और अनेक नई युक्तियां देकर परम्परागत प्राचीन मत को ही स्वीकार किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद को सम्पूर्ण सत्य विद्याओं एवं धर्म का आधार, अतएव नित्य एवं अपौरुषेय, माना। मीमांसकों की तरह किसी भी प्रकार के इतिहास की सत्ता वेद में उन्होंने स्वीकार नहीं की। सभी देवताओं को परमात्मा वाचक या प्रतिपाद्य विषय वाचक माना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक तरफ जहाँ मीमांसक आदि वेद को अपौरुषेय तथा नित्य एवं प्रमाण मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वान् उसे अपौरुषेय तथा अन्य रचनाओं की तरह वैदिक ऋषियों द्वारा प्रणीत मानते हैं। पण्डित मधुसूदन ओझा ने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का अध्ययन एवं मनन कर यह निष्कर्ष निकाला कि वेद के विषय में यह जो अतिवाद दिखाई पड़ता है, वह वेद विषयक भ्रान्त धारणा का ही परिणाम है। उन्होंने अनुभव किया कि वेद की कोई वैज्ञानिक व्याख्या ही भ्रान्त धारणाओं का निराकरण कर सकती हैं। किन्तु वेद की वैज्ञानिक व्याख्या तब तक नहीं की जा सकती, जब तक व्यक्ति वैदिक विज्ञान से परिचित न हो, उस विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली को न जानता हो, तथा उन वैदिक ऋषियों की विषय- प्रतिपादन की शैली को न जानता हो। इसी तथ्य को सम्मुख रखकर पं. मधुसूदन ओझा ने अपनी वेद विषयक रचनाएं की। यद्यपि उन्होंने वेदों का कोई क्रमबद्ध भाष्य नहीं लिखा, किन्तु ऐसे ग्रन्थों को प्रणयन किया, जो वैदिक विज्ञान की परिभाषाओं की सम्यक् जानकारी देते हैं और उनके रहस्य का उद्घाटन करते हैं। इस प्रकार पं. मधुसूदन ओझा की वेद विषयक रचनाओं को वेद व्याख्या या वेद भाष्य कहने की अपेक्षा वेद व्याख्या शास्त्र कहना अधिक समीचीन है। इन्होंने परिभाषाओं तथा वेद तत्व विवेचन के प्रकाश में उनकी वेदविषयक धारणा को समझा जा सकता है।

पं. मधुसूदन ओझा ने देव, लोक, भूत और वेद इन चारों को ईश्वर का धर्म माना है और इनका विस्तृत विवेचन "ब्रह्मचुतुष्पदी" नामक अपनी रचना में किया है। वेद का स्वरूप क्या है इस विषय में उनका मत पूर्ववर्ती आचार्यो से जहाँ कुछ अंश में समानता रखता है, वहाँ अपनी विलक्षणता भी रखता है। उनकी दृष्टि में ब्रह्म, विद्या और वेद ये तीनों समानार्थ शब्द है। परस्पर अर्थों में मौलिक भेद होते हुये भी व्यवहार में एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग देखा जाता है। वे मानते हैं कि पदार्थों में नियत कार्य कारण भाव (गुण-धर्म) का प्रत्यक्ष ज्ञान "ब्रह्म है, जिन गुण धर्मो का प्रत्यक्ष हो चुका है, उस ज्ञान के संस्कार से होने वाला आगे का ज्ञान "विद्या" है तथा शब्द द्वारा होने वाला ज्ञान "वेद" है[२]। इस प्रकार सृष्टि के हर तत्व का जो नियत कारण कार्य भाव है, अर्थात् किससे कौन उत्पन्न हुआ, किसमें किस प्रकार के गुण धर्म है इत्यादि सब बातों का ज्ञान विद्या है, वहीं ब्रह्म है, वहीं वेद है। जो नियत है, सत्य है, वास्तविक, है वही विद्या है, ब्रह्म है तथा वेद है। तीनों का मुख्यार्थ यथार्थ ज्ञान ही है, किन्तु ज्ञान कराने के साधन भिन्न-भिन्न होने से इनमें अवान्तर भेद माना जाता है, इसी प्रकार वेद और मन्त्र इन दो शब्दों में मौलिक भेद होते हुए भी इनकी दृष्टि में आचार्या ने दोनों को समान अर्थ में प्रयोग किया है[३]। पं. मधुसूदन जी यह मानते हैं कि शब्द द्वारा जाने गये देवता विज्ञान का नाम वेद है और देवता विज्ञान को बताने वाले शब्दों का नाम मन्त्र है। मन्त्र के समान अर्थ वाला "ब्रह्म" शब्द भी है जो उभयार्थ है। वे मानते हैं कि -

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द ब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इस मंत्र में शब्द ब्रह्म मंत्र है और उस शब्द ब्रह्म द्वारा जानने योग्य वस्तु विज्ञान रूप पर- ब्रह्म है[४]। शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद में निष्णात व्यक्ति ही विज्ञान रूप परम ब्रह्म को जान सकता है।

भारतीय वेद व्याख्या पद्वति में ऋषिं तत्व के ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। ऋषि तत्व को जाने बिना जो वेद का व्याख्यान करता है वह दोष का भागी बनता है। वेद में "ऋषि" शब्द बहुशः प्रयुक्त हुआ है और उसकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या की जाती है। ऋषि शब्द मन्त्र द्रष्टा या मन्त्र प्रणेता के अर्थ में विशेष रूप से व्यवहृत माना जाता है। यदि वेद अपौरुषेय हैं, तो ऋषि मन्त्र-प्रणेता कैसे? और यदि वेद ऋषि प्रणीत हैं तो अपौरुषेय कैसे? यह समस्या वेदाध्ययन के क्षेत्र में प्रबल रूप से सामने आती है। पं. मधुसूदन ओझा ने इस समस्या को समझा है और इसका तथ्यपूर्ण और स्वीकार्य समाधान भी प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में "ऋषि" शब्द वैदिक साहित्य के चार अर्थों में प्रयुक्त

हुआ है (१) असद् रूप (२) रोचना रूप (३) द्रष्टा रूप (४) वक्ता रूप[५]। पं. मधुसूदन जी की यह धारणा है कि, "ऋषि" शब्द का "असद्" रूप अर्थ "प्राण" को अभिव्यक्त करता है। उनके मत में वैदिक विज्ञान प्राणमूलक है। प्राण ही वैदिक विज्ञान का आधार है। इसी प्राण के "ऋषि", पितृ, देव आदि भेद हैं। संसार में प्राण वाले पदार्थ ही सत् कहलाते हैं। चूँकि प्राण में अतिरिक्त प्राण नहीं रहता, इस कारण वह "सत्" नहीं कहा जा सकता। सन् न होने से वह "असत्" है प्राण "असत्" है। और वही ऋषि है[६]। इस व्याख्या का आधार शतपथ ब्राह्मण है जहाँ यह कहा गया है कि –

असद् वा इदमग्र आसीत् तदाहु: किं तदसदासीदिति।

ऋषयो वाव तेअग्रे सदासीत्।

तदाहु: किं ते ऋषय, प्राणा वा ऋषय:।

ये यत्पुराअस्मात्सर्वस्मदिदमिच्छन्त: श्रमेण तपसारिषस्तस्मादृषय:।

ऋग्वेद में भी "ऋषि शब्द प्राण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसके लिये "साकंजानां" सप्तथमाहुरेकजं यमा ऋषयो देवजा इति" इस मत्र का प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। प्राणमूलक वैदिक विज्ञान में देवता भी प्राण है और ऋषि भी प्राण है। किन्तु दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। भिन्न भिन्न जाति के प्राणों का समुदाय "देव" है और एकजातीय प्राण समुदाय ऋषि है।[७]

इस प्रकार पं. मधुसूदन जी के मत में प्राण ही देवता है और प्राण ही ऋषि है। किन्तु देव ऋषि नहीं, ऋषि देव नहीं।[८]

ऋषि शब्द का दूसरा "रोचना रूप" अर्थ आकाशमण्डल में चमकने वाले ऋक्ष नक्षत्र, तारा आदि से प्रसिद्ध प्रकाशमान तत्वों का अभिव्यक्त करता है।[९] इस अर्थ का भी आधार शतपथ ब्राह्मण है जहां स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि "सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते ...... अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति पुर एता: (श ब्रा. २.१.१.४)।

पं. मधुसूदन जी ने सामवेद के जज्ञान: सप्तमातृभिर्मेधामाशासत: श्रिये। अयं ध्रुवो रयीणम् (पूर्वा. १०२) मन्त्र में आये "सप्तमातृभि:" का अर्थ "सप्तमातृका" माना है, जो विष्णुपद सप्त मातृका ही है और "ऋक्ष" नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं के लिये "सप्तर्षि" शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार "य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर्होता न्यसीदत् पिता न:" (ऋ. वे. १०.८१.१) मन्त्र में प्रयुक्त "ऋषि" शब्द ध्रुवतारा का वाचक है। "ते आयजन्त द्रविणं समस्ता ऋषय: पूर्वे जरितारो न. भूना" (ऋ वे. १०.८२.४)। इस मन्त्र में प्रयुक्त "ऋषय: शब्द तारा अर्थ का वाचक है। इस प्रकार पं. मधुसूदन जी के मत

में वेद में ऋषि शब्द ध्रुवतारा, तत्समीपस्थ सप्तर्षि मण्डल तथा अन्य तारा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

पं. मधुसूदन जी ने इस सन्दर्भ में एक यह भी संभावना व्यक्त की है कि प्राण रूप ऋषि और तारा रूप ऋषि सर्वथा भिन्न नहीं है । वास्तव में प्राण तत्व ही वेद, पितर तथा ऋषि है । सूर्य की किरणों में रहने वाले सम्पूर्ण प्राण "देव", चन्द्रमा की किरणों में रहने वाले सम्पूर्ण प्राण "पितर" तथा ऋक्ष रूप चमकते नक्षत्रों में रहने वाले प्राण "ऋषि कहलाते हैं । जिस् जिस नक्षत्र में जिस जिस ऋषि प्राण की प्रधानता है, उस नक्षत्र का उस ऋषि के नाम से व्यवहार किया गया है ।[१०]

पं. मधुसूदन ओझा ने ऋषि शब्द का तीसरा अर्थ "द्रष्टा" किया है । उनके मत में सृष्टि की आरम्भावस्था में तपस्या द्वारा ईश्वरानुग्रह प्राप्त कर सूक्ष्म, व्यहित, विप्रकृष्ट प्रत्येक पदार्थ के गुणधर्मों को प्रत्यक्ष देखकर जिन्होंने वेद विज्ञान का अन्य सबको उपदेश किया, वे ही वेद के आचार्य "ऋषि" कह जाते हैं । इन महर्षियों ने ही वेद मन्त्रों की शब्द रचना की हे । इसलिये ये मन्त्रों के कर्ता या प्रणेता तथा इनमें निहित मूलभूत विज्ञान का ईश्वरानुग्रह से दर्शन करने के कारण "द्रष्टा" माने जाते हैं ।[११] इस प्रकार पं. मधुसूदन जी के मत में वेद के आचार्य ऋषिगण मन्त्रकर्ता भी है और मन्त्रद्रष्टा भी । ऋषियों के मन्त्र कर्तृत्व में श्रुति भी प्रमाण है, इसको पुष्ट करने के लिये उन्होंने निम्न लिखित दो मन्त्र उद्धृत किये हैं –

यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण ।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके ॥
(तै. ब्रा. २.७.७)

नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो
मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादु-
र्माहमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परा दाम् ॥
(तै.आ.४.१.१)

तैतिरीय ब्राह्मण के मन्त्रगत "देवा" पद का भाव स्पष्ट करते हुये उन्होंने लिखा है - "देवा इह पारोवर्यविदः शुश्रुवांसोऽनूचाना तदीया हीयं वाक् (महर्षिकुलवैभवम् पृ. ३५) । अर्थात् पारोवर्यवित् ऋषिरूप देवों की वाणी होने के कारण वाक् को यहाँ "दैवी वाक्" कहा गया है । इस प्रकार पं. ओझा जी के मत में ऋषिकृत वेद अपौरुषेय नहीं । वेद पुरुष व्यापार के बिना ही बन गये, ऐसा कहने वाले अपौरुषेय वादियों के मत को वे युक्तियुक्त नहीं मानते, क्योंकि वाक्य रचना शरीर, बुद्धि और इन्द्रिय के व्यापार से ही सम्भव है, वह

बिना पुरुष व्यापार के स्वतः नहीं होती।[१२] किन्तु यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि पं. मधुसूदन ओझा ने वेदों का ऋषिकृतित्व अतएव पौरुषेयत्व कथन किया है। वह वैखरी वाक् को लक्ष्य करती है। परा, पश्यन्ती में स्थित् वाक् पुरुष प्रयत्न साध्य नहीं, अतएव वह अपौरुषेय है। यह बात पं. मधुसूदन ओझा ने अपने जगद्गुरु वैभवम् नामक ग्रन्थ में वेदसृष्टिप्रकरण में स्पष्ट की है।[१३]

वेदों के ऋषिप्रणीतत्व विचार के प्रसंग में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऋषियों की बुद्धि में "देवता विज्ञान" के प्रादुर्भाव के साथ ही उस विज्ञान की वाचक शब्दावली भी ईश्वरकृपा से प्राप्त हुई, अथवा ऋषियों ने उसे अपने प्रयत्न से उत्पन्न किया इस विषय में पं. मधुसूदनजी का मत है कि परावाक् केवल ज्योति रुप है। पश्यन्ती वाक् शब्द और अर्थ की अविभक्त अवस्था है, इसलिये पश्यन्ती के बिना शब्द में अर्थ नहीं होता। किन्तु मध्यमा वाक् में, जहाँ शब्द और अर्थ का विभाग हो जाता है, वहाँ पहले अर्थ का ज्ञान होता है, उसके अनन्तर शब्द का स्मरण होता है। वस्तुतः, ऋषियों ने ईश्वर प्रदत्त शब्द अर्थ का ज्ञान समाधि अवस्था में प्राप्त कर उस को अति स्पष्ट एवं सर्वोपयोगी बनाने के लिये अपने शब्दों मे प्रकट किया। इसलिये वेदों में अभालाषा, याचना, विलाप, प्रशंसा, निन्दा, शाप आदि विषय भी मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि ईश्वरीय अनुग्रह के रूप में दिव्य ज्योतिर्मय वेद का ज्ञान ऋषियों को अवश्य ईश्वर द्वारा ही प्राप्त होता है, किन्तु वही पुनः ऋषियों के शब्दों में प्रकाशित होकर सबको प्राप्त होता है।

पं. मधुसूदन ओझा जी ने अपने इस मत को पुष्टि में महर्षि कणाद के दो सूत्रों बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे : ब्राह्मणे सिद्धिलिङ्गम्" को उद्धःत किया है। यद्यपि व्याख्याकार तथा आधुनिक नैयायिक इन दोनों सूत्रों को वेदों की ईश्वरकर्तृ की सिद्धि में प्रयुक्त मानते हैं और ऐसा अर्थ करते हैं कि ऐसो अपूर्व रचना लौकिक बुद्धि साध्य नहीं, तथा ब्राह्मणों में देवता आदि की जो संज्ञाएं मिलती हैं, वे किसी मनुष्य का काम नहीं, अतः परम बुद्धिनिधान सर्वज्ञ ईश्वर ही वेद का प्रणेता है। किन्तु पं. मधुसूदन जी इस अर्थ को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि उक्त सूत्रों के प्रसंग में ईश्वर सम्बन्धी कोई विचार वांछित नहीं। चूँकि इस प्रकरण में ईश्वर सिद्धि अभिप्रेत नहीं, इसलिये यही मानना उचित है कि यहाँ कणाद की प्रवृत्ति वेदों के अपौरुषेयत्व खण्डन में ही है। वेद की रचना बुद्धिपूर्वक की गई है। यही मानना कणाद को अभीष्ट था ऐसा मानकर पं. ओझा जी ने वेद के ऋषिप्रणीत होने का समर्थन किया। महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने पं. मधुसूदन जी के इस मत को यास्क, पाणिनि, पतंजलि, कैयट, नागेश आदि के मत के अनुकूल होने का समर्थन किया है।[१४] इस प्रकार यह बात सिद्ध है कि वैखरी वाक् रूप वेद ऋषि प्रणीत है। किन्तु साथ ही पं. मधुसूदन जी का यह अभिमत भी स्पष्ट है कि जो दिव्य ज्ञान रूप वेद है

वह अतीन्द्रिय, अनादि और अपौरुषेय होने के कारण ईश्वर भिन्न किसी मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं।

पं. मधुसूदन जी ने ऋषि शब्द का चौथा अर्थ "वक्तृत्व" किया है। सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि ग्रन्थों में एक परिभाषा दी गई है — "यस्य वाक्यं स ऋषि: ।, अर्थात् जिस वाक्य का जो वक्ता होता है, वह उस वाक्य का ऋषि है। मन्त्र पूर्णवाक्य रूप होते हैं, कहीं एक महावाक्य के अवयव होते हैं और कहीं वाक्यों के समुदाय रूप भी होते हैं। मन्त्र में अर्थ जो मन्त्र का उपदेश करता है वही उस मन्त्र का ऋषि होता है। पूर्व समय में ऋषियों ने इन मन्त्रों का उपदेश किया था, इसलिये वह उन्हीं का वाक्य माना जाता है। इस प्रकार पारोवर्यवित् मन्त्रद्रष्टा ऋषि ही प्राय: मन्त्रों के वक्ता है।[१५] किन्तु मंत्रों में कहीं अनृषि भी वक्तृत्व विवक्षा से ऋषि के रूप में निर्दिष्ट किये जाते हैं। यहाँ इनका ऋषित्व गौण रूप से ही समझना चाहिये, क्योंकि वे काल्पनिक है।[१६]

वक्तृत्व अर्थ में प्रयुक्त ऋषि शब्द के सन्दर्भ में पं. मधुसूदन जी ने मन्त्रों के पाँच वर्ग माने हैं- भाव वृत, देवस्तव, वक्त्रात्मस्तव, देवात्मस्तव तथा संवादात्मक।[१७] सृष्टिक्रम का निरुपण करने वाले मन्त्र "भाववृत" कहलाते हैं। प्राण देवों के स्वरूप व धर्म का निरूपण करने वाले मंत्र देवस्तव कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के मन्त्रों के ऋषि वे ही हैं, जिन्होंने ईश्वर से ज्ञान प्राप्त कर इन मन्त्रों का प्रणयन किया है। अतएव इन मन्त्रों का द्रष्टृत्व और वक्तृत्व उस ऋषि का ही है, इनमें द्रष्टृत्व और वक्तृत्व दोनों में भेद नहीं। जिन मन्त्रों में वक्ता अपनी ही प्रशंसा करता है उन मन्त्रों को "वक्त्रात्मस्तव" कहा जाता है। इनमें ऋषि और देवता दोनों एक ही होते है। जिन मंत्रों में मंत्रद्रष्टा ऋषि अपने इष्टदेवता की स्तुति इष्टदेवता के मुख से ही कराता है। वे मन्त्र देवतात्मस्तव कहलाते हैं। इन देवतात्मस्तव मन्त्रों में मन्त्र प्रणेता चूँकि देवताओं के मुख से वाक्य कहलाते हैं। इसलिये इन मन्त्रों के ऋषि और देवता वे ही होते हैं जो द्रष्टा ऋषि द्वारा वक्ता मान लिये गये हैं। इन मन्त्रों में प्राणरूप देव ही ऋषि कहा जाता है और वहीं देवता। यहाँ भी देवता का ऋषित्व काल्पनिक है। मुख्य मन्त्रद्रष्टा यहाँ अपना ऋषित्व प्रच्छन्न रखता है। जिन मन्त्रों में किन्हीं दो का संवाद हो वे मन्त्र "संवादात्मक" कहलाते हैं। इनमें भी मन्त्रदृष्टा का मूल ऋषित्व प्रच्छन्न रहता है। इन मन्त्रों में वक्ता ऋषि तथा संबोध्य देवता मान लिया जाता है। इस प्रकार दोनों ही क्रम से ऋषि तथा देवता होते हैं।[१८] अपने इस मत के समर्थन में प्रमाण रुप में पं. मधुसूदन जी ने बृहद्देवता को उद्धृत किया है।

वैदिक व्याख्या के संदर्भ में एक समस्या जो मुख्य रूप से सामने आती है वह इतिहास सम्बन्धी है। वैदिक साहित्य में देवताओं, ऋषियों तथा मनुष्यों से सम्बन्धित

अनेक कथाएं मिलती हैं । मीमांसक आदि जो वेद को अपौरुषेय मानते हैं इन कथाओं को यथार्थ न मानकर शब्दसामान्य का वाचक मानते हैं । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो किसी प्रकार के इतिहास को वेद में मान्यता प्रदान नहीं की । वैदिक आख्यानों का विवेचन करने वाले पुराणों को तो अउन्होंने अप्रामाणिक ही घोषित कर दिया । पाश्चात्य विद्वानों ने ऋषियों और मनुष्यों से सम्बन्धित कुछ आख्यानों की ऐतिहासिकता स्वीकार की, किन्तु अधिकांश को पुराकथा ही माना । पं. मधुसूदनजी का इस विषय में अपना एक विशिष्ट मत है । वे वैदिक आख्यानों की ऐतिहासिकता में पूर्ण विश्वास करते हैं । उनकी स्पष्ट धारणा है कि पुराणों में जो वेद विषयक आख्यान मिलते हैं, वे वैदिक परम्परा का ही उपबृंहण करते हैं । पं. मधुसूदन जी यह मानते हैं कि वेदों में त्रिलोक का विभाग कई प्रकार से बताया गया है ।[१९] एक विभाग भौम त्रिलोकी है जिसके अनुसार इसी पृथिवीमण्डल पर स्वर्ग, अन्तरिक्ष और भूमि तीनों लोकों की कल्पना है । हिमालय से उत्तर का प्रदेश स्वर्ग, हिमालय के दर्रे अन्तरिक्ष तथा हिमालय से दक्षिण का भाग भूलोक है । इन तीनों लोकों के रहने वालों को क्रमशः तीन भागों में बांटा गया है । स्वर्ग लोक के रहने वाले देव, अन्तरिक्ष के गन्धर्व आदि तथा भूमि के निवासी मनुष्य कहलाते हैं । सुदूर पश्चिम में असुर लोक की कल्पना थी । देवासुर संग्राम इन्हीं असुरों तथा देवों के बीच हुआ था । भारत के निवासी आर्यों का मनुष्य होते हुए भी देवताओं के साथ बहुत सम्पर्क था । उनका आना जाना विवाहादि सम्बन्ध सब होता था । इन्द्रविजय नामक अपना रचना में मधुसूदनजी ने इसका पूर्णरूप से विवेचन किया है ।उपाख्यान के नाम से इनकी पांच रचनायें हैं— १. जगद्गुरु ब्रह्मोपाख्यान २. स्वर्ग देवतोपाख्यान, ३. भारतवर्षीयार्योपाख्यान, ४. पारिषद ब्रह्मोपाख्यान तथा ५. द्वादश विज्ञानोपाख्यान ।

इस प्रकार पं. मधुसूदन जी के वेद विषयक ग्रन्थों के परिशीलन से यह बात ज्ञात होती है कि उनकी दृष्टि से वेद सर्व विज्ञानमय है । वेद ब्रह्म विज्ञान है, यज्ञ विज्ञान है, धर्म विज्ञान है, प्रजापति विज्ञान है, सूर्य विज्ञान है, इसलिये वेद का ब्रह्मवेद, यज्ञवेद, धर्मवेद, प्रजापतिवेद, दैवतवेद, सूर्यवेद आदि अनेक नामों से व्यवहार किया जा सकता है । उनका अपना मत है कि वेद में आध्यात्मिक अधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों विषयों का प्रतिपादन हुआ है । तीनों विषयों के प्रतिपादन में समान शब्दावलि का भी प्रयोग ऋषियों ने किया है । इन्द्र, अग्नि, ब्रह्मा, वृहस्पति, वासिष्ठ आदि शब्द भिन्न भिन्न अर्थों के वाचक हैं । जगत् के मूल तत्व देव प्राण भी इन शब्दों से कहे जाते है, द्यु मण्डल के प्राणी भी इन नामों से व्यवहृत है, तारामण्डल में भी इन नामों के तारे है तथा शरीर के इन्द्रिय आदि प्राण भी इन शब्दों से जाने जाते हैं । इसी प्रकार भूमि पर रहने वाले मनुष्य भी इन नामों से व्यवहृत हुये हैं । इसलिये वेद का व्याख्यान करते समय तीनों दृष्टियों को सम्मुख रखना चाहिये ।

तीनों दृष्टियों से वेद व्याख्या का आधार ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थ है। इनमें वेद व्याख्या की तीनों दृष्टिया संकेतित हुई हैं।

जैसा कि पहले हमने कहा है कि पं. मधुसूदन जी ने वेदों का कोई क्रमबद्ध भाष्य नहीं लिखा, केवल वैज्ञानिक व्याख्या के उपयोगी सिद्धान्तों का विवेचन किया है और उसकी एक नवीन शैली दी है। इसलिये पं. मधुसूदन ओझा के प्रशंसक हम वेद अध्येताओं का सर्वप्रथम यह प्रयास होना चाहिये कि उनकी वेद विज्ञान सम्बन्धी परिभाषाओं को सुव्यवस्थित रूप से संकलित करें और वेद विज्ञान कोष का निर्माण करे जिसके आधार पर उनके मतानुसार संपूर्ण वेद मन्त्रों का व्याख्यान किया जा सके। यद्यपि महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी पं. मोतीलाल शास्त्री, डां. वासुदेव शरण अग्रवाल आदि कतिपय विद्वानों ने पं. मधुसूदनजी के दिखाये मार्ग का अनुसरण करते हुये इय दिशा में सराहनीय कार्य किया है, किन्तु अभी वह पूर्ण नहीं मेरी दृष्टि में वेदों का समग्र रूप में अध्ययन किये बिना कुछ अंशों को लेकर उसके आधार पर कोई सिद्धान्त स्थापित करना उचित नहीं होगा। पाश्चात्यों ने भी वेद विषयक जो विभिन्न मत स्थापित किये और जो आज सर्वमान्य समझे जाते है, वे भी एकांगी ही हैं। पं. मधुसूदनजी ने वेद विज्ञान भाष्य के लिये जो परिभाषाएं दीं और सिद्धान्त स्थापित किये वे निश्चित ही महत्वपूर्ण हैं। वैदिक और पौराणिक मान्यताओं में बहुत बड़ा सामंजस्य स्थापित करते हैं। भारतीय भाष्यकारों की परम्परा भी ऐसा ही मानती रही है। वेद ब्रह्मविज्ञान है इसलिये इसमें किसी इतिहास की सत्ता नहीं अथवा वेद इतिहास है इसलिये ब्रह्म विज्ञान की सत्ता उसमें मानी ही नहीं जा सकती, इस धारणा का पं. मधुसूदन ओझा ने खण्डन किया और यह मान्यता स्थापित की कि वेद में ब्रह्मविज्ञान भी है और मानवसृष्टि का इतिहास भी है।

सन्दर्भ

१. ईश्वरो हिरणगर्भः। तत्र चत्वारो धर्माः देवाः, लोकाः, भूतानि, वेदाश्च।

ब्रह्मचतुष्पदी, पृ.२

२. अत प्राणानां देवानां भूतानां भौतिकानां चार्थानां नियतः कार्यकारणभावो विद्या। नियतं सत्यं याथातथ्यम्, सा विद्या, तद् ब्रह्म, स वेदः।
यद्यपि गृह्यमाणधर्मेणा भिनीयमाना नियतिर्ब्रह्म,
गृहीतपूर्वाहितसंस्कारेणाभिनीय- माना नियतिर्विद्या, वाचाभिनीयमाना
नियतिर्वेदः, इत्येवमेषां
व्यवस्थितविषयत्वीमिष्टम्, तथाप्येषु व्यवहारसाङ्कर्येण प्रर्वतन्ते प्रांचः।

अनपेक्ष्यैव तु धर्मसंस्कारवाग्विषयत्वमुपचरन्ति स्म पूर्वे - ऋषयो वेदाः, त्रयी विद्या, त्रयं ब्रह्मेति ।

महर्षिकुलवैभवम् पृ. २६-२७

३. अपि च शब्दोपपादितं देवताविज्ञानं वेदः, देवताविज्ञनोपपादकशब्दो मन्त्रः, इत्येवं वेदमन्त्रशब्दो-योर्व्यवस्थितविषयत्वेऽपि संज्ञा-संज्ञिनोस्तादात्म्योपचारात् तयोः संकीर्णो व्यवहारः ।

वही पृ. २७

४. शब्दात्मकब्रह्मवेद्यमेवैतद् विज्ञानात्मकं परं ब्रह्म । तदेवं वाक्यविद्यैर्तदुभर्मव्यूहे निरूढो यं ब्रह्मशब्दश्च मन्त्रशब्दश्चेति सिद्धम् ।

वही

५. ऋषिशब्दस्य चतुष्टयी प्रवृति -

६. प्राणा संयुक्तानां हि लोके सत्ता दृश्यते । प्राणस्त्वयमप्राणाः, तस्मादसच्छब्दः ।

वही पृ. ७-८

७. नानाजातियाश्चैते प्राणाः । तेषां घने पुरुषशब्दो रूढः । से द्विविधः नानाजातिय प्राणनिका - यात्मा च विजातीयास्पृष्टैकजातीय घनश्चेति । तत्राद्ये देवशब्दो द्वितीये त्वेष द्वषिशब्दो रूढः ।

वही पृ. ८

८. प्राणा एव देवाः प्राणा एव ऋषयः । किन्तु न देवा ऋषयः, न ऋषयो देवा ।

वही, पृ.१६

९. अथ या एताः "रोचन्ते रोचना दिवि" यासु नक्षत्रातारकादयः शब्दाः प्रसिद्ध्यन्ति तास्वेतमृषिशब्दमुपचरन्ति स्म पूर्वे महर्षयः ।

वही, पृ. १८

१०. अत्र मतम् सूर्यरश्मि प्रतिष्ठा सर्वे प्राणा देवाः । चन्द्राशुप्रतिष्ठा सर्वे प्राणाः पितरः । ऋषरोचनाप्रतिष्ठाः सर्वे प्राणा ऋषयः इति

वही, पृ. २५

११. ततश्च पुरात्वे तं तमर्थं दृष्ट्वा दृष्ट्वा यैरिदं विज्ञानमुपदिष्टम् त एते वेदाचार्य ऋषय आख्यायन्ते । तथा चैषा ऋषीणां शब्दरचनाकर्तृत्वाभिप्रायेण

मल्लकर्तृत्वम्, देवतादिविज्ञानसाक्षात्कर्तृत्वाभिप्रायेण तु मन्त्रद्रष्टृत्व मित्युभयं समञ्जसं भवति ।

वही पृ. ३१-३२

१२. युक्तं चैतत् न ह्येषा वाक्यरचना स्वतः संभवति, शरीबुद्धीन्द्रियोपाद्ययस्वात् ।

वही पृ. ३५

१३. एकोऽस्त्यनन्तो यदि वा चतुर्था ब्रह्मखिलो वेदचितः स भातिः
तेष्वेषु वेदाः स्युरपौरुषेया निःश्वासरूपाः परमेश्वरस्य ॥

जगद्गुरु वैभवम्, पृ. ८

यो पौरुषेयांश्चतुरोऽपि वेदान् ब्रह्मा त्रिलोकातिगतो विभर्ति ।
स ह्यण्डपिण्डेषु निधाय वेदं व्यधाच्चतुर्धा तमृधादिभेदैः ॥

वही पृ. १०,

वेदा मनः प्राणभृता भृता वाक् तद् व्योम तत्रैव समस्तमस्ति ।
न शून्यमाकाशमणि त्वशेष व्योमाश्रितं लोक्यत एष लोकः ॥

वही पृ. १०

वेदश्च विद्या इह नित्यसिद्धा दृश्यन्त एता न च ताः क्रियन्ते ।
शास्त्रं हिततन्नियमपौरुषेयं ग्रन्थास्तु शास्त्रार्थ विचार वाचः ॥

वही पृ. ३८

द्रष्टव्य - ये त्वतीन्द्रियार्था विज्ञानात्मका, वेदाः, न चैते शक्यमुत्पादयितुमनीश्वरेः, अतीन्द्रियत्वादनादित्वादपौरुषेयत्वाच्च ।

महर्षिकुल वैभवम् पृ. ४१-४३

१४. द्रष्टव्या, महर्षिकुलवैभवम् पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीकृत संस्कृत

व्याख्या, पृ. ४०-४२

१५. अर्थान्यन्मात्रावार्णिकमृषित्वं वाक्यासापेक्षम् । "यस्य वाक्यं स ऋषिःया वाक्येनोच्यते सा देवता इति परिभाषितत्वात् । मन्त्रो हि वाक्यं वा वाक्यावयवो वा वाक्यसमुदायो वा । सर्वथाऽपि येनायं मन्त्रोऽर्थ दृष्ट्वोपदिष्टः सोऽस्य मन्त्रस्य ऋषिरुच्यते । ऋषिभिदेवता मन्त्राः पुरोपदिष्टाः तस्मात् पारोवर्यविदोऽमी

द्रष्टार

एव तेषाँ मन्त्राणां प्रवक्तार ऋषय: प्रायेण दृश्यन्ते ।

वही, पृ. ७०-७५

१६. क्वचित्पुनरतृषयो घेषामृषयो निर्दिश्यन्ते, वक्तृत्वेन विवक्षणात् ।

तेषु चेदऋषित्वं गौणं द्रष्टव्यं काल्पनिकत्वात् ।

वही पृ. ७५

१७. पंचविद्यो वर्गो भवति - भाववृत्तम्, देवस्तव:, वक्त्रात्मस्तव:,

देवात्मस्तव:, कयोश्चित् संवादो वा ।

वही

१८. सृष्टिक्रमनिरुपणं भाववृतम् । प्राणदेवानां स्वरूपधर्मप्रदर्शनदेवस्तव: ।

तयोरयं मन्त्रप्रणोतैव ऋषि: । द्रष्टृत्वाच्च वक्तृत्वाच्चि ।

देवता तु तत्र सृष्टिविषयो वा, प्राणदेवा वा ।

वक्त्रात्मस्तवे पि अयं मन्त्रप्रणेता आत्मानं स्तौतीति स एव स्याद् ऋषिश्च देवता च ।

अथ चतुर्थे देवात्मस्तवे तु मन्त्रप्रणेता प्रतिपाद्यं देवं तद्देवमुखेनैव स्तावयति ।

तत्र तस्य प्राण देवस्यैव वक्तृत्वेन विवक्षणात् स एव ऋषि: स्याद्देवता च ।

मन्त्रप्रणेतुस्तु वक्तृत्वेऽपि तत्र ऋषित्वं प्रहयूते । एवं पंचमे संवादेऽपि

मन्त्रप्रणेतुऋषित्वमपह्नुयते, ययोस्तु संवादो वर्ण्यते तयोर्मध्ये वक्तुऋषित्यम्स्यं

संबोध्यस्य च देवतात्वमिति पर्यायेणोभयोर्त्रऋषित्वं देवतात्वै च विवक्ष्ययते ति ।

वही ७५-७६

१९. द्रष्टव्य, जगद्गुरु वैभवम्, के अन्तर्गत ऐतिहासिक सृष्टि विभाग:,

पृ. २७-७४

वेद और विज्ञान

प्रो. ए.डी. बोहरा
जोधपुर

जिन्हें वेदों का अध्ययन एवं उनमें निहित ज्ञान का परिचय देववाणी संस्कृत के माध्यम से प्राप्त होता है, वे धन्य हैं। संस्कृत भाषा से सर्वथा अपरिचित होने से मुझे वह आनन्द तो क्या उल्टे वेदों को स्वयं पढ़कर समझना कठिन हो रहा है। साहित्यकारों एवं आलोचकों ने जो कुछ अन्य भाषाओं में लिख दिया है उसी को पढ़कर सन्तोष कर लेता हूँ। वेदों के मूल पाठ पर सीधा अधिकार न होने के कारण मैं अपने को एक बड़े अभाव की स्थिति में पाता हूँ।

भौतिक विज्ञान का विद्यार्थी में अवश्य हूँ किन्तु इस क्षेत्र में भी पूर्ण अधिकार हो, ऐसी कोई बात नहीं है। एतदर्थ वेद एवं विज्ञान पर लिखने की इस अनधिकार चेष्टा के लिए पाठको से क्षमायाचना करते हुए अपनी जिज्ञासा को व्यक्त करने की धृष्टता कर रहा हूँ। अस्तु।

ऋषि कणाद के वैशेषिक दर्शन में धार्मिक कार्यो को परिभाषित करते हुए कहा गया है–

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः"।

धर्म वही है जो इस लोक में उन्नति अथवा अभ्युदय एवं परलोक में मोक्ष सिद्धि (निःश्रेयस्) का हेतु बने। इस संदर्भ में प्रथम प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन से कार्य हैं और उन्हें किस प्रकार सम्पन्न कर इस लोक में उन्नति अथवा अभ्युदय की प्राप्ति संभव है। मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार निराकार की शक्ति का ज्ञान एवं उसमें दक्षता प्राप्त कर जीवन में उनका सफल क्रियान्वयन - दूसरे शब्दों में भौतिक विज्ञान अथवा आधुनिक युग के Science (विज्ञान शब्द से मेरा तात्पर्य भौतिक विज्ञान से है)। तत्पश्चात् ब्रह्मविद्या के ज्ञान से जीवन के प्राप्तव्य मोक्ष अथवा कैवल्य की प्राप्ति। जीवन के इन दोनों अभीष्टों को ही पं. मधुसूदनजी ओझा ने उपनिषत् कहा है – "नित्य सिद्ध विज्ञान सिद्धान्त"।

जिस मौलिक सिद्धान्त पर हमारा मन श्रद्धा सूत्र द्वारा प्राप्तव्य तत्व के समीप निश्चय रूप से ठहर जाता है, दूसरे शब्दों में जिस तत्व के परिज्ञान से हमारी आत्मा उस प्राप्तव्य की ओर झुक जाती है, वही उस कर्म का उपनिषत् हो जाता है ।

आलोच्य उपनिषत् का वर्गीकरण विज्ञान एवं ज्ञान के स्वरूप में किया जा सकता है । " विज्ञान - एक से अनेक की उत्पत्ति । इसकी जानकारी प्राप्त कर इसे जीवन में व्यावहारिक क्षेत्र में उतारना ही विज्ञान का विषय है । इससे प्राप्त होगा - अभ्युदय अर्थात् "प्राकृतिक विज्ञान का वाचक जिससे यह सृष्टि उत्पन्न होती है, जिस पर यह टिकी हुई है और जिससे अनुशासित होती हुई नष्ट होती है ।" इसी को ईश्वर का विभूतिवाद द्वैतवाद अथवा अविद्या कहा जाता है ।

ज्ञान -

अनेकत्व में अन्तर्निहित एकता की खोज एवं उसका दिग्दर्शन मोक्ष अथवा कैवल्य का कारण जिसका विषय ब्रह्म है" - इसी को कहेंगे विद्या, अद्वैतवाद अथवा योग ।

प्राप्तव्य स्थान : निःश्रेयस् सत्यम् -

पंडित ओझा जी ने उपर्युक्त उपनिषदों के दोनों पक्षों को अनेक विपरीतार्थ शंब्दों में दर्शाया है :

ज्ञान	विज्ञान
विद्या	अविद्या
प्रति संचर	संचर
सत्	असत्
अमृतम्	मृत्युः

अथवा

उपनिषत् की भाषा में -	विनाश	संभूति
यज्ञ भाषा में -	विसर्ग	आदान
व्यावहारिक भाषा में -	परित्याग	ग्रहण
सामान्य भाषा में -	गति	अगति

ऋषि भाषा में - भृगु अंगिरस

इन दो पक्षों को भली प्रकार आत्मसात् कर ही जीवन सफल होता है, जैसा कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है –

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत: ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त दोनो पक्षों गीता (७/२) से क्या विज्ञान का अर्थ भौतिक विज्ञान ही है अथवा ज्ञान एवं विज्ञान को ही ईशोपनिष्ज्ञद् में विद्या एवं अविद्या नाम से अभिहित किया गया है -

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतनुते"

ओझाजी के अनुसार इस उपनिषद् में प्रति संचर पक्ष को उपक्रम मानकर एकत्व भावापन्न ब्रह्म का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने विश्व संस्थाओं की ओर जाते हुए संचर पक्ष पर उपसंहार किया है । इससे यही संकेत मिलता है कि इस उपनिषद् का लक्ष्य विज्ञान की आवश्यकता पर ध्यान आकर्षित कर उस ज्ञान की ओर आग ले जाना है। ज्ञान विज्ञान इन दोनों को अनिवार्य माना गया है । इसमें से केवल किसी एक पक्ष का आश्रय लेकर चलने से हानि ही नहीं अनर्थ भी है । कहा भी गया है –

अंधतम: प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
तत: एव ते तको ये उ विद्यायां रता: ॥

निश्चित रूप से ओझाजी ने अविद्या का अर्थ ज्ञान जनित कर्म एवं विद्या को ब्रह्म ज्ञान कहा है । कर्म ही तो विज्ञान का हेतु है । विज्ञान के आविष्कार एवं उनसे सृष्टि के विज्ञाता की विभूतियों का ज्ञान कर्म से ही संभव है । वेद शास्त्रों के अध्ययन द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति तो क्या इस लोक में भी उन्नति असंभव है। केवल विज्ञान पर आधारित भोगविलास में जीवन बिताने से मनुष्य अंधकार को प्राप्त होगा । साथ ही यह भी कहा गया कि जो केवल विद्या के दायरे में ही जीवन व्यतीत करते हैं, वे घोर अंधकार को प्राप्त होंगे - न इस लोक में उन्नति और न ही परलोक में मोक्ष ।

आधुनिक युग में विज्ञान में रत पाश्चात्य देश वास्तव्य एवं कृत्रिम विद्या से रमे ज्ञान कहलाने वाले दोनों ही अपने धर्म कार्यो से कर्तव्यच्युत जीवन यापन में लिप्त होने से पतन को प्राप्त होंगे । जो केवल विज्ञान मात्र के अनुयायी हैं, उनका सांसारिक वैभव कुछ समय के लिये अवश्य बढ़ जाता है, परन्तु वासना के इस जाल में आत्मोन्नति नहीं होती

यथा -"अन्धतमः प्रविशन्ति ये विद्यानुपासते"। उसी प्रकार सर्व कार्य परित्याग ज्ञानी कहलाने वाले ज्ञान में प्रवृत्त होते हुए भी भावना से आत्मा को आवृत कर देते हैं। वे सांसारिक अभ्युदय के मूलभूति कार्य तो पहले ही छोड़ बैठते हैं। शुद्ध ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। कम से कम इस दशा में मुक्ति की कामना अवश्य रहती है। वे भुलावे व मिथ्याचार में रहते हैं। फलतः अविद्या की पुजारी जहाँ सांसारिक वैभव का भोक्ता बनता है वहां विद्यानुयायी इस वैभव से भी वंचित रह जाता है। "दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम।" न लौकिक सुख और न आत्मानन्द।

आवश्यकता है आधुनिक विज्ञान द्वारा अभ्युदय एवं आध्यात्मिक ब्रह्मज्ञान द्वारा निःश्रेयस् को प्राप्त करना। पंडित मधुसूदन ओझा जी ने बड़े सुंदर शब्दों में इसकी व्याख्या की है। लिखते हैं कि – "यतोःभ्युदयनिः श्रेयस सिद्धि स धर्मः" के अनुसार आवश्यकता है आज दोनों की, दोनों धर्मो को अपनाने की। विद्यानुरागी विद्वान् जन वैज्ञानिकों से अभ्युन्नति का साधन सीखें एवं अविद्या उपासक कर्मठ वैज्ञानिक इन विद्वानों से विद्या ग्रहण करें, तभी व्यष्टि एवं समष्टि का उत्थान संभव है। वास्तविकता तो यह है कि बिना विज्ञान की सहायता के शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान असंभव प्रतीत होता है। विज्ञान की उपलब्धियों के द्वारा वेद वाक्यों के गूढार्थ जानने के पश्चात् उसे स्वीकारने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। विज्ञान शास्त्र के अभाव में उन वाक्यों को बिना समझे ही उन्हें केवल मानना ही पड़ता है। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि हर एक वेद वाक्य को विज्ञान की कसौटी पर मापा जाय। केवल इतना ही निवेदन है कि वैज्ञानिक आज तक की उपलब्धियों के आधार पर शास्त्रोक्त मान्यताओं को सहज में ग्रहण कर सकते हैं। निम्न कुछ उदाहरणों द्वारा इसकी पुष्टि होती है –

पंडित मधुसूदन जी ने आत्म दर्शन के तीन विभाग बतलाये हैं –

अव्यय	पुरूष	वेदान्त
अक्षर	प्रकृति	सांख्य
क्षर	भौतिक	वैशेषिक
	प्रपंच	
	विकृति	

इस वर्गीकरण को विज्ञान के आधार पर सरलता से समझा जा सकता है। वैज्ञानिक शब्दों में सृष्टि का रचयिता एक Primordial Cause है जो अव्यय है उससे

उत्पन्न होती है – शक्ति (Energy) जो अदृश्य होने पर भी अपने प्रभाव का ज्ञान अनेक रूपों में कराती है । उसके रूप बदलते रहते हैं । यह सप्रमाण सिद्ध है कि उसका कभी क्षय नहीं होता है । वह अक्षर है । उदाहरणार्थ - जो शक्ति विद्युत् के रूप में प्रकट होती है यंत्रों द्वारा वह शक्ति उष्णता या गति का रूप धारण कर सकती है पर उसका विघटन नहीं होता वह अक्षय रहती है । इसी का नाम अक्षर, ब्रह्म या प्रकृति कहा जा सकता है । इसके नानारूप है, उसे अगर कपिल के सांख्यशास्त्र का पुरुष जो अनेक है, कहा जाना अनुचित होगा ? इसी नाना रूपात्मकता से Matter यानि पदार्थ बनता है, वही है भौतिक प्रपंच अथवा प्रकृति की विकृति । पदार्थ का विघटन उसे क्षर कहा जाता है । इस विश्लेषण के पश्चात् अनुमान अथवा अंधविश्वास की संभावना नहीं रहती है । यह वैज्ञानिक तथ्य है जिसे कोई भी व्यक्ति सत्यापित कर सकता है ।

विज्ञान के साधन हैं यंत्र, उन्हीं के सहारे तंत्र विद्या द्वारा अनुसंधान कर किसी निर्णय अथवा निश्चय पर पहुंच जाता है । उस प्राप्त विद्या का निष्कर्ष एक मंत्र के रूप में हमारे सामने अनुसंधान करने वाले ऋषि प्रकट करते हैं । यह है - यंत्र, तंत्र, मंत्र की प्रतिक्रिया । मंत्रद्रष्टा ऋषि वैज्ञानिक थे । उनके पास यज्ञशाला यानि एक प्रकार की प्रयोगशाला भी थी जिनमें अनेक भौतिक विषयों पर अनुसंधान कर कौशल प्राप्त करते थे । मंत्रद्रष्टा शब्दों के द्रष्टा मानने में संकोच भले ही है पर उनके लिखे शास्त्र के विशेषज्ञ थे, वे उनका साक्षात्कार करते थे । चाहे वें राजाराम हो, कृष्ण, विश्वामित्र अथवा वाल्मीकि हों - प्रत्येक वैज्ञानिक था, इसमें मुझे कोई संशय नहीं । उनका भौतिक शास्त्र पर पूर्ण अधिकार था । इसका अर्थ यह नहीं कि वे अध्यात्म ज्ञान से विरहित थे । तात्पर्यार्थ यही है कि अध्यात्म के साथ साथ भौतिक विद्याओं का उन्हें अपूर्व ज्ञान था जिसकी आधारशिला पर उन्होंने अध्यात्म पर विजय प्राप्त करी ।

आधुनिक Relativity Quantum और Mechanie ने वैज्ञानिकों की प्राचीन मान्यताओं में अनेक परिवर्तन ला दिये हैं । इनके आधार पर यंत्र द्वारा भौतिक रूप से देखकर आज वैज्ञानिक सृष्टि की रचना को आरंभ से समर्थन में सरलता का अनुभव करते हैं । उनकी शक्ति भूतकाल को देखने में आज समर्थ है । संभवतः विज्ञान की और प्रगति होने पर कदाचित् वे भविष्य को भी देख सकें ।

प्रायः पुराणों में हनुमान नारद आदि देवताओं के उड़ने का प्रसंग आता है । प्रकृति के चार शक्तियों यानि एलीमेंट्री फोर्सेस का ज्ञान वैज्ञानिकों को प्राप्त है, वे हैं - ग्रैविटेशनल फोर्स, इलेक्ट्रो-मैगनेटिक फोर्स, स्ट्रोंग एण्ड वीक इलेक्ट्रोनिक फोर्स ।

इन सबके पीछे कोई युनिटी फोर्स होने की संभावना पर अनुसंधान चल रहा है। साथ ही एक ऐसा फोर्स भी अनुभव में आ रहा है जो ग्रैविटी के विपरीत कार्य कर रहा है। अगर यह फोर्स सिद्ध हो जाय और इस पर वैज्ञानिक काबू पा लें तो उस शक्ति के द्वारा मनुष्य का पृथ्वी पर वजन कम होना संभव हो जाएगा औ तत्पश्चात् उड़ना भी। उस स्थिति में कोई दैवी शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। वह वास्तविकता की परिधि में आ जाएगा। इसी प्रकार अनेकानेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं।

सुनते आये है कि पृथ्वी के अलावा अन्य देवलोक भी हैं जहाँ के निवासियों का ज्ञान पृथ्वीवासियों से कहीं अधिक है। पिछले कई वर्षों से एक उड़नतश्तरियों सू.एफ.ओ.के. पृथ्वी पर गिरने का प्रकरण ताजा है। उसमें से कुछ मृत शरीर प्राप्त हुये ४ पुरुषों के और ३ महिलाओं के। वैज्ञानिक परीक्षणों से पता लगा कि आयु करीब २०० वर्ष की थी एवं वे शाकाहारी थे। मजे की बात तो यह है कि उनके साथ एक चर्मपत्र पर पुस्तक मिली। उसकी भाषा संस्कृत से मिलती जुलती है। इससे क्या यह संकेत नहीं होता कि अन्य लोकों में देवता रहते हैं जिनकी आयु हमसे कई गुना अधिक है और उनकी भाषा देववाणी संस्कृत है।

पुराणों में वर्णित है कि ब्रह्मा का एक दिवस पृथ्वी पर करोड़ों वर्षों के बराबर है तो यह वृत्तान्त एक कपोल कल्पित कथा लगती है। पर अब थ्यौरी ऑफ रिलेटीविटी के आधार पर (गणित द्वारा) यह सिद्ध है कि यदि कोई व्यक्ति विमान में प्रकाश की गति से सवार है तो उसका समय पृथ्वी के समय से कई गुना कम होगा। इस तथ्य के पश्चात् यह मानने से आपत्ति नहीं होगी कि आगे चलकर ब्रह्म लोक का पता चल सकेगा जिसकी गति कहीं अधिक है और वहां का दिन हमारे अनेक वर्षों के बराबर होगा।

लेख अधिक लंबा न हो जाय इस कारण उदाहरणों का आश्रय न लेकर केवल इतना ही निवेदन करना चाहूंगा कि हमारे आध्यात्मिक गुरु ऋषि मुनि सब वैज्ञानिक थे जिन्होंने उस भौतिक शास्त्र की विद्या के आधार पर अध्यात्मवाद में प्रवेश कर जीवन में अभ्युदय एवं निःश्रेयस् को प्राप्त किया।

यदि मेरा निवेदन स्वीकार्य हो तो मेरी यही प्रार्थना होगी कि हमारे विद्वत्गण इस बात की चेष्टा करें कि विज्ञान के हर विद्यार्थी को संस्कृत का ज्ञान भी होना अनिवार्य हो। यह उनके पाठ्यक्रम का अभिन्न बंग बन जाय ताकि ज्ञान एवं विज्ञान के आधार पर केवल अपने जीवन को ही सफल न बनावें अपितु भौतिक एवं आध्यात्मिक अनुसंधान द्वारा ज्ञान एवं विद्या की वृद्धि कर समाज की सेवा कर सकें।

प्राचीन भारत में ऋषि मुनियों द्वारा संचालित गुरुकुलों की स्वस्थ परम्परा के माध्यम से विज्ञान सहित ज्ञान की शिक्षा प्राप्त होती थी। ऐसी मेरी मान्यता है वह प्रायः विलुप्त हो गई है। यहाँ तक कि विदेशी साम्राज्य के समय शिक्षा पद्धति को एक ऐसा मोड़ दिया गया जिसके माध्यम से हम हमारी संस्कृति के दूर होते चले गये। विद्यार्थियों के समक्ष दो ही विकल्प प्रस्तुत किये जाते हैं। यदि प्रगति की ओर जाना है, सभ्य समाज का अपनाना है तो विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करो और यदि पिछड़े रहना है तो संस्कृत सीखो। अर्थात् या तो वैज्ञानिक बनो अन्यथा तुम असभ्य ही बने रहोगे। दोनों ज्ञान एवं विज्ञान साथ साथ वे नहीं पढ़ सकते जैस इनमें कोई विरोधाभास हो। फलतः अनेक मेधावी छात्र विज्ञान की ओर उन्मुख हुये और संस्कृत के ज्ञान से वंचित रहे। आज हम दिवंगत आत्मा पंडित मधुसूदन जी ओझा को याद करते हैं जिन्होंने हमारा दृष्टिकोण वेदों से निहित विज्ञान की ओर केन्द्रित किया है। उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि एव कृतज्ञता ज्ञापन यही होगा यदि वेदों में दर्शायी अविद्या और विद्या अथवा विज्ञान एवं ज्ञान का अपने पाठ्यक्रम में समन्वय स्थापित कर अभ्युदय के साथ साथ निःश्रेयस् को प्राप्त कर सकें।

वेद में विज्ञान

सुरजनदास स्वामी,

अजमेर

यहाँ विज्ञान पद से सृष्टि के उत्पादक मौलिक प्राणों का स्वरुप ज्ञान अभिप्रेत है। सृष्टि के समग्र पदार्थ प्राकृतिक मौलिक प्राणों से उत्पन्न हुए हैं। न केवल मौलिक प्राणों का अपितु उत्पन्न होने वाले विविध प्राणों का ही निरुपण वेद में हुआ है। प्राणविद्या का नाम ही वेद है। ऋषि, पितर, देव, दानव, गन्धर्व भेद से नाना जातीय प्राण प्रकृति में हैं। स्तुति, प्रार्थना, इतिहास, आदि के साथ इन प्राणों का निरुपण वेद में हुआ है। अतः प्राण विद्या को ही वेद विद्या कह दिया जाता है। उपर्युक्त नानाजातीय प्राणों में ऋषिप्राण मौलिक हैं। उन्हीं के योग से पितर, देव, दानव आदि प्राणों की उत्पत्ति होती है। इसीलिए शतपथब्राह्मण के षष्ठकाण्ड में कहा है –

"असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृक्त वाव तेऽग्रे
सदासीत्, तहाहुः के ते ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः" इति

अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व केवल असत् तत्व था। असत् तत्व क्या है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऋषि ही असत् तत्व हैं, और ऋषि प्राणों को कहते हैं। ऋषिप्राणों को असत् अभावरूप होने से नहीं कहते हैं किन्तु सत् में सत् के न रहने से उन्हें असत् कहा जाता है। ये ऋषि ही मौलिक प्राण हैं। ये ऋषिप्राण भी एकर्षि, सप्तर्षि, दशर्षि भेद से नाना प्रकार के हैं। जैसा कि ऋक्श्रुति बतला रही है –

"विरुपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते आङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे॥" इति

ऋ १०/६२/५

इनमें एकर्षि प्राण जो असंग स्वभाव वाले होने के कारण एकाकी ही रहते हैं, किस अन्य प्राण से उनका मेल नहीं होता। सप्तर्षि प्राण वे कहलाते हैं, जो सात प्राण ही मिलकर रहते हैं, न सात से कम और न अधिक। ये सप्तर्षि प्राण नाना प्रकार के हैं। जैसे –

अग्निविध, साकंजविध, गोविध व स्वसृविध। इनमें शरीर के मध्यभाग में रहने वाले ४ आत्मप्राण, २ पक्ष प्राण तथा १ पुच्छप्राण – ये सातों प्राण अग्निविध हैं। १ श्रोत्र, २ चक्षु, २ नासिका प्राण और एक वाक् ये सात प्राण साकंज कहलाते हैं। ऋग्वेद के निम्न मंत्र में इनका निरुपण किया गया है –

"साकज्जानां सप्तथमाहुरेकज़ं षंडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।

तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रुपशः"। इति

इसी प्रकार जैसे सूर्य की किरणों में कृष्ण, धूमल, शोण (लाल), हिरण्य (सुनहरी), पीत, हरित, नील - इन सात रंगों का समावेश है, इसी प्रकार किसी वस्तु में ७ प्राणों का सन्निवेश होता है। वे गोविध ऋषिप्राण कहलाते हैं।

"सप्त स्वसारः सुविताय सूर्य वहन्ति हरितो रथे" – इस मन्त्र में स्वसृविध सप्तर्षिप्राणों का उल्लेख है। जो दो, चार, तथा बहुत से प्राण यथा संभव मिले हुए रहते हैं तथा जिनमें किन्हीं प्राणों के उद्वाप (मिला देना) या उद्वाप (निकाल देना) से रूपान्तरता हो जाती है, वे दशर्षि प्राण कहलाते हैं इन्हे वैराजशब्द से भी कहा जाता है। ये मौलिक ऋषिप्राण हैं। इन प्राणों के परस्पर योग से यौगिक पितृप्राण उत्पन्न होते हैं, जो कि संख्या में ७ हैं। इन पितृप्राणों के परस्पर योग से देवप्राण व दानव प्राण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं प्राणों से सृष्टि से सारे पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। जैसा कि भगवान् मनु से कहा है –

"ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।

देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनु पूर्वशः॥ "इति।

वेद में विष्णु, इन्द्र सूर्य, वरुण, पूषा, पर्जन्यं, उषा आदि सभी प्राकृतिक प्राणों का निरूपण हुआ है। इन प्राणों का विज्ञान ही वेदविज्ञान है। इन प्राणों के विज्ञान का निरूपण ३० मिनट के समय में क्या महीनों से भी नहीं किया जा सकता। किन्तु आज मुझे सन्ध्योपासना का विज्ञान बतलाना है, अतः उसी का प्रारम्भ कर रहा हूँ –

सन्ध्योपासन में सूर्य से हमारे शरीर में उत्पन्न होने वाले विज्ञानात्मा के परिपोषण के लिये सन्ध्याकर्म द्वारा विज्ञानात्मा में सौरप्राण का आधान करना होता हे। क्योंकि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, उसी से उसकी रक्षा व परिपुष्टि होती है। क्योंकि हमारे में आयुरूप विज्ञानात्मा की उत्पत्ति सूर्य से होती है, अतः उसकी परिपुष्टि भी उसी से माननी

होगी। यह विज्ञानात्मा मनः प्राणवाङ्मय है। इन तीनों की पुष्टि से विज्ञानात्मा की परिपुष्टि हो सकती है। संध्योपासना में सूर्य की उपासना की जाती है। क्योंकि सूर्य से ही विज्ञानात्मा शरीर में उत्पन्न होता है, इसलिए सूर्य को ही "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" यह ऋक् श्रुति आत्मा (विज्ञानात्मा) बतला रही है। सूर्य अर्थात् सौरप्राण मनः प्राण वाङ्मय विश्वामित्र प्राण है, अतः उससे हमारे शरीर में आने वाला सौरप्राण जो विज्ञानात्मा कहलाता है, वह भी मनः प्राण वाङ्मय है। इसकी पुष्टि मनः, प्राण, वाक् तीनों की पुष्टि से हो सकती है। सन्ध्योपासन में आचमन, सूर्य को अर्ध्य प्रदान, सूर्योपस्थान, गायत्रीजप, प्राणायाम, अघमर्षण, आचमन - ये ६ कर्म होते हैं। इनमें अघमर्षण आचमन कर्म से सृष्टिकर्ता रूप से जो परमात्मा का स्मरण है, उससे मन की शुद्धि होती है। यही मन की परिपुष्टि है। प्राणायाम कर्म से प्राण का संस्कार होता है, यही प्राण की परिपुष्टि है। आचमन, अर्ध्यप्रदान, सूर्योपस्थापन तथा गायत्रीजप से वाक् की परिपुष्टि होती है। ये ही ६ कर्म सन्ध्योपासन में होते हैं। इन्हीं का क्रमशः सोपपत्तिक निरूपण किया जा रहा है।

सूर्योपस्थापनरहस्य

यह सन्ध्योपासन एक प्रकार का अग्निहोत्र ही है। अग्निहोत्र दो प्रकार का होता है — निरुक्ताग्निहोत्र व अनिरुक्ताग्निहोत्र। जो अग्नि आरण्याग्नि व गृहाग्नि में सम्पन्न किया जाता है उसे निरुक्ताग्निहोत्र कहते हैं। इस अग्निहोत्र में प्रातः कालिक आहुति इन्द्र देवता तथा सांयकालिक आहुति अग्निदेवताक होती है। "अग्नये एवं सायम्, सूर्याय प्रातः" २ / २ / २ / अर्थात् सायमाहुति अग्निदेवता के लिये दी जाती है और प्रातराहुति सूर्य के लिये दी जाती है। यह श्रुति तथा "तत्सत्येनैव हूयेते। यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेति अथाग्निर्ज्योतिः। यदा सूर्य उदेति अथ सूर्यो ज्योतिः। यद्वै सत्येन हूयते तद्देवान् गच्छति" २/२/३ जब सूर्य अस्त हो जाता है तब अग्नि ज्योति होती है। और जब सूर्य उदित हो जाता है। तब सूर्य ज्योति होती है। जो सत्य से हवन किया जाता है। वह देवताओं का प्राप्त होता है, यह श्रुति इसी तथ्य का उद्घाटन कर रही है। यह निरुक्ताग्नि अग्निहोत्र पारलौकिक अग्निहोत्र होता है, क्योंकि परलोक में फलप्राप्ति के उद्देश्य से इसका अनुष्ठान किया जाता है। "देवलोके मेप्यसदति वै यजते यो यजते" यह श्रुति इसी तथ्य को प्रतिपादित कर रही है। इस निरुक्ताग्नि अग्निहोत्र में प्रातःकाल इन्द्र (सूर्य) में अग्नि (पार्थिवाग्नि) का तथा सांय अग्नि में इन्द्र (सूर्य) में अग्नि (पार्थिवाग्नि) का तथा सायं अग्नि में इन्द्र का आधान किया जाता है। "अग्नावेवैतत् सांय जुहोति, सूर्ये प्रातरग्निम्"। २/२/३ अर्थात् सांयकाल अग्नि में सूर्य का, तथा प्रातः सूर्य में अग्नि का आधान किया जाता है। इस श्रुति से इसी अर्थ की पुष्टि हो रही है।

और यह जो सन्ध्योपासनरूप अग्निहोत्र है वह अनिरुक्ताग्नि अग्निहोत्र है। इसमें प्रातः सन्ध्या अग्निदेवताक गायत्री तथा सायंन्ध्या इन्द्रदेवताक सरस्वती है। यह अनिरुक्ताग्नि अग्निहोत्र ऐहलौकिक है। मनुष्यलोक में सौ वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त करने के लिये तथा ब्रह्मतेज की प्राप्ति के लिये इसका अनुष्ठान किया जाता है। जिस प्रकार देवलोक सम्बन्धी निरुक्ताग्नि अग्निहोत्र कर्म में इस आत्मा में ऐहिकफल की प्राप्ति के लिए अग्नि का उपस्थापन किया जाता है वैसे ही सन्ध्योपासनरूप मनुष्यलोकीय अग्निहोत्र में पारलौकिक फलप्राप्ति के लिये सूर्योपस्थान किया जाता है।

अर्घ्यदानरहस्य

सूर्योपस्थान से पूर्व इस सन्ध्योपासनरूप अनिरुक्ताग्नि अग्निहोत्र में सूर्य के लिये गायत्रीमन्त्र द्वारा अर्घ्यदान और दिया जाता है। जो निरुक्तानि अग्निहोत्र में नहीं दिया जाता। सैत्तैरीय आरण्यक में उसकी उपपत्ति बतलायी गयी है कि —

"रक्षांसि हवा पुरोऽनुवाके तप उग्रमतिष्ठन्त। तान् प्रजापतिरब्रवीद् योधयध्वमिति। तस्मादुत्तिष्ठन्तं हवा तानि रक्षांस्यादित्यं योधयन्ति यावदस्तमन्वगात्। तानि हवा एतानि रक्षांसि गायत्र्याभिमन्त्रितेनाम्भसा शाम्यति। तदु हवा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्रयाभिमन्त्रिता अप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति। ता एता आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षांसि मन्देहान्यारुणे द्वीपे प्रक्षिपन्ति। यत् प्रदक्षिणं प्रकामन्ति तेन पाप्मानवधुन्वन्ति। उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते। सवऽदित्यो ब्रह्मेति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद" इति। (तै.आ. २/.२/९) राक्षसों ने उग्र तप किया। प्रजापति ने उनसे कहा युद्ध करो। इसलिए वे राक्षस उदय से अस्तकालपर्यन्त उससे युद्ध करते हैं। ये राक्षस गायत्रीमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जल से शान्त होते हैं। इसलिये ब्राह्मण पूर्वाभिमुख होकर सन्ध्योपासनकाल में गायत्री से अभिमन्त्रित जलों को सूर्य की तरफ फेंकते हैं। प्रदक्षिण परिक्रमा द्वारा पाप को नष्ट करते हैं। उदित होते हुए व अस्त होते हुये सूर्य का ध्यान करने वाले ब्राह्मण को सकल कल्याणों की प्राप्ति होती है। यह आदित्य ही ब्रह्म है। इसकी उपासना करने वाला ब्रह्मरूप बनकर ब्रह्म में लीन हो जाता है तथा इस रहस्य को जानने वाला भी ब्रह्म-रूप बनकर ब्रह्म में मिल जाता है। इस श्रुति में प्रजापति शब्द से भी आदित्य ही अभिप्रेत है। यहाँ पृथ्वी की कृष्णरश्मि रूप अन्धकार ही राक्षस है उनका सूर्य प्रकाश के साथ सम्पर्क ही सूर्य के साथ राक्षसों का युद्ध है। यद्यपि श्वेत प्रकाशरूप सूर्यरश्मियाँ कृष्ण पृथ्वीरश्मिरूप रात्रि (अधंकार) को पूर्णतया नष्ट कर देती है, अतः इनका सूर्य के साथ युद्ध नहीं बन सकता तथापि प्रातः संध्याकाल तथा सांयसन्ध्याकाल में क्षितिज पर जो सूर्य दिखाई देता है वह वास्तविक सूर्य नहीं है, किन्तु

काल्पनिक सूर्य है। क्योंकि इस समय सूर्य भूकेन्द्र के सधस्थ पर प्रतिष्ठित रहता है। सधस्थ पर प्रतिष्ठित सूर्य से निकलने वाली रश्मियाँ उस समय सर्वत्र व्याप्त पृथ्वी की कृष्णरश्मिरूप भूभा से सम्पृक्त होती है। भूभा वायुप्रधान होने से जल की तरह पदार्थ है। इसके साथ सम्बन्ध होने से सूर्यरश्मियाँ का लम्बन होता है जिस तरह जलरूप ऋतप्रदार्थ में प्रविष यष्टि का लम्बन होता है। इस लम्बन से लम्बन सूत्र के सामने नवीन (काल्पनिक) सूर्य का स्वरूप बन जाता है। वही सूर्य हमें उस समय दिखाई देता है। इस समय सूर्यरश्मियाँ कृष्णरश्मिरूप भूमा में सम्पृक्त हैं, शुद्ध नहीं हैं। यही सूर्य का राक्षसों से युद्ध है। पृथ्वी की कृष्णरश्मियों से सम्पृक्त सूर्यरश्मियाँ ही इस समय प्राणि हृदय में पहुंच कर मनुष्य की बुद्धि का निर्माण करती हैं। क्योंकि प्राणी में बुद्धि का निर्माण सूर्यरश्मियों से ही होता है। इसीलिये "धियो यो नः प्रचोदयात" यह कहा गया है। और वे सूर्यरश्मियाँ कृष्णप्राणरूप अन्धकार से युक्त हैं। अतः हमारी बुद्धि भी अज्ञान से आक्रान्त होकर मन्द न बन जाय, इसी के परिहार के लिये अर्थात् सूर्यरश्मियों के साथ प्रविष्ट कृष्णप्राणरूप तम के परिहार के लिये सूर्य का ध्यान करते हुए गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जल सूर्य की तरफ फेंका जाता है। वे गायत्रीमन्त्राभिमन्त्रित जल कृष्णप्राणों को अभिभूत करते हुए ब्रह्म (ज्ञान) के कारण श्वेतप्राणों को उद्दीप्त करते हैं। अतः ओजस्विनी दिव्य बुद्धि उत्पन्न होती है। सूर्य रश्मिरूप विशुद्ध ब्रह्म से युक्त ब्रह्मरूप यह विज्ञानमय (बुद्धि) आत्मा देहपरित्यागानन्तर सूर्यरूप ब्रह्म में हीं लीन हो जाता है। तम से विक्षिप्त होकर अन्यत्र तामस नरक लोकों में नहीं जाता। यही सूर्य को अर्घ्यपदान करने का रहस्य है। वायुपुराण में भी इस रहस्य का उद्घाटन निम्नप्रकार किया गया है –

"तिस्रः कोट्यस्तु विख्याता मन्देहा नाम राक्षसाः।
प्रार्थयन्ति सहस्रांशुमुदयन्तं दिने दिने ॥
तापयन्तो दुरात्मानः सूर्यमिच्छन्ति खादितुम्।
अथ सूर्यस्य तेषां च युद्धमासीत् सुदारुणम् ॥
ततो ब्रह्मा च देवाश्च ब्राह्मणाश्चैव सत्तमाः।
सन्ध्येति समुपासन्तः क्षेपयन्ति महाजनम् ॥
ओङ्कारब्रह्मसंयुक्त गायत्र्या चाभिमन्त्रितम्।
तेन दहयन्ति ते दैत्या वज्रभूतेन वारिणा ॥"

(वायुपुराण ५० अध्याय)

यहाँ इन राक्षसों को सन्देह शब्द से व्यवहृत किया है। क्योंकि ये तमोमय राक्षस सूर्यरश्मि से सम्बद्ध होकर हमारे हृदय में पहुँचकर सूर्यरशिमयों से बनने वाली हमारी बुद्धि को अज्ञान द्वारा आवृत कर मन्द चेष्टा वाली बना देते हैं।

आचमनरहस्य :

सूर्य को अर्घ्यदान से पूर्व "अन्तश्चरसि भूतानि" इस मन्त्र के द्वारा आचमन किया जाता है। इस आचमनक्रिया के द्वारा विज्ञानमय आध्यात्मिक सूर्य को अर्घ्यप्रदान किया जाता है। अर्थात् आचमनक्रिया विज्ञानमय आध्यात्मिक सूर्य को अर्ध्य देना है। सन्ध्योपासन ब्रतोपनयनकर्म है। सूर्य ही प्राणियों का अध्यात्मिक विश्वामित्र नामक आत्मा है। सूर्य ही अध्यात्म में प्रविष्ट होकर हमारी आत्मा बनता है। जैसा कि – "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" सूर्य ही जंगम व स्थावर संसार का आत्मा है, इस मन्त्रश्रुति से तथा "तद्यो हऽसोऽसोऽसोऽहम्" जो अध्यात्म में आत्मा है वही वह सूर्य है तथा जो वह अधिदैवत में सूर्य है वही यह आध्यात्मिक विज्ञानात्मा है, इस ब्राह्मण श्रुति से सिद्ध हो रहा है। यह आध्यात्मिक विज्ञानात्मा उस आधिदैविक सूर्य से आप्यायन (पोषण) प्राप्त करता रहता है, यही व्रतोपायन क़र्म है। क्योंकि आप्यायन आधिदैविक सूर्य तथा आध्यात्मिक विश्वामित्रनामक विज्ञानात्मा के संयोग के बिना नहीं बन सकता। अर्थात् विज्ञानात्मा में आधिदैविक सूर्य का अंश आता रहता है उसी से उसकी परिपुष्टि होती है। किन्तु इसके लिये आगत सूर्यांश की आध्यात्मिक विज्ञानात्मा के साथ एकता अपेक्षित है। इसकी एकरूपता प्रतियोगी आधिदैविक सूर्य तथा अनुयोगी विज्ञानात्मा की निर्मलता तथा मेध्यतागुण पर आश्रित है। इसलिये बाह्य आधिदैविक सूर्यरश्मि की निर्मलता (पार्थिवकृष्णरश्मिरूपतमः परिहार) के लिये जिस प्रकार अर्घ्यप्रदान कर्म किया जाता है उसी तरह आन्तरिक (आध्यात्मिक) सूर्यरश्मियों की निर्मलता तथा मेध्यता के लिये यह आचमनकर्म किया जाता है। जैसा कि शतपथश्रुति में बतलाया गया है –

"व्रतमुपैष्यन्नप उपस्पृशति। अमेध्यो वै पुरूषो यदनृतं वदति। मेध्या वा आपः। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। पवित्रं वा आपः पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वा अप उपस्पृशति" इति। शत. ।/ ।

यजमान व्रतग्रहण करता हुआ जल का आचमन करता है। मनुष्य स्वभावतः एकीभावप्रयोजक संगमनयोग्यता से रहित है क्योंकि वह मिथ्याभाषण करता है। और जल में एकीभावप्रयोजक संगमनयोग्यता है। वे पदार्थ में संगमनयोग्यता उत्पन्न कर उसे एकीभूत कर देते हैं। मेध्य बन कर व्रतग्रहण करूं, इसलिए जल का आचमन किया जाता

है । जल पवित्र है पवित्र बन कर व्रतग्रहण करूं इसलिए आचमन किया जाता है । उपर्युक्त ब्राह्मणश्रुति में जल को मेध्य व पवित्र बतलाया गया है । मेध्य शब्द संगमनार्थ मेधृ धातु से निष्पन्न हुआ है अत: इसका अर्थ संगमनयोग्यता का आधान करने वाला अथवा जिस वस्तु से जिस वस्तु का आधान किया जाता है उन पदार्थों में एकताप्रयोजक सम्बन्ध योग्यतोप्तादक तत्व है । पूञ धातु से निष्पन्न पवित्र शब्द का अर्थ अन्तरायरूप मल का शोधक अथवा जिस पदार्थ में जिस पदार्थ का आधान किया जाता है उन दोनों की एकता के प्रतिबन्धक दोष का निवर्तक तत्व है। अत: आचमनकर्म द्वारा विज्ञानात्मरुप आध्यात्मिकसूर्य में आधिदैविकसूर्य का जो अंश आकर उसकी पुष्टि करता है उसके संगमन की योग्यता उत्पन्न की जाती है तथा उन दोनों की एकता के प्रतिबन्धक मलरूप दोष की निवृत्ति की जाती है ।

संध्यापासना में गायत्रीजप, सूर्योपस्थान, अर्घ्यप्रदान तथा आचमन ये चार कर्म ही प्रधान हैं । संध्या दिव्यावाक् से मिश्रित पार्थिव वाक्रूप है जैसा कि अनुपद ही बतलाया जा चुका है । इस संध्यारूप वाक् के उद्देश्य से ही ये चारों कर्म किये जाते हैं । इन चारों कर्मों से वाक् का ही संस्कार होता है । संस्कार होता है आचमन कर्म से पूर्व संध्योपासना में जो प्राणायाम कर्म किया जाता है उससे प्राण का संस्कार होता है । और प्राणायाम से भी पूर्व जो "ऋतं च सत्यं चात्रिद्धात्तपसोऽध्यजायत्" इत्यादि मन्त्र के द्वारा अघमर्षणरूप आचमन कर्म किया जाता है वह अवभृथ (यज्ञान्त) स्नान की तरह आत्मा का मानसिक स्नान है। सृष्टिकर्तारूप परमात्मा का स्मरण मन की शुद्धि का कारण है इससे मन की शुद्धि होती है । यही मन का संस्कार है। हमारा आध्यात्मिक विश्वामित्ररूप विज्ञानात्मा मन: प्राणवाङ्मय है ।

उपर्युक्त ६ संस्कारों से उस आत्मा के प्रत्येक अंग (मन, प्राण, वाक्) का प्रतिदिन संस्कार किया जाता है । और संस्कृत आत्मा ब्रह्मतेज से युक्त हो जाता है । इस प्रकार आधिदैविक सूर्यरूप तथा आध्यात्मिक विज्ञानात्म रूप दोनों विश्वामित्रप्राणों का अहोरात्र के सन्धिकाल में सन्धानकर्म ही सन्ध्योपासन कर्म है । यह द्विजातियों का प्रतिदिन का कर्म है जिसे उन्हें प्रतिदिन करना चाहिये । इसलिये "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" यह श्रुतिवचन उसकी दैनन्दिनकर्तव्यता सिद्ध कर रहा है ।

यहाँ प्रसंगत: गायत्री के पंचमुख क्या है ? तथा सावित्री गायत्री कैस बन गई ? इस विषय में जो आख्यान प्रचलित है, जिसका स्वरूप निम्न लिखित है –

एक बार प्रजापति ने यज्ञ करना चाहा किन्तु यज्ञ बिना पत्नी के नहीं हो सकता। इसीलिये भवान् राम ने जब अश्वमेध यज्ञ किया उस समय बनवास के कारण सीता के न

होने से उन्हें हिरण्यमयी सीता की प्रतिकृति स्थापित करनी पड़ी । उस समय प्रजापति की पत्नी सावित्री नहीं थी, इसलिए गाय के उदर में गोपकन्या को प्रविष्ट कर निकाला गया वह गायत्री बनी । और उसी गायत्री पत्नी को साथ लेकर प्रजापति ने यज्ञ किया । इस आख्यान के वैज्ञानिक रहस्य को जब तक नहीं जाना जाता तब तक यह आख्यान बहुत बेहूदा प्रतीत होता है क्योंकि गोपकन्या को किस प्रकार गाय के पेट में प्रविष्ट किया जा सकता है और प्रविष्ट होने पर वह गायत्री कैसे बन गई और वह जीवित कैसे रह गई ?

किन्तु इस आख्यान से वैज्ञानिक रहस्य को समझने पर सब विसंगतियों का परिहार हो जाता है –

यहाँ "सूर्य एवास्माकं प्रजापतिः" इस ब्राह्मणश्रुति के अनुसार इस त्रैलोक्य तथा त्रिलोकी की प्रजा का प्रजापति सूर्य है । क्योंकि सूर्य से ही सारे त्रैलोक्य के पदार्थ उत्पन्न होते हैं । सूर्योदय से पूर्व इस सूर्य प्रजापति ने अन्धकार परिहार रूप यज्ञ करना चाहा, किन्तु उस समय सावित्री न थी । सावित्री से तात्पर्य सूर्यरश्मियाँ ही सावित्री हैं जो कि सविता के सम्बन्ध से सूर्यपत्नी कहलाती है । सूर्योदय से पूर्व पृथ्वीकेन्द्र के सधस्थ भाग में सूर्य था, इस आकाश में नहीं था । अतः आकाश में सूर्यरश्मिरूप सावित्री की सत्ता नहीं थी । क्योंकि सूर्य उस समय आकाश में नहीं है । किन्तु उदयकाल में व अस्तकाल में क्षितिज पर जो सूर्य दिखाई देता है, वह वास्तविक सूर्य नहीं अपितु काल्पनिक सूर्य है । क्योंकि ऋतपदार्थ में जब सत्य वस्तु प्रविष्ट होती है तो वह लम्बित अर्थात् तिरछी हो जाती है । जैसे ऋतपदार्थ जल में लकड़ी को डालने पर वह सीधी नहीं रहती अपितु तिरछी हो जाती है । इसी प्रक्रिया को लम्बनक्रिया कहते हैं । इसी प्रकार क्षितिज से नीचे भूकेन्द्र के सधस्थ भाग में सूर्य रहता है । और पृथिवी की काली किरणों में सूर्यरश्मियाँ प्रविष्ट होती है तो वे तिरछी हो जाती है । क्योंकि पृथिवी से निकलने वाली काली किरणें जिन्हें भूभा कहा जाता है ऋत वस्तु हैं और सूर्य की किरणों सत्यपदार्थ हैं । अतः वे पृथिवी की कृष्ण रश्मियों में प्रविष्ट होने पर तिरछी हो जाती हैं और तिरछी होकर क्षितिज पर प्रतीत होती हैं । उस समय सूर्य की श्वेत रश्मियाँ पृथिवी की कृष्ण किरणों में प्रविष्ट होकर लम्बनप्रक्रिया द्वारा क्षितिज में प्रतीत होती हैं । ये ही सूर्य की श्वेतरश्मियाँ जो कि वस्तुतः सावित्री हैं, गोरूप पृथिवी की कृष्ण किरणों के सम्पर्क से गायत्री कहलाने लगती हैं ।

उक्त पौराणिक आख्यान में गोशब्द से गाय पशु का ग्रहण नहीं है किन्तु पृथिवी का है । क्योंकि गोशब्द किरण, पृथ्वी, पूषाप्राण तथा गाय पशु सभी का वाचक है । इसी प्रकार आख्यान में गोपकन्या सूर्य की किरणों का बोधक है । क्योंकि गोप का अर्थ सूर्य है और किरणें उस सूर्य से निःसृत होती हैं, अतः उन्हें गोपकन्या कहा गया है । अतः गोपकन्या

अर्थात् सूर्य किरणें गोरूप पृथिवी के उदर अर्थात् काली किरणों में प्रविष्ट होकर जब बाहर आती हैं, तब वे गायत्री बन जाती हैं। उन्हीं गायत्री के द्वारा सूर्यरूप प्रजापति ने उषःकाल में तमःपरिहारूप यज्ञ किया था, यह उस आख्यान का वैज्ञानिक रहस्य है।

भूकेन्द्र के सधस्थ पर विद्यमान सावित्रीरूप सूर्यकिरणों के पृथिवी की काली किरणों में प्रविष्ट होने पर सूर्यकिरणों का वर्ण प्रत्येक घटिका में परिवर्तित होता रहता है। क्योंकि ज्यो ज्यो सूर्य ऊपर आता है वैसे ही वैसे श्वेतवर्ण बढ़ता जाता है। और पृथ्वी की काली किरणों का ह्रास होता जाता है। ५ घड़ी ही प्रकृति में गायत्री रहती है। प्रत्येक घड़ी में पृथिवी की काली किरणों में सूर्य की श्वेत किरण रूप गायत्री का वर्ण परिवर्तित होता है। वे ५ रंग मुक्ता, विद्रुम, हेम, नील व धवल हैं। ये ही गायत्री के ५ मुख हैं। इसीलिए गायत्री के ध्यान के पद्य में गायत्री के इन्हीं ५ मुखों का वर्णन किया गया है। जैसे –

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणैर्युतामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम् गायत्रीं वरदाभयांकुशकशाः शुभ्रंकपालंगदां शंखं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ॥ इति।

इसके बाद एक हाथ सूर्य ऊपर जाने पर शुद्ध सावित्री रह जाती है। उसी समय पर सूर्य का दर्शन करना चाहिये। क्योंकि उससे पूर्व उसमें तमोमय आसुरप्राण भी प्रविष्ट है, उससे बुद्धि व दृष्टि में विकृति आती है। इसीलिये धर्मशास्त्रों में उदित व अस्त होते हुए सूर्य का दश्रन निषिद्ध बतलाया है। नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमस्तं यान्तं तथैव च" । किन्तु गायत्री का समय ५ घड़ी ही हैं।अतः उसी समय उसका ध्यान व जप करने पर हमें वह तत्व प्राप्त हो सकता है। क्योंकि उस समय प्रकृति में वह तत्व विद्यमान है। प्रातःकाल सूर्योदय से ढाई घड़ी पूर्व तथा ढाई घड़ी सूर्योदय के बाद तक का तथा सायंकाल ढाई घड़ी सूर्यास्त से पूर्व तथा ढाई घड़ी सूर्यास्त के बाद तक गायत्री का समय है। अतः इसी समय सन्ध्योपासना करना उचित हैं। जैसे –

"प्रातःसन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि।
सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामर्धास्तमितभास्कराम् ॥ इति

पं. मधुसूदन ओझा दर्शित वेद विचार

प्रो. भवानीलाल भारतीय
पजांब युनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

वेदों को संसार का प्राचीनतम ज्ञान स्वीकार किया है। पुस्तक रूप में आज जो वेद संहिताएं हमें उपलब्ध हैं, वे भी मानव जाति की सर्वाधिक प्राचीन चिन्तन प्रक्रिया तथा उसके विचार वैभव को दर्शाती हैं। भारत और पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने पृथक् पृथक् दृष्टिकोणों से वेदों के सम्बन्ध में अपने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। भारतीय दार्शनिकों ने जहाँ वेदों को अलौकिक, अपौरुषेय और ईश्वरप्रदत्त आदिम ज्ञान कहकर उसकी श्लाघा की, वहाँ पश्चिमी विद्वानों ने उसे संसार की प्राचीनतम आर्य जाति के धर्म, दर्शन समाज तथा सांस्कृतिक जीवन का परिचायक बताया।

शताब्दियों तक भारत में वेदार्थ को लेकर ऊहापोह होता रहा है। यों तो वेद संहिता के पश्चात् प्रणीत ब्राह्मण ग्रन्थों में ही वेदार्थ को स्फुट करने का प्रयास किया गया और मन्त्रगत तत्त्व को विभिन्न प्राकृतिक तथ्यों का उद्भावक, यज्ञ कर्म का रहस्योद्घाटक तथा विश्व-प्रपंच का व्याख्याता बताया गया, किन्तु निरुक्तकार यास्क और उसके समकालीन तथा पूर्वकालीन आचार्यों ने वेदार्थ को स्फुट करने के गम्भीरतम प्रयास किये। निरुक्त में ही वेदों का व्याख्यान करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है जिनमें कुछ प्रमुख थे – आधिदैवत, अध्यात्म, आख्यान समय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक, पूर्व याज्ञिक और याज्ञिक सम्प्रदाय प्रमुख माने गये। कालान्तर में जब वेदाधारित कर्मकाण्ड का प्रचलन हुआ तो यह धारणा बलवती होती गई कि वेदों का प्रयोजन श्रौत कर्मकाण्ड में विनियोजन में ही है और प्रत्येक मंत्र को किसी न किसी यज्ञ कर्म में अवश्य विनियुक्त किया जाना चाहिए। यही कारण है कि सायण तथा तदनुवर्ती वैदिक भाष्यकारों ने प्रत्येक मंत्र के ऋषि, देवता, छन्द आदि का निर्देश करने के साथ साथ उसके विनियोग का भी उल्लेख किया है। पूर्व मीमांसा दर्शन तो याज्ञिक कर्मों की वेदानुकूलता सिद्ध करने के लिये ही रचा गया और परवर्ती श्रौत तथा गृह्यसूत्रों में विभिन्न वेद मन्त्र नाना कर्मों में विनियुक्त किये गये। ऐसा करते समय इस विचार को दृष्टिपथ से ओझल कर दिया है कि जिन कर्मों और क्रियाविधियों में इन मन्त्रों को प्रयुक्त किया जा रहा है, उनकी मंत्रगत अर्थ से कोई तार्किक संगति या वैचारिक समीपता भी है या नहीं।

गत शताब्दी में वेदार्थ की प्रणाली में कुछ क्रान्तिकारी वैचारिक परिवर्तन आये। स्वामी दयानन्द ने वेद को समस्त ज्ञान का मूल उत्स स्वीकार करते हुए उसके पारमार्थिक और व्यावहारिक अर्थ करने पर जोर दिया। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे वेदों के याज्ञिक विनियोगों के विरुद्ध थे। उनका अभिप्राय तो इतना ही था कि कर्मकाण्ड से हट कर भी वेदार्थ का चिन्तन किया जाना आवश्यक है क्योंकि वेदों में तो अत्युच्च, उदात्त तथा मनुष्य के लिए उपयोगी सार्वजनीन शिक्षाएं उल्लिखित हुई हैं, उन्हें प्रकाश में लाना युग की अनिवार्य आवश्यकता है।

कालान्तर में महामहोपाध्याय पं. मधुसूदन ओझा तथा योगी अरविन्द की वेदालोचना भी उपर्युक्त धारणा को ही पुष्ट करने वाली सिद्ध हुई। ओझाजी ने अपने ब्रह्म विचार नामक ग्रन्थ में प्रजापति, वेद और यज्ञ का क्रमशः निरूपण करते हुए स्पष्ट किया है कि जगत् के दृश्यमान सबसे बड़े तथा सबसे छोटे पदार्थ को प्रजापति ही मानना चाहिए। अनन्तानन्त प्रजापति समूह का समष्टि रूप ही यह जगत् है। ब्रह्म जो प्रकारान्तर से प्रजापति ही है निरुक्त और अनिरुक्त भेद से दो प्रकार का है। जो दिक्, काल, देश और संख्या की सीमा में आबद्ध है।वह निर्वचन युक्त होने से निरुक्त है और अखण्ड, निष्कल, परिच्छेद-रहित है, वह अनिरुक्त है। इस अनिरुक्त प्रजापति रूप में ही मन, प्राण और वाक् सूक्ष्म रूप में रहते हैं। यही जब प्रकट या व्यक्त हो जाते हैं तो इन्हें हम मन, प्राण और वाक् रूप में पृथक् पृथक् देखते हैं। इन तीनों के समुच्चय से प्रजापति का विधातु रूप सिद्ध होता है जो नाभि, मूर्ति और महिमा संज्ञायुक्त है। यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में प्रजापति को गर्भ में विचरण करने वाला तथा स्वयं अनिरुक्त होने पर भी बहुत प्रकार से व्यक्त होने वाला कहा है –

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
यजु. ३१/१९

इसी प्रजापति के आधार पर अखिल लोक और भुवन ठहरे हैं। यही प्रजापति यजुर्वेद के अन्य मन्त्र में निम्नप्रकार से वर्णित है –

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परिता बभूव।
यत कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।
(२४/६५)

हे प्रजापति, आपसे भिन्न कोई भी इन पैदा हुई जगत् की अखिल वस्तुओं के चारों ओर नहीं है। अर्थात् प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ के चारों ओर केवल आप ही हैं, इसलिए जिस जिस कामना के वशवर्ती होकर हम आपका स्तवन करते हैं, तथा आपको हवि अर्पित करते हैं, हमारी तत् तत् कामना सिद्ध होवे और हम धनैश्वर्य के स्वामी होवें।

इस आदि प्रजापति को ही इतर प्रजापतियों की योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान कहा गया है। ओझाजी के अनुसार आदि प्रजापति ही परमेश्वर है और अवशिष्ट प्रजापति (क्षुद्र प्रजापति) जीव कहलाते हैं। प्रजापति का निरूपण करते हुए पं. मधुसूदन जी ने वेद को प्रजापति का शरीर स्थानीय तथा यज्ञ को उसका जीवन स्थानीय माना है। इस प्रकार वे वेद का सम्बन्ध मन से, यज्ञ का प्राण से और प्रजा का वाक् से मानते हैं। प्रकृति भेद से वेद भी ऋक् यजु: और साम त्रिविध प्रकार वाला है। ऋक् प्रजापति की पूर्ति है, साम उसका मस्तक है और यजु: उसका उदर। प्रकारान्तर से कह सकते हैं कि प्रजापति और वेद अभिन्न हैं। ओझाजी ने रस, छन्द और विज्ञान की दृष्टि से वेदों का पुन: विस्तृत निरूपण किया है। शास्त्रों में ऋग्वेद का अग्नि से, वायु का यजुर्वेद से और सामवेद का आदित्य या सूर्य से जो संबंध ज़ोड़ा गया है[१] उसकी व्याख्या भी पं. ओझाजी ने अपने ही ढंग से की है। वे कहते हैं कि जगत् में जहाँ जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह सब अग्नि ही है। अग्नि ही किसी न किसी रूप में वस्तु के नाम से जाना जाता है। कतिपय ऋषियों के मत को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं कि यजु: के द्वारा यज्ञ करने वाला मनुष्य वायु रूप में आकर अपनी स्थिति करता है, इसलिए वायु ही यजु: है। प्रकारान्तर से वे आदित्याग्नि और सर्वतस्त्राग्नि को आकाशव्यापी वायु का ही अवर रूप मानते हैं। इस प्रसंग में उन्होंन ऋग्वेद (४.१.१५) को उद्धत किया है —

अग्निर्जागार तमृच: कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्येन्योका: ॥

अर्थात् अग्नि जब स्वतन्त्र रूप से जागता है तो उसकी कामना ऋचाएं भी करती हैं, इसी प्रकार साम भी उसके चतुर्दिक् भ्रमण करता है और साम तो उससे यही कहता है कि वह उसका सखा है।

तीनों वेद वाक् रूप हैं। प्राणों का इनमें सन्निवेश हुआ है। और इन्हीं प्राणों से तीन लोक उत्पन्न होते हैं जिनमें वाक् का सन्निवेश रहता है, अत: प्राणमय यज्ञ को त्रिविक्रम विष्णु कहा गया है। ओझाजी के अनुसार तीनों वेद प्रत्येक वस्तु में रहते हैं। और कोई भी वस्तु बिना वेदों के अपना पृथक् स्वरूप धारण नहीं कर सकती। वेदार्थ द्रष्टा ऋषियों ने सूर्य को भी वेदत्रयी से युक्त कहा है। सूर्य के रूप मे वेदत्रयी रूप त्रिविध विद्यायें ही तप

रही हैं। इसमें जो मण्डल दीखता है, वही ऋक् है, जो मण्डल में पुरुष दिखायी देता है, वह यजुः है और जो इसकी सीमा है वह एक प्रकार का छन्द है। सूर्य मण्डल से बाहर जो प्रकाशमय अर्चियाँ दिखायी पड़ती हैं, उन्हें साम संज्ञा से अभिहित किया गया है।

मन, प्राण और वाक्, त्रिधातु रूपी प्रजापति से युक्त इस जगत् को ओझा जी अणु रुप तथा स्कन्ध रूप मानते हैं। त्रिधातुओं का प्रथम मेल परमाणु रूप में हुआ, पुनः परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से जो बृहत् रुप हुआ उसे स्कन्ध नाम दिया गया। प्रत्येक वस्तु के नाम, रूप और कर्म होता है, अतः वेद भी त्रिविध रूप है। नाम को ऋक्, रूप को यजुः तथा कर्म को साम कहा जाता है। वेदों की रचना पुरुषाधीन नहीं है, अतः इन्हें अपौरुषेय कहना समीचीन ही है। सांसारिक पदार्थों को पौरुषेय और अपौरुषेय भेद से दो प्रकार का माना गया है। घट, पट आदि पदार्थ मनुष्य निर्मित हाने से पौरुषेय है जबकि वेद के लिये पुरुष को कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता अतः वह अपौरुषेय है। इन्हीं अपौरुषेय वेदों को स्वबुद्धि के अनुसार समझने के लिये ऋषियों ने शास्त्रों का निर्माण किया जो पृथक् पृथक् हैं।

म. म. पं. ओझा की वेदभाष्य परम्परा का पल्लवन

डॉ. अभयदेव शर्मा,
अध्यक्ष, वेद-संस्थान (अजमेर-दिल्ली)

१. पृष्ठभूमि

महामहोपाध्याय पं. मधुसूदन ओझा इस शताब्दी के मूर्धन्य, कृतश्रम वैदिक चिन्तकों में अन्यतम हैं। शब्द के प्रचलित अभिप्राय में उन्होंने कोई वेदभाष्य तो नहीं रचा। पर भावी वेदभाष्य की तैयारी के रूप में उन्होंने वैदिक समस्याओं पर गहनातिगहन चिन्तन कर अपने जो निष्कर्ष अपने लेखन द्वारा वैदिक अनुशीलकों को प्रदान किए हैं वे अति महत्वपूर्ण हैं।

प्रत्येक क्रिया किसी न किसी पूर्ववर्ती क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। श्री ओझा का वेदानुशीलन विगत शताब्दी के एक शीर्षस्थ, स्वोपज्ञ वैदिक चिन्तक, स्वामी दयानन्द सरस्वती के निष्कर्षों की प्रतिक्रिया में आरम्भ हुआ बताया जाता है।यह एक स्वाभाविक और अनिवार्य प्रतिक्रिया थी जो अन्य सम्प्रदायों, जैसे ईसाइयत, इस्लाम आदि में भी दृष्टिगत हुई। दयानन्द के बुद्धिपरक तर्कों के आगे पारम्परिक चिन्तन पर युग युगों से पड़ती गई भावुकता की पर्तों में दरारें आनी स्वाभाविक थीं, अत: मात्र परम्परा की दुहाई देकर, अभी तक चली आती हुई अपनी अवधारणाओं का स्पष्टीकरण और बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करने में विद्वानों को जोर पड़ना मानी हुई बात थी। ऐसा तो नहीं था कि उन प्रचलित धारणाओं के मूल में कोई सामाजिक आवश्यक का यथार्थ न रहा हो अथवा दयानन्द से पूर्व वे प्रश्न भारतीय मानव के मस्तिष्क में उठे ही न हों। उन प्रश्नों के तर्कसंगत समाधान भी खोजे अथवा सोचे गये होंगे और सामाजिक रीति-रिवाजों और कर्मकाण्ड में लोक रुचि के पुट के जुड़ जाने से, कृत्यो की यादृच्छिकता के निरोध के उपाय भी "विकल्प" या "व्यवस्थित विकल्प" के विधि-निषेधों द्वारा सोचे गए होंगे। इस देश की मनीषा ने यथासम्भव सर्वविध पूर्वपक्षों की स्वत एव अपने मन से उद्भावना करके अपने सिद्धान्त पक्ष की सारवत्ता को तौलते परखते रहने की प्रक्रिया का आविष्कार किया हुआ था। अत: दयानन्द की भूमिका अपने आपमें कोई अप्रत्याशित आकस्मिक धक्का या आंधी नहीं थी। तथापि मानव का मन अपने को समाधानों से आवश्वस्त कर प्रमाद अथवा

निद्रा में में पड़ ही जाया करता है। और जब कभी कोई दयानन्द समाज के बौद्धिक प्रमाद को या निद्रा को ललकारता है तो हड़वड़ी मचना स्वाभाविक बात है।

परम्परा से द्वेष बाहरी लोगों को ही हो, तो हो। परम्परा में पले हुए को द्वेष नहीं होता, पर शंकाएं अवश्य होती हैं। दयानन्द पारम्परिक तथाकथित "सनातमधर्म" की उपज थे। बाल्य अवस्था में ही उनकी तार्किक बुद्धि की, तलस्पर्श करने की वृत्ति जब तक प्रकट होती रही थी नकल से सन्तुष्ट न होकर असल को पाने की उनकी इच्छा बड़ी प्रशस्य थी। अपनी इस वृत्ति के साथ वे भारत के लगभग समस्त बौद्धिक और कर्मकाण्डपरक परिवेश या क्षेत्र में घूम गए। पर कहीं कोई सम्पूर्ण समाधान उन्हें नहीं मिला। डॉ. जार्डन्स ने इस तथ्य को व्यंजनामयी शब्दावली में "ईश्वर से व्याकरण" तक की सारस्वत यात्रा ठीक ही कहा है। इस यात्रा में उन्हें "आर्ष-अनार्षविवेक" करने की दृष्टि मिली " और संयोग से यह दृष्टि उन्हें अपने इस राजस्थान के अलवर नामक नगर में कभी निवास करने वाले एक विद्वान् दण्डी संन्यासी से मिली। इस यात्रा की समाप्ति के बाद भी दयानन्द आर्ष अनार्ष कसौटी पर अपने तरीके से ब्रह्म धर्म समीक्षा करते रहे और अन्ततः वेदों तक आ पहुंचे। दयानन्द ने वेदों के भाष्य पढ़े, सारा वैदिक वाङ्मय उलट पलट डाला, पर उन्हें अपने चित्त का समाधान नहीं मिला। तब उन्होंने परंपरा से हटकर वेदादि का स्वोपज्ञ विचार किया और अपने चिन्तन की एक नवीन सरणि का निर्माण किया जो उनके ग्रन्थों, विशेषकर ऋग् यजुः भाष्य में दृष्टिगत होती है।

दयानन्द ने याज्ञिक कर्मकाण्ड के विराट् अरण्य को लोक के दैनन्दिन जीवन में दुस्साध्य और प्रायः निष्प्रयोजन पाया। सारा वैदिक वाङ्मय और उसके भाष्य यज्ञ केन्द्रित थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो, वेदों की, और समूचे वैदिक वाङ्मय की फलश्रुति "देवेभ्यः स्वाहा, पितृभ्य स्वधा" ही है। लोक की शतशः सहस्रशः समस्याओं से, वेद को मानो कोई मतलब नहीं है। मनुष्य अंधविश्वासों में फंसा, "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" बना, गतानुगतिक हुआ मूढ कर्मों में रत है और अपने "पर" लोक को तो दूर "इह" लोक को भी बिगाड़े चला जा रहा है। ज़माना तर्क और विज्ञान के द्वारा आगे दौड़ा जा रहा है, यह दयानन्द ने स्पष्ट देखा। पर भारत का लोक, परंपरा की मूढ अनुसृति में पड़ा था। बाहर से आए हुए सम्प्रदायों ने इस देश को दबोच लिया। एक के बाद दूसरे, आक्रमणकारी आते ही गए और इस देश का लोक पिटता ही चला गया।

ऐसी परिस्थिति में, दयानन्द ने जो कुछ सोचा और किया वह न अस्वाभाविक था, न अप्रत्याशित था। उस समय जो भी अननायक लोक का मार्गदर्शन करने के लिए प्रकट होता उसका व्यक्तित्व दयानन्द से कुछ खास भिन्न न होता, सिवाय कुछ रुचि भेद, कुछ

नीतिभेद और कुछ आग्रह भेद या जोर देने के तरीके के भेद के। दयानन्द का ५९ वर्षों का स्वल्प वय: जनमानस के बेतरतीब पड़े हुए सामान को छांट छांट कर संभालने में और कूड़े कर कट को एक ओर करने में ही प्राय: बीत गया। उन्हें बड़ी जल्दी थी क्योंकि लोग उनकी जान के ग्राहक बने हुए थे और जितना प्रबल समर्थन उन्हें चाहिये था, वह उन्हें मिल नहीं पा रहा था। दयानन्द "पथिकृत्" थे। अपने दिमाग से सोचने समझने की चकल को छोड़ असल को खोजने की जो मिसाल वे पेश कर गए थे, उस पर चलने की प्रेरणा लोक के सुधी वर्ग को राग द्वेष ने नाना रूपों में मिली।

इस प्रेरणा के एक जगमगाते परिणाम थे श्री ओझा। अपने गरु से वेदाध्ययन की दीक्षा लेकर, लगभग सारा वेदाध्ययन उन्होंने भी, दयानन्द के समान, स्वीय उपज्ञा से किया। वे भी पारम्परिक याज्ञिक वेदार्थ से सन्तुष्ट न हो सके। पर दयानन्द जहां वेद में लोकोपयोगी, दैनंदिन जीवन में आचरणीय नीतिपरक पक्ष को देखने में अधिकतर लगे, वहाँ श्री ओझा ने वेद के आधिभौतिक और आधिदैविक पक्ष को समझने का विशेष भागीरथ प्रयत्न किया। वेद के याज्ञिक पक्ष को "ब्राह्मण" ग्रंथों के "ब्राह्मण" - भाग ने जिस तार्किक आधार पर समझाया, है, वह प्रमुखतया आधिदैविक है, और यत्र तत्र आधिभौतिक और आध्यात्मिक भी है। आध्यात्मिक पक्ष ब्राह्मण-ग्रन्थों के "आरण्यक" और "उपनिषद्" भागों में सविशेष पल्लवित हुआ है। आरण्यकों और उपनिषदों का कथ्य, उत्तरमीमांसा (अथवा वेदान्त) का सहारा पाकर लोक- प्रज्ञा में सुप्रतिष्ठित और प्रिय हो चला, जबकि नितान्त तकनीकी विषय होने के कारण "ब्राह्मण"-भाग का विषय पूर्व मीमांसा की बैसाखी पाकर दुरूह ही बना रहा। परिणाम यह हुआ कि यज्ञ को मात्र कर्मकाण्ड की, कामपूर्ति-प्रधान दृष्टि से ही देखा जाता रहा और "ब्राह्मण"-ग्रंथों के स्पष्टीकरण के लिए प्रस्तुत आख्यान या अर्थवाद निरर्थक गपोड़ों के स्तर पर पड़े रह गए।

श्री ओझा ने शतपथ ब्राह्मण के माध्यम से वेदाध्ययन आरम्भ किया था। यह ग्रंथ, अपने "बृहत्" आरण्यक उपनिषद् के साथ अपने आप में इतना विराट् है कि किसी का भी पूरा जीवन इसी के अनुशीलन में लग सकता है। किसी वस्त्र के छोर के एक डोरे को पकड़कर खींचने लगें तो पूरा वस्त्र खींचा चला आता है। इसी प्रकार, यदि शतपथब्राह्मण के एक एक पद या प्रत्येक पंक्ति का गहन और तुलनात्मक अध्ययन सूमूचे वैदिक वाड्मय के सर्वेक्षण के साथ किया जाए, तब तो शतपथ ब्राह्मण का अध्ययन यदि एक जीवन में भी कोई मनीषी पूरा कर पाए तो ईश्वर की महती अनुकम्पा समझनी चाहिए। अत: श्री ओझा, शतपथब्राह्मण के अध्ययन से आगे बढ़ते बढ़ते समूचे ब्राह्मण वाड्मय के ऐसे गहन अध्येता हो गए कि उनका सारा वय: "ब्राह्मण"-ग्रंथों की परिभाषाओं को समझने व

समझाने में ही लग गया। परिणाम यह हुआ कि वे वेद संहिताओं का साद्यन्त भाष्य प्रस्तुत करने के लिए समय नहीं पा सके।

पर इसका आशय यह नहीं होना चाहिये कि कोई यह मान ले कि श्री ओझा ने वैदिक संहिताओं का साद्यन्त विचार किया नहीं होगा। वैदुष्य की अपनी वर्तमान अवस्था में, वेद का ऐसा कोई भी भाष्य संभवतः नहीं रचा जा सकता है जो पाठक के चित्त का पूरा समाधान कर सके। वेद की पदावली पदे पदे पारिभाषित सी प्रतीत होती है। वेद के प्रत्येक शब्द के समस्त संदर्भों को विचार में लेते हुए, उसकी अर्थच्छटाओं का जब तक नए सिरे से निर्धारण नहीं कर लिया जाता तब तक मात्र शाब्दिक अनुवाद कर देने से, या यत्र तत्र कुछ बिन्दुओं पर टिप्पणियाँ लिख देने से "वेदभाष्य" के नाम पर वेद के साथ पूरा न्याय नहीं किया जा सकता है। वैदिक वाङ्मय के एक पद समूह के अध्ययन में यदि एक मास लगे, और कम से कम १००- १२५ वैदिक विद्वान् एक साथ, एकमना होकर सर्वात्मना वैदिक पद विचार में लग सकें तो शायद २५-३० वर्षों में वेद के शब्दों की पारिभाषिकता को सम्पूर्णतया उजागर किया जा सके। और उसके पश्चात् ही वेदसंहिताओं का प्रामाणिक और उपान्त्य भाष्य कोई विद्वन्मण्डल तैयार कर सकेगा - ऐसा भाष्य जो आध्यात्मिक, आधिकदैविक और आधिभौतिक, तीनों स्तरों पर समानान्तर संगत होता चले, और जो विभिन्न विज्ञान सरणियों और तात्विक चिन्तनों को और भी गहनातिगहन अन्वेषण के लिए वैदिक धरातल प्रदान कर सके।

अतः श्री ओझा के वेदानुशीलन का जो ऋण हम सब वैदिक विद्यार्थियों पर है उससे उऋण होने के लिए वैदिक परिभाषाओं पर जम कर कार्य किया जाना चाहिये। दयानन्द के समान, श्री ओझा भी "पथिकृत" थे। अपने श्रद्धेय आचार्य का "मक्षिकास्थाने मक्षिकापात" करने वाला चेला होना सरल है। पर अपने आचार्य द्वारा प्रक्रान्त कार्य को आगे जारी रखते हुए उसे स्वाभाविक परिणति तक पहुँचाने से ही कोई, अपने शिष्यत्व को सार्थक कर सकता है। आचार्यों को वकीलों की आवश्यकता नहीं होती है और उनके प्रत्यक्षर को "सत्य वचन महाराज" सिद्ध करते फिरें। आचार्य को तो सच्छिष्य चाहिये। ऐसे सच्छिष्य जिनकी मेधादृष्टि आचार्य के वैदुष्य से चुंधियाई हुई न हो, वरन् जो आचार्य के कंधे पर बैठकर, आचार्य के बौद्धिक क्षितिज को ऊरुतर कर दें। आइए, वैदिक परिभाषाओं को स्पष्ट करने में अपने जीवनों को होमने का अपन लोग व्रत ग्रहण करें।

अपनी बात का उदाहरण द्वारा निवेदन करना उचित होगा। श्री ओझा की "वेदभाष्य- परम्परा" विषय पर यहाँ विचार हो रहा है। "परम्परा" की चर्चा आते ही, सर्वश्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, मोतीलाल शास्त्री, और डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के नाम

स्वतः सामने आ जाते हैं। अन्य भी अनेक स्वनामधन्य विद्वान् इस परम्परा में हैं। इन पंक्तियों के लेखक, इस अकिंचन ने भी वेद को इस परम्परा से ही समझा है।

श्री ओझा ने, और उनकी परम्परा में सबने अदिति को आकाश का वह अंश माना है जो सूर्य प्रकाश से द्योतित है। भूपिंड एक ग्रह है जो आकाश में अपनी धुरी पर घूम रहा है और अपना सायं प्रातर् अग्निहोम कर रहा है। वह आकाश में अपने आकर्षण केन्द्र सूर्य के परितः भी घूम रहा है और अपना सोमयाग कर रहा है। भूपिंड के इस परिभ्रमण में उसके चातुर्मास्य याग भी हो रहे हैं। भूपिंड के परितः उसका उपग्रह, चन्द्रमा घूम रहा है और पृथिवी के दर्श पूर्ण मास दृष्टिद्वय का संपादन कर रहा है। भूपिंड का जो भाग सूर्य में सम्मुख होता है वहाँ प्रकाश है, तो जो भाग प्रतिकूल रहा जाता है वहां अन्धकार हो जाता है। आकाश में भूपिंड की काली छाया दूर तक आकाश में फैली रहती होगी, भले ही स्वयं भूपिंड का ज्योतिर्वलय रात्रि में भी कुछ चमकता हो। यह काली छाया "दिति" है, तो भूपिंड के और सूर्य के मध्य का अविच्छिन्न, ज्योतिर्मय आकाश "अ-दिति" है। यह अ-दिति वेदों की पृथिवी है। यद्यपि प्रकाशित आकाश भाग में भूपिंड की काली छाया नहीं दीखती पर छाया सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में होनी तो वहाँ भी चाहिये ही। यह छाया इतनी लम्बी है कि उस लंबाई में स्वयं सूर्य भी आ जाता है। पर भूपिंड की छाया सूर्य से भी आगे, सुदूर आकाश में लगभग उतनी ही दूरी तक और है जितनी दूरी भूपिंड और सूर्य के मध्य में है। इस अदिति पर अथवा सुदीर्घ भौम छाया में सब देवों की स्थिति है, स्वर्ग की स्थिति है, बल्कि वैदिक आधिदैविक पक्ष के जितने भी पदार्थ हैं, समूचा वैदिक तत्त्वज्ञेय, इस आकाशीय अदिति पर आधारित है। सारे स्तोम, सारे अहर्गण, समूचा वैदिक विज्ञान इस अदिति के स्वरूप में परिसमाप्त है। "महाभारत" के समान, इस अदिति या पृथिवी पर भी वह वचन लागू होता है, "यद् इहास्ति तद् अन्यत्र, यन् नेहास्ति न तत् क्वचित्।"

ओझा परम्परा के समूचे वैदिक चिन्तन की, यह अदिति, रीढ़ की हड्डी है। पर कुछ पूर्वपक्ष भी यहाँ उठाए जा सकते हैं, जो इन पंक्तियों के लेखक जैसे नाचीज, वैदिक विद्यार्थी के मन को कुरेदते हैं, या कुरेद सकते हैं, या कुरेदने चाहिये। भले ही अपने अज्ञान की विराट्ता के कारण, संकोचवश या ओझा परम्परा के रौब के कारण, या "वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः" के शिष्टाचार के कारण कोई स्पष्ट न कहते हों।

१. यदि समूचा वेद अदिति पृथिवी के आधार पर ही अपना चिन्तन प्रस्तुत करता है, तो क्या इसमें समस्त ज्ञेय आ सका होगा? इस "तथाकथित" पृथिवी के बाहर भी तो विराट् ब्रह्माण्ड फैला पड़ा है। हमारी अपनी आकाश गंगा ही इतनी विस्तृत और पेचीदा है कि वैज्ञानिक उसका पार, अपनी सूक्ष्मेक्षिका और सूक्ष्मोपकरणों के बावजूद, शायद कभी

नहीं पा सकेंगे। इसी नीहारिका में अगणित नक्षत्र हैं। उन नक्षत्रों में हमारा यह सूर्य नक्षत्र तो एक बहुत ही छोटा सा, टिमटिमाता हुआ दीपक है, या उससे भी नाचीज, एक जुगनू है। इस लघु, अतिलघु नक्षत्र के अनेक बड़े बड़े ग्रह हैं। उनमें इस भूपिंड का स्थान आकार और भार की दृष्टि से काफी बाद में आता है। अब तनिक सोचें, अपनी इस नीहारिका में इस भूपिंड, और इसके उपग्रह की बिसात ही क्या है।

फिर ब्रह्माण्ड में अपनी आकाश गंगा नीहारिका जैसी, करोड़ों अरबों नीहारिकाएँ होगी। वैज्ञानिक तो शायद, हमारे इस "अण्ड" को भी भले ही इसे "ब्रह्म का अण्ड" जैसी शानदार संज्ञा दी गई हो, सृष्टि की सीमा न मानें क्योंकि ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड इस सृष्टि में होने चाहिए।

इतनी विराट् सृष्टि के विराट् ज्ञान को अपने छोटे से इस सूर्य के एक छोटे से नाचीज ग्रह के परिप्रेक्ष्य में ही समेट पाना हम मनुष्यों की विवशता है क्योंकि हम तो अपने सीमित, प्रत्यक्ष, अनुभवागत ज्ञान से ही अनन्त अज्ञात अज्ञेय का अनुमान कर सकते हैं। अत: हमारी शब्दावली हमारे अपने सीमित परिप्रेक्ष्य की ही साक्षात् बोधिका हो सकती है। और इस शब्दावली को ही विराट् सृष्टि के अनन्त ज्ञान को अपने "अनुमान" की कोटि में खींच लाने के लिये प्रयुक्त करना भी हमारी एक विवशता या सीमा है। अत: यहीं प्राचीन वैदिक ऋषियों की मेधा को प्रणाम करना पड़ता है जिन्होंने "सर्वाणि नामान्य आरव्यात जानि" कहकर सीमित शान्त अर्थ वाली मानुषी वाक् को असीम अनन्त, अभिप्रायों का "अनुमान" करने का साधन भी बना लिया। वेदवाक् की यौगिकता से अनन्त, अज्ञात सृष्टि का अनन्त ज्ञान, "अनुमान" कोटि में आ जाता है, तो योगरुढ़िता से वही शब्दावली हमारे अर्धज्ञात, सीमित ज्ञान क्षितिज को भी माप सकती है, और रुढिता से उसी शब्दावली से हम अपना लोक व्यवहार भी चला सकते हैं।

२. अत श्री ओझा परम्परा की अदिति अथवा पृथिवी को कुछ लचीलेपन के साथ क्या कुछ इस प्रकार नहीं समझाया जा सकता? प्रत्येक सक्रिय-जीवित पदार्थ अपने किसी आकर्षण केन्द्र के साथा आकर्षण में बंधा हुआ स्थित है, चाहे हमारा यह भूपिंड हो, हमारा उपग्रह चन्द्रमा हो, चाहे, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनिश्चर, आदि अन्य ग्रह हों, उन ग्रहों के उपग्रह चन्द्रमा हों, चाहे स्वयं हमारा यह सूर्य नक्षत्र हो जो अपने नीहारिका - केन्द का एक अतिसाधारण ग्रह मात्र है, चाहे अपनी काश गंगा के अन्यान्य नक्षत्र हों जो अपने ग्रहोपग्रह मंडलों के साथ इस नीहारिका केन्द्र की परिक्रमा कर रहे हैं। सर्वत्र, पारस्परिक आकर्षण विकर्षण सम्बन्ध प्रकान्त है। प्राणि समाज में भी यही आकर्षण विकर्षण सामाजिक सम्बन्धों का अधार है। अत: क्या अदिति - पृथिवि (अर्थात् पृथुमती) को पदार्थ

मात्र का आकर्षण मंडल अथवा यशोमंडल या ज्योतिर्वलय नहीं कहा जा सकता ? जितनी भी वस्तुएँ हैं उन सबकी अपनी अपनी अदितियाँ - पृथिवियाँ है जिनमें त्रिवृत, पंचदश, एकविंश स्तोम रूप रोदसी त्रिलोकी, और त्रिणव, त्रयस्त्रिंशत् आदि ४८ वें स्तोम तक, आगे क्रंदसी, और संयती त्रिलोकी की कल्पना समझ लेनी होगी । इस प्रकार जिस भी पदार्थ की दृष्टि से विचार करेंगे, उसके प्रसंग से अदिति या पृथिवि की कल्पना समझ लेनी चाहिए। चन्द्रमा एक पिंड है, उसकी अपनी अदिति-पृथिवी है । सूर्य भी एक पदार्थ है, उसकी भी अपनी एक अदिति-पृथिवी है । बृहस्पति ग्रह की दृष्टि में उसकी अपनी पृथिवी है । ये सब अंसख्य पृथिवियाँ इस विराट् आकाश में वितत हैं, और एक की पृथिवी अन्यों की पृथिवियों पर आरुढ़ है। प्रत्येक पृथिवि अन्यों की सीमाओं को काट रही है। इस परस्परारोह भाव के कारण ही सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ, एक एक कण, एक एक तरंग, प्रत्येक अणु परमाणु परस्पर संबद्ध है, जिस आजकल भाषा में Holism या Ecological Synthesis कहते हैं ।

अत: वेद में जब अदिति पृथिवि का वर्णन मिले तो उसे झटसे अपने इस भूपिंड पर घटा लेने को मन झटके से तैयार हो जाता है । कुछ दूर तक तो कुछ वर्णन भूपिंड पर घटता सा लगता है, पर साथ ही ऐसे भी शब्द आते जाते हैं, जो या तो अतिशयोक्ति प्रतीत होते है, या जैसे तैसे, वैयाकरणों को खींचतान करके, भूपिंड के साथ अगत्या उनकी संगति झूठ मूठ मानकर काम चलाना पड़ता है। ऐसे अनुवादों या भाष्यों से सामान्य पाठक भी आश्वस्त नहीं हो पाता है और पुस्तक को परे पटक देता है ।

तो, वेदार्थ की समस्या बड़ी विकट है। प्रसिद्ध अथर्ववेदीय पृथिवी सूक्त की प्रथमा ऋक् ही एक कठिन पहेली बनकर सामने खड़ी हो जाती है और भाष्यकार को अपनी चुनौती से बौना बना देती है । पृथिवी को धारण करने वाले "सत्य" को बूझ भी लें, तो उसकी "बृहत्"-ता क्या है ? "ऋत्" को कहीं "फिट" कर भी दें तोत उसकी "उग्र" ता क्या है ? सत्य, ऋत्, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ- इनके इस क्रम का स्वारस्य क्या है । "दीक्षा तप:" के क्रम को उलटकर, अन्यत्र, अथर्ववेद में ही "तपो दीक्षा" के क्रम को ऋषियों की "उप-नि-षद्" बताया गया है । उसंको कैसे समझेंगे ? पृथिवी के धारक तो अन्य भी अनेक पदार्थ /धृ धातु या /धा धातु के पदप्रयोगों द्वारा इसी सूक्त में बताए गए हैं । उनसे, इन छह धारक पदार्थों का क्या धृति- या धातृ भेद है ? यो धारक पदार्थ छह ही क्योंकि हैं, पांच, या सात क्यों नहीं ? इत्यादि, इत्यादि, ढेरों प्रश्नों का समाधान यदि किसी "भाष्य" नामधारी ग्रंथ से नहीं होता तो वह भाष्य किस काम का ? वस्तुतः पृथिवी सूक्त के प्रथम मंत्र का समाधान कारक भाष्य तब तक नहीं हो सकता जब तक उसमें पठित विशिष्ट १७ पदों के समूचे, वैदिक वाङ्मय में समागत, संदर्भों का अध्ययन करके, उन पदों की अर्थच्छटाओं

को पहचान नहीं लिया जाता। ऐसा "भाष्य" कोई करने बैठे तो अपने जीवन में कोई भी विद्वान् ४०-५० मंत्रों से अधिक का भाष्य नहीं कर सकेगा।

शायद ऐसी ही विराट् समस्याओं से सामना होने पर श्री ओझा वैदिक परिभाषाओं के ऊहापोह में लग गए होंगे, बजाय एक सिरे से वेदभाष्य रचने के।

३. वैदिक परिभाषाओं पर जब विचार करते हैं तो अपने चिन्तन का दायरा वेदेतर वाड्मय तक फैलाना पड़ता है। श्री ओझा को ऐसा करना पड़ा। समाज में, कोई भी अभिनव चिन्तन सहसा, आसमान में नहीं टपक पड़ता है। अपने से पूर्ववर्ती चिन्तन में उसकी पीठिका अवश्य होती है। पूर्ववर्ती चिन्तन पश्चाद्वर्ती चिन्तन का जनक होता है। वैदिक चिन्तन ने इस देश के सारे वाड्मय को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है। तथाकथित अ-वैदिक चिन्तन, जैसे - जैन, बौद्ध भी वेद की पीठिका से जुड़े हुए हैं। मनु का "सर्व" वेद से ही प्रसिद्ध है। अत: वैदिक परिभाषाओं के, अब लुप्त हो चुके अभिप्रायों का पुनर. अन्वेषण करने में वेदेतर वाड्मय से महती सहायता मिल सकती हैं। श्री ओझा ने यह सहायता ली। पुराण, आदि से समुद्रवसना पृथिवि के बारे में अनेक कथन मिलते हैं। वैसे तो वे गपोड़े लगते हैं। पर जग उनसे मिलते जलते कथन वेद में भी मिल जाते हैं तो यह आवश्यक प्रतीत होने लगता है कि "इतिहास पुराणद्वय से वेद का समुपबृंहण किया जाए", न कि हम अपने अल्पश्रुतत्व से वेद का प्रहार करने लगें।

४. अत: श्री ओझा परम्परा के वेदानुशीलकों के समक्ष सबसे प्रथम कार्य अब यह है कि श्री ओझा के, वैदिक परिभाषाओं के अर्थ निर्धारण कार्य को आगे बढ़ाया जाए। अनेक परिभाषाएं ऐसी भी हो सकती हैं जिनकी श्री ओझा के वाड्मय में कोई चर्चा नहीं हो। जिन परिभाषाओं पर श्री ओझा ने प्रकाश डाला है, उन परिभाषाओं के समस्त वैदिक संदर्भों का पुनरवलोकन करके श्री ओझा द्वारा निर्धारित अर्थच्छटाओं को प्रमाण पुष्ट करने की तत्काल आवश्यकता है ताकि वैदिक विद्वान् उन्हें कल्पनाप्रसूत आकाश कुसुम मात्र मानने के लिए अपने को विवश न समझें, जैसा कि आजकल कई विद्वान् कहने लगे हैं। तीसरे, श्री ओझा से अनेक संदर्भ विचार कोटि में आने से छूट गए हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, अदिति के बारे में, "ब्राह्मण" ग्रन्थों के अनेक आख्यान और संदर्भ ऐसे हैं जिनकी चर्चा अदिति के विवेचन में श्री ओझा नहीं करते।

जैसे, तैत्तरीय संहिता (४.७.९.१) "पृथिवी च मे अदितिश्च में" कहकर पृथिवी और अदिति में भेद करती है। काटकसंहिता (१.११) ने, ध्रुवा स्रुक् को पृथिवी का प्रतिनिधि मानकर, पृथिवी, के अतिरिक्त शेष लोकद्वय (द्यौ और अन्तरिक्ष) को और वायु को "अच्छिन्नपत्रा अदिति" कहा है। यह संहिता (५.१) अदिति के लिये इज्या का फल प्रतिष्ठा

की आप्ति बताती है। सोमयाग की प्रायणीया और उदयनीया दृष्टि -द्रय में अदिति, यद्यपि ध्रुवा भू-प्रतिष्ठा है पर ऊर्ध्वा दिक् से संबद्ध है जो कि सूर्यनिरपेक्ष, एक तटस्थ दिक् है, न कि ध्रुवा दिक् से। पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम, सविता, ये सब आज्य पाकर दिग्ज्ञान कराते हैं, तो अदिति अन्न पाकर। और यह अन्न, शतपथि के अनुसार है - अग्नि, वायु, आदित्य, यह अग्निविकारत्रयः वेदत्रय, छन्द, यज्ञ, प्रजा, पशु। ये सब, अर्थात् सारी सृष्टि अदिति का अन्न या भोग है। अन्नाद अदिति, शतपथ के अनुसार, मृत्यु ही है, अशनाया या क्षुधा जिसका स्वरुप है। राजसूय में महिषी का "धेनु अदिति" की प्रतिनिधि होना और अदिति का चरुभाक् होना भी अदिति के अन्नाद पक्ष से संगत है। यज्ञिया गौ के दस प्रसिद्ध विशेषणों में से एक "अदिति" है। अश्वमेध की एक सहस्र दक्षिणा गौओं में हजारवीं "अनुस्तरणी" गौ वाक् होती हुई अदिति है। पर अदिति अश्व भी है जैसा कि अश्वमेध के यज्ञिय पशु, अश्व के शिरोभाग की देवता अदिति को मानने से सूचित है। वैदिक वाङ्मय में संभवतः केवल शतपथब्राह्मण दिति के निषेध के रूप में अदिति को ग्रहण करता है और अदिति को स्व से, तो दिति को अरण से समीकृत करता है। अग्निचिति के प्रसंग से, अदिति त्रिवृत् स्तोम द्वारा पितरों का सर्जन करती हुई, उनकी अधिपत्नी कहलाई है। स्त्रष्टा अपनी सृष्टि का अधिपति-या अधिपत्नी - यदि है तो क्या केवल "पत्नी" का "अधि-पत्नी" से भेद समझना चाहिए, क्योंकि अश्वमेध के ही प्रकरण में, अदिति विष्णुपत्नी भी है। उधर वह पुनर्वसू नक्षत्रद्वय की देवता के रूप में अनर्वा (सनातनी) है और "एवा" (आगमनशीला) है। इन, और ऐसे अन्यान्य सब अदिति सन्दर्भों को विचारते हुए, अदिति के संपूर्ण स्वरुप का विवेच[illegible] श्री ओझा परम्परा के विद्वान् प्रस्तुत करेंगे तभी श्री ओझा के द्वारा गृहीत अदिति स्वरुप की परीक्षा अन्य विद्वान् करके श्री ओझा के, वेदार्थ को अवदान का मूल्यांकन कर पायेंगे। यही स्थिति अन्य सब वैदिक परिभाषाओं की है।

इन पंक्तियों के अकिंचन लेखक का जिस संस्था, वेद संस्थान से संबंध है, वहाँ वैदिक परिभाषाओं की अर्थच्छटाओं का निर्धारण करके एक कोश बनाने का कार्य चल रहा है। सर्वप्रथम, "निघण्टु" में समाम्नात पदों को विवेचनार्थ लिया गया है। हिरण्य, उषा, अश्व, मनुष्य, धन, गौ के पर्यायों पर कार्य होने के पश्चात् अब मेघ, वज्र, गृह, प्रजा, यज्ञ के पर्यायों पर कार्य चालू है। शेष ६० पर्याय सूचियों का कार्य विद्वान् अपने अपने स्थान और स्तर पर यदि हाथ में ले लें और अपने शोधच्छात्रों से कराएं तो यह श्री ओझा के वेदकार्य के प्रति वास्तविक और सक्रिय श्रद्धांजलि होगी।

साथ ही, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान से प्रकाशित "ब्राह्मणोद्धार कोश" और "उपनिषदुद्धार कोश" में आए हुए लगभग ५,००० पारिभाषिक पदों का भी संदर्भ,

अर्थात्, याज्ञिक परिप्रेक्ष्य में, अध्ययन करके उनकी अर्थच्छटाओं का निर्धारण करने का विराट् कार्य भी अवश्यकरणीय है।

इसी के साथ, तीसरा और सर्वाधिक तात्कालिक महत्व का एक कार्य यह भी है कि अग्न्याधेय से लेकर अश्वमेध और नाना सत्रयागों पर्यन्त प्रत्येक यज्ञ का प्रक्रिया पक्ष ओर उसका रहस्यविवेचन, दोनों का व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाए जैसाकि पंक्तियों के लेखक ने छह हविर्यज्ञों के प्रसंग में लगभग १७-१८ वर्ष पूर्व किया था।

अब समय है कि राजस्थान के किसी विश्वविद्यालय में श्री ओझा की स्मृति में वेद पीठ की स्थापना की जाए ताकि राजस्थान को अपनी कर्मभूमि बनाने वाले इस अप्रतिम विद्वान् की पावन - स्मृति को उनकी वेदनिष्ठा के अनुरुप सुचिरस्थायिनी किया जा सके। यह उनका सच्चा श्राद्ध कर्म होगा।

अन्त में, अन्तर्यामी से यह विनति है कि वे हम सब वेदानुशीलकों को पथिकृत् श्री ओझा के वेदकार्य को आगे बढ़ाने का उत्साह और सामर्थ्य प्रदान करें, क्योंकि, जैसी कि "महाभारत" की उक्ति है, ज्ञान वही पुख्ता है जो क्रियान्वित भी हो, "यः क्रियावान् स पण्डितः"

मधुसूदन ओझा की इतिहास दृष्टि

कलानाथ शास्त्री, जयपुर

इस बात पर पिछली एक सदी से बहुत शास्त्रार्थ हुए हैं कि वेदों में इतिहास है या नहीं। वेदों में इन्द्र के द्वारा पुरों का भेदन, सुदास आदि राजाओं के युद्ध आदि अनेक घटनाएँ वर्णित हैं। क्या वह इतिवृत्तात्मक घटनाओं का उल्लेख है ? लगता तो यही है। हम वेदों को अनादि और अपौरुषेय मानते हैं। वे ईश्वर की वाणी हैं और नित्य हैं। "नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा"। यदि यह मानें कि उनमें कोई घटनाएँ वर्णित हैं तो यह सिद्ध होगा कि इस वर्णन से पहले कुछ घटनाएं हुई थीं अर्थात् यह ऋचाएँ उन घटनाओं के बाद की हैं तो फिर वेद अनादि कैसे हुए ? इस दृष्टि से वेदों में इतिहास मानते ही ईश्वरकर्तृत्व और स्वयंभूत्व स्वतः खण्डित हो जाता है। बहुत से मनीषियों ने उसे एक दृष्टि से पौरुषेय माना है, कुछ ने अनादि नहीं माना है। उनके मत में तो इतिहास होना वेदों में संगत बैठ जाता है। कणाद ने कहा है, "बुद्धि - पूर्वा वाक्य- कृतिर्वेदे, "ब्राह्मणेषु संज्ञाकर्म सिद्धिलिंगम्"। जब हम ब्राह्मणों को भी वेद मानते हैं और वे ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि नामों से ऋषियों द्वारा निर्मित बताये गये हैं तो स्वतः वे ऋषिकर्तृक हुए न। किन्तु हमारी परम्परा तो उन्हें अनादि और अपौरुषेय मानती है। फिर उनमें इतिहास कैसे बताया जा सकता है ? या तो उन्हें अपौरुषेय ही मान लो या उनमें से इतिहास निकाल लो। इस गुत्थी को सुलझाना बड़ा कठिन है।

आर्य समाजियों ने, जो वेदों को अनादि और ईश्वर की प्रथम वाणी मानते हैं, जोर देकर यह सिद्ध किया है कि वेदों में इतिहास बिल्कुल नहीं है। इन्द्र का, सुदास् आदि राजाओं का जो उल्लेख है, वह देवताओं का, ईश्वर का या विभिन्न वैज्ञानिक तत्त्वों का प्रतीकात्मक वर्णन है, इतिहास नहीं। महर्षि दयानन्द ने इसका पूरा विवेचन करते हुए यहां तक सिद्ध किया है कि गंगा यमुना आदि का जो उल्लेख है वह भी नदियों के नाम नहीं है अल्कि इळा-पिंगला आदि नाडियों के नाम हैं। किन्तु इन्द्र आदि के अनेक पराक्रम वर्णन तथा वेदों के अन्य अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें इतिहास माने बिना काम नहीं चलता। इस पर विद्वानों ने बहुत विचार मंथन किया है और गुत्थी को सुलझाने के अनेक मार्ग निकाले हैं। हजारों पृष्ठ इस पर लिखे गये हैं। स्वयं महर्षि जैमिनि को यह द्वन्द्व खला था। वे यह मानने के बहुत पक्षधर हैं कि वेद नित्य हैं, अतः उनमें मनुष्य-चरित्र का उल्लेख नहीं है। पर

कहीं राजाओं आदि के नाम पाये जाते हैं तो वह क्या हैं ? वे कहते हैं, वह अलग ही चीज है। किसी का नाम सूर्य नारायण हो तो वह सूर्य थोड़े ही हो गया। उनके दो सूत्र बहुचर्चित हैं – पूर्व पक्ष का "अनित्यदर्शनाच्च" और सिद्धान्त का "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्"। वेदों के भाष्यकार इन दोनों मार्गों के बीच भटकते रहे हैं। शबरस्वामी ने कहा है बबरः प्रावाहणिः आदि नाम जहाँ दिखलायी दें उन्हें वायु आदि तत्त्वों का वाचक मानो। बबर, किसी का नाम नहीं है ब-ब करके बहने वाली वायु का नाम है। सायण ने भी वेदों को नित्य माना है पर भाष्य करते हुए अंगिरा को केवल तत्व न मानकर ऋषि (वंशपुरुष) भी मान लिया है। इन गुत्थियों को सुलझाने का एक मार्ग तो यह निकाला गया कि किसी अन्य कल्प में ये नाम और घटनाएं रही होंगी, उनका उल्लेख अब किया गया है। किन्तु इससे भी वेदों का अनादित्व खण्डित हो जाता है। दूसरा बुद्धिमत्तापूर्ण और दिलचस्प समाधान यह निकाला गया कि ईश्वर त्रिकालदर्शी होता है। इसलिए उसने भविष्य की बातें पहले से ही बता दी थीं। वही इतिहास वेदों में है। याने वह भूतकाल नहीं, भविष्यत् काल है। म.म.पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी आदि विद्वानों ने इसी प्रकार के समाधान करते हुए परम्परा और शोध दृष्टि, दोनों में समन्वय किया है। किसी न किसी प्रकार का समन्वय किये बिना मार्ग नहीं निकल सकता। वेदों में भूतकाल जगह जगह पर है किन्तु आर्य समाजी विद्वान् उसे वर्तमान काल मानते हैं। भाष्यकार स्कन्धस्वामी भी ऐसा मानते हैं। श्री पाद दामोदर सातवलेकर प्रथमतः आर्य समाज के भी मान्य विद्वान थे। उन्होंने वेदों में इतिवृत्त का विवेचन कर दिया। इस पर जयदेव विद्यालंकार आदि विद्वानों के उनके खण्डन पर अनेक ग्रंथ लिखे।

शोधक की दृष्टि :

इस गुत्थी को सुलझाने के लिए ओझा जी ने क्या मार्ग अपनाया यह देखने पर उनकी प्रतिभा का कायल हुए बिना नहीं रहा जा सकता। उन्होंने इस प्रसंग में पूर्णतः शोधात्मक और वैज्ञानिक दृष्टि अपनाई है। यह सर्वविदित है कि उनका बहुत बड़ा अवदान है वेदों में विज्ञान की स्थापना तथा इस बात का सुसंगत विवेचन कि वेद के भृगु अंगिरा आदि ऋषि नाम तथा मित्र, वरुण आदि देव नाम वैज्ञानिक तत्वों के प्रतीक हैं। उन्होंने इसका सुसंबद्ध शास्त्र संकलित कर एक नया युग ही शुरू कर दिया था। इन्द्र आदि देवों एवं अन्य नामों तथा गंगा यमुना आदि नदियों को वैज्ञानिक तत्व बताने वाले स्वामी दयानन्द यदि यह सब देखते तो हर्षित हुये बिना नहीं रहते। मधुसूदन जी ने जब अध्ययन शुरू किया उसी के आस पास दयानन्द का निधन हो गया। दोनों के समय में इतना सा ही अन्तर है। ओझा जी ने जिस प्रकार विज्ञान की स्थापना करके वेदों की व्याख्या को नई दिशा दी उसी प्रकार इतिहास की स्थापना करके भी एक नया मार्ग निकाला। पं. गिरिधर

शर्मा ने उनके दो अवदान माने हैं, विज्ञान की स्थापना और इतिहास की स्थापना। विज्ञान की स्थापना की जितनी चर्चा हुई उतनी इतिहास दृष्टि के बारे में नहीं हो पाई। उसे यदि देखा जाए तो मधुसूदन जी का कृतित्व उसमें भी उतना ही अद्भुत सिद्ध होगा।

संभवत: इतिहास दृष्टि को वेद व्याख्यान, में समायोजित करने के फलस्वरूप ही उन्होंने वेद के अपौरुषेयत्व पर भी अनेक पक्ष विवेचित किये। शारीरक विमर्श में इस प्रकार के ४२ पक्ष उन्होंने बताये हैं और सबका समन्वय किया है। वे कहते हैं कि वेद स्वयं ईश्वर हैं क्योंकि ईश्वर ज्ञान रूप है। दूसरी ओर वेद ईश्वर प्रणीत भी है। इसी प्रकार ऋषि प्राणों के या तत्वों के वाचक हैं। भृगु, अंगिरा आदि ऋषि विभिन्न तत्वों के स्वरूप तो उन्होंने बतायें ही हैं, उन तत्वों के विवेचक महर्षियों का नाम भी उन्हीं पर पड़ा इसलिए ये ऋषि नाम भी है यह भी उन्होंने माना है। इस प्रकार का व्यापक मार्ग सर्वत्र अपनाने के कारण उन्होंने दोनों पक्षों का भलीभांति समन्वय स्थापित कर दिया है। ठीक यही दृष्टि उन्होंने इतिहास वाली गुत्थी के लिये भी अपनाई है। उन्होंने इन्द्र वरुण आदि को वैज्ञानिक तत्व मानकर जो विस्तृत विवेचन किया है उनके साथ वे ये भी नहीं भूले हैं कि ये देवों के नाम भी थे। वेदों का आधुनिक अध्येता पाश्चात्य विद्वानों के विवेचनों को पढ़कर यह जान जाता है कि इन्द्र के बारें में किस किस प्रकार के वर्णन आते हैं। इन्द्र के लिये सैकड़ों सूक्त में ऋग्वेद में हैं। उनमें "वृत्र नामक असुर (जो ड्रेगन के रूप में वर्णित है) का उसने संहार किया, पर्वतों के पंख काटे, ये सब वर्णन आते हैं। मधुसूदन जी ने इन्द्र और वृत्र को वैज्ञानिक तत्वों रूप में तो विवेचित किया ही किन्तु यह भी सोचा कि क्या ये सारे वर्णन वैज्ञानिक तत्वों के प्रतीकों के रूप में घटाये जा सकते हैं? कुछ अतिवादी विद्वानों ने शायद ऐसा किया हो किन्तु ऐसा सर्वत्र संभव नहीं है। जो वेदों में इतिहास बिल्कुल नहीं मानते उनकी समस्याएं इसी से बढ़ती है। किन्तु मधुसूदन जी तो वेदों के साथ साथ पुराणों को भी प्रामाणिक मानते थे। आर्य समाजियों की तरह उन्हें कल्पित नहीं मानते थे। उनमें इतिहास स्पष्ट विवेचित है और यह भी कहा मिलता है — "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं"। इस दृष्टि से उन्होंने इन सबका समन्वय करते हुए वेदों से संकेतित इतिहास को पूरी तरह आद्योपान्त वर्णित करके इस तरह फैला दिया कि अध्येता को कोई कोई असंगति नहीं लगे। वे इन्द्र आदि देवतओं को वैज्ञानिक तत्वों के प्रतीक मानते हुए भी यह स्पष्ट करते हैं कि उसी प्रकार के नाम वाले देव भी थे। उनका इतिहास वेदों में वर्णित है। यहाँ आकर जैमिनीय सूत्र "परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम्" सुसंगत रूप से समझ में आ जाता है। उन्होंने इन्द्रविजय ग्रंथ में यही ऐतिहासिक कार्य किया है कि वेदों में वर्णित सभी सूक्तों तथा ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर आर्यो का सुसंगत इतिहास वर्णित कर अध्येता के लिए पूरा शास्त्र बना दिया है।

इन्द्र और वरुण :

वेदों में इन्द्र और वरुण मित्रवरुण आदि देवों तथा द्यावापृथिवी आदि के बारे में विभिन्न प्रकार की मान्यताएं विभिन्न ऋचाओं में मिलती हैं। इन्द्र और वरुण दोनों को राजा, सम्राट् कहा गया है। कहीं इन्द्र को स्वाराट् कहा गया है, कहीं वरुण को। कहीं इन्हें सम्राट् बताया गया है। वरुण अप् भी हैं, अग्नि भी। अग्नि वसुओं के वायु रुद्रों के और इन्द्र आदित्यों के माध्यम से पृथवी अंतरिक्ष व द्यौ में क्रमण करते हैं। यह भी कहा है कि इन्द्र, मरुत, रुद्र और आदित्यों से क्रमण करता है। यह भी कि वरुण अप से व आदित्यों से। कहीं वरुण को द्युस्थानीय दवता बताया है, कहीं इन्द्र को। वैसे इन्द्र को अंतरिक्ष स्थानीय देवता भी माना जाता है, इस दृष्टि से ये देव प्राण हुए। पर इनके आख्यान भी हैं, जिनमें इन्द्राणी भी है, वरुणानी भी। तब क्या ये इतिहासचरित्र नहीं। इन सब गुत्थियों का समाधान ओझा जी ने एक इतिहास के सूत्र के बांध कर कर दिया है। उनके मत में बाहलीक के जरदृष्टि नामक ऋषि जो ऋजाश्च ऋषि का पुत्र था। वरुण समर्थक था। उसने असुर धर्म स्वीकार कर लिया और सुरों का विरोधी हो गया। इससे उठे झगड़ो के आख्यानों द्वारा उन्होंने बताया है कि किस प्रकार असुरों ने सुरा बनाई और एक यज्ञ किया जिसमें देवताओं का बुलाया। इन्द्र को सुरा की आहुति दी गई जो इन्द्र ने स्वीकार की। इस पर इन्द्राणी भी क्रुद्ध हुई, अन्य देवता भी। वहाँ ऋषियों में इन्द्र और वरुण के पारस्परिक महत्व पर जो वाद विवाद हुआ उसमें द्यावापृथिवी के (जिन्हें ओझाजी ने रोदसी, क्रंदसी तथा संयती तीन स्तरों पर बताया है) देवताओं का महत्व विवेचित करते हुए इन्द्र और वरुण दोनों के दावे पेश किए गए। ओझाजी ने इस प्रकार संगति बिठाई कि जो ऋचाएं परस्पर विरोधी लगती हैं वे ऋषियों द्वारा इन्द्र के या वरुण के आपेक्षिक महत्व को बताने वाली हैं। अन्त में यह तय हुआ कि इन्द्र स्वाराट् है, वरुण सम्राट्। अब चूंकि रोदसी, क्रंदसी और संयती तीनों में द्यावा पृथिवी हैं अत: इन तीनों में इन्द्र और वरुण के साम्राज्य तथा रूप विभाजित हो जाते हैं और विभेद समाहित। ओझाजी ने इनका विज्ञान विस्तार से बताकर सारी गुत्थियाँ सुलझा दी हैं। इस प्रकार इन्द्र और वरुण दो पृथक् पृथक् विभागों के स्वामी हुए। वैज्ञानिक तत्व के रूप में जिस प्रकार मित्र ओर वरुण सौरमंडल के अर्थ कपालों या खगोल के दो भागों का प्रतिनिधित्व करते हैं उसी प्रकार ऐतिहासिक नायकों के रूप में इन्द्र और वरुण भूगोल के दो भागों के स्वामी बतला दिये गये हैं। ओझाजी के मत में भारत की सीमा वेदकाल में बहुत विशाल थी। इसके पश्चिम (सिंधु नदी से लोहित समुद्र तक के) भाग का स्वामी वरुण हुआ, पूर्व भाग का (सिंधु से फार्मोसा तक) इन्द्र। इस प्रकार के इतिहास के ताने-बाने से अध्येता को सभी समस्याओं

का समाधान मिल जाता है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मित्र और वरुण की जोड़ी केवल आधिदैविक स्तर पर हैं, देवतत्त्व हैं जबकि इन्द्र और वरुण इतिहास के चरित्र भी हैं।

ओझाजी ने देव, असुर, मनुष्य आदि का स्वरूप तथा देवासुर संग्राम का रहस्य बताते हुए इस प्रकार के सूत्र दे दिये हैं जिनसे सभी वैदिक उल्लेख स्पष्ट हो जाएं। जिस प्रकार उन्होंने आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीन विभा द्वारा त्रैलोक्य को समझाया है जिसे दिव्य, भौम ओर शारीर कहा है, तीनों की पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ के स्वामी अग्नि, वायु और इन्द्र को बताया है, उसी प्रकार देवासुरों का भी विभाजन किया है। उनके सूत्र हैं —

अखिला नराः पुरात्वे त्रेधा भिन्नाः प्रधानतो ह्यभवन्।
देवा अथ च मनुष्या देवविरोधात् त्वदेवाश्च।
अत्युन्नतविज्ञानाः प्रभाववन्तोऽभवन् देवाः।
विज्ञान दुर्बला अपि बहुलप्रज्ञा महाबला असुराः।
साधारणी तु जनता मनुष्य नाम्ना प्रतीताऽसीत्।
तत्रादेवा आसन् दानव दैत्याश्च दस्यवः पणयः।
अफ्रीकाद्या देशा दैत्यानां दानवानां च।
फीनीशिया पणीनां दस्यूनां हेमकूटाद्याः।
वेदग्रन्थे कथिताः समराः सर्वेऽपि पंचभेदाः स्युः।
देवानां तैः पणिभिर्दानवदैत्यैश्च दस्युभिश्चार्यैः।
देवाः सूर्ये दासैः, पणिभिर्गोष्वद्रिसोमकै दैत्यैः।
क्षित्यर्थे दानवकैरार्यैर्युर्युधुः प्रकीर्णविषयेषु।

इससे स्पष्ट होता है कि नरों से ही तीन विभाग थे— देव, मनुष्य ओर अदेव। अत्यन्त उत्कृष्ट मेधा और विज्ञान वाली जाति देव कही गई। उत्कृष्ट बुद्धि किन्तु कमजोर विज्ञान वाले असुर हुए जो बलशाली थे पर अदेव नहीं। अदेवों में चार प्रकार की जातियाँ थीं, दैत्य, दानव, दस्यु और पणि। वेदों में जो संग्राम वर्णित हैं, वे पणियों, दानवों, दैत्य, दस्युओं और आर्यों से हुए थे। आर्यों के युद्धों में राजाओं के युद्ध भी शामिल हैं। वे किस उद्देश्य से हुए थे, इन सबको स्पष्ट करते हुए सूर्य के लिए दासों से, गायों के लिये पणियों से, सोम के लिये दैत्यों से, भूमि के लिये दानवों से तथा अन्य कारणों से आपस में हुए युद्धों में ओझाजी ने इन्द्र द्वारा इन सब पर विजय का इतिहास वर्णित किया है। उसी प्रसंग से उसी भू-भाग से जिसे ओझा जी स्वर्ग कहते हैं इन्द्र को ऋषियों द्वारा बुलाया जाना, उसका भारत में आगमन, दस्युओं का निग्रह तथा उनका साथ देने वाले राजाओं पर विजय

आदि वर्णित है । इन इतिहासों में इन्द्र के वे सारे वर्णन, सैन्य अभियान आख्यान व सूक्त समाहित हो जाते हैं जिनसे अध्येता दिग्भ्रान्त हो जाते थे । इन्द्र और वृत्र के संग्राम को जहां आधिदैविक स्तर पर ओझाजी ने विज्ञान के तत्वों की अंत: क्रिया के रूप में समझाया हैं वही इतिहास के स्तर पर उसका पूरा आख्यान भी स्पष्ट किया है । वृत्र को नागवंशी राजा बताया है जिसने बड़ी बड़ी पहाड़ी चट्टानों से नदियों को रोककर बांध बना लिया था । इन्द्र ने उसे मारा, चट्टानों को तोड़ा जिससे नदियों का जल फिर बहने लगा । यही रहस्य है साँप के रूप में नागवंशी वृत्र के वैदिक वर्णन का तथा इन्द्र द्वारा पर्वतों के पंख काटने का । इसी प्रकार ऋग्वेद के दाशराज्ञ युद्ध के आख्यानों का समन्वय भी उन्होंने इन्द्र विजय में कर दिया है । सृंजय के पुत्र दिवोदास अतिथग्व को जब शंबरासुर ने सताया तो किस प्रकार इन्द्र ने महासमर में उसका वध करवाया और १०० पुरियों का नाश किया, इसका इतिहास वर्णित करते हुए उन्होंने इन्द्र के पुरंदर नाम, शंबरारि नाम आदि की सार्थकता बताते हुए युद्धों के आख्यान स्पष्ट किये हैं । इन्द्र का हिमालय पर शिविर, उसका स्वागत, हमला, विजय आदि की सैकड़ों ऋचाएं उन्होंने उद्धृत कर दी हैं ।

भूगोल :

इस इतिहास के प्रसंग में ही उन्होंने भूगोल का विस्तृत विवेचन किया है । उनकी मान्यता है कि पहले एशिया को ही भारत कहा जाता था । उसकी पश्चिम सीमा लोहित समुद्र (रेड-सी) तक थी और पूर्व सीमा फारमोसा तक । इससे अपने आप स्पष्ट हो जाता है कि आर्य भारतवासी थे, बाहर से नहीं आये क्योंकि अंग्रेज एशिया माइनर से आर्यो के आने का जो उल्लेख करते हैं वह भारत में ही सिद्ध हो जाता है । इन्द्र विजय में प्रत्येक भौगोलिक इकाई को अक्षांश देशांतर संदर्भो से (अंग्रेजी नक्शों के) उल्लिखित किया गया है । उन्होंने सीमा प्रसंग में १४ प्रमाणों से सिद्ध किया है कि भारत की इतनी विस्तृत सीमा उन्होंने किस आधार पर मानी है । बाद में १२ प्रमाणों से बतलाया है कि आज जिसे श्रीलंका या सीलोन कहा जाता है वह रावण की लंका नहीं थी । वह तो सिंहल द्वीप है । रावण की लंका लक्षद्वीप के आप पास एक बहुत बड़ा भू-भाग था जिसका अधिकांश अब समुद्र में डूब गया है । यही उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि लिपि का आविष्कार वेदकाल में ही हो गया था । हमारे यहां कितनी विद्याएं थीं यह बतलाते हुए उन्होंने प्राचीन भारत की वैज्ञानिक प्रतिभा का संकेत दिया है ।

इन प्रसंगों में उनकी कुछ स्थापनाएं बहुत महत्व की हैं जिन पर आज भी शोध किया जा सकता है । उदाहरणार्थ- यवन शब्द के लिये उनकी मान्यता है कि यह यूनानियों या मुसलमानों का ही वाचक नहीं है मूलत: यहूदियों के लिये प्रयुक्त होता था । बाद में

यूनानियों के लिए होने लगा और आजकल मुस्लिम आदि सभी के लिए चल रहा है। उनकी इस मान्यता को इसलिए आधार मिल जाता है कि उन्होंने यहूदी व यूनानी सभ्यताओं का जो समय बतलाया है वह उनकी लिपियों के इतिहासों व आधुनिक स्थापनाओं से बिल्कुल मेल खाता है। उन्होंने भारत में तीन सप्तनद माने हैं, पूर्व, पश्चिम और उत्तर। इनमें ऋचाओं के प्रमाण दिये हैं। इसी प्रकार सरयू नदी को उन्होंने केवल अयोध्या में न मानकर पश्चिम भारत में माना है। इसे परवर्ती शोधक भी मानते हैं। इसी प्रकार मद्र, बाल्हीक, पुष्कर आदि भौगोलिक स्थानों को उन्होंने सप्रमाण भारत की पश्चिम सीमाओं में उन स्थानों पर सिद्ध किया है जहाँ आज अरब, अफगानिस्तान आदि देश हैं। मद्र को वे मीडिया में, बाल्हीक को बलख में व पुष्कर को वे बुखारा में स्थापित करते हैं। सरस्वती को वे प्राचीन नदी मानते हैं जिसके किनारे अनेक वेधशालाएं वैज्ञानिक शोध करती थीं। हेमकूट सरोवर से निकली इस नदी के किनारे जो विज्ञानभवन बना था उसे सूर्यसदन कहा गया है। उसमें ऋषियों के वैज्ञानिक विमर्श चलते थे। उस पर दस्युओं के आक्रमण होते थे जिनका इन्द्र आदि प्रत्युत्तर देते थे। ऐसे प्रसंगों में इन्द्र की सेनाओं के अभियान का वर्णन ही वेद की ऋचाओं में मिलता है। इन्द्र के विजय के बाद ऋषियों द्वारा स्तुतियाँ की जाती थीं। ऋग्वेद के अनेक सूक्त जो विभिन्न ऋषियों ने लिखे हैं, इस प्रकार के इतिहास से संगत हो जाते हैं। इन सूक्तों में नामित विभावरी, सूनरी आदि उषाओं को सूर्यसदन की परिचारिकाओं के रूप में गिनाकर उनके सूक्तों की भी संगति बिठा दी गई है।

ओझा जी के इतिहास विवेचन की विशेषता यह है कि उनमें केवल वैदिक प्रसंगों से ही विभिन्न इतिहास सूत्रों का समर्थन नहीं किया गया है अपितु समस्त पौराणिक आख्यानों का भी उसमें भली भाँति समन्वय हो जाता है। वामदेव ने किस प्रकार मूर्तिपूजा प्रसारित की, इसका स्रोत भी वेद में बतलाते हैं। भूगोल व इतिहास के विवेचन में उन्होंने मत्स्य, मार्कण्डेय आदि प्राचीन पुराणों से लेकर श्रीमद्भागवत तक के आख्यानों व नामों का समन्वय कर दिखाया है। इन सब पर पृथक् पृथक् विवेचन की आवश्यकता है और प्रत्येक सन्दर्भ पर एक एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। यहाँ अत्यन्त सूत्रात्मक प्रतीकों द्वारा उसका संकेत मात्र दिया गया है।

त्रैलोक्य - व्यवस्था

शिव चरण गर्ग
प्राध्यापक संस्कृत
राजकीय महाविद्यालय
अजमेर ।

विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदनजी ओझा ने जिन वेद विषयक शताधिक ग्रन्थों की रचना की है, वे ग्रन्थ चार भागों में विभक्त हैं - यज्ञ, विज्ञान, इतिहास, प्रकीर्णक ।

उनके इतिहासविषयक ग्रन्थ दो प्रकार के हैं - एक स्वतन्त्र तथा दूसरे विज्ञान के प्रसंग से सम्बन्धित । उनका – "इन्द्र विजय" नामक ग्रन्थ विज्ञानेतिवृत्तवादविषयक है जो कि ऐतिहासिकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

विद्यावाचस्पतिजी ने इन्द्रविजय ग्रन्थ के भारत परिचयक्रमान्तर्गत त्रैलोक्य प्रसंग में निरूपित किया है कि श्रुति स्मृतियों में जिस स्वर्ग का उल्लेख मिलता है, वह स्वर्ग दो प्रकार का था । एक सूर्य मण्डल रूप द्युलोक स्वर्ग दूसरा भौम स्वर्ग । इन दोनों स्वर्गों में रहने वाले देवता दो प्रकार के हैं । सूर्य मण्डलस्थ देवता प्राणरूप हैं जो कि अमर व नित्य हैं । भूस्वर्गवासी देवता मनुष्यविध ही थे । हमारी अपेक्षा के कारण सामर्थ्य व विज्ञान का आधिक्य था । रामायण के अयोध्याकाण्ड में कैकेयी राजा दशरथ को उनके द्वारा देवासुर संग्राम में दिए गए दो वरदानों का स्मरण कराती हुई कहती है –

स्मर राजन् !पुरावृत्तं तस्मिन् देवासुरे रणे ।
तत्र त्वां च्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥
तत्र चापि मया देव यत् त्वं समभिरक्षितः ।
जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ ॥

लोकों के बीच में अन्तरिक्ष लोक है जो वायु का लोक कहलाता है । इन तीनों लोकों में आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा दो अश्विनी कुमार इस प्रकार ३३ देवता रहते हैं ।

शारीरिक त्रैलोक्य

शरीर में गुद प्रदेश और नाभि प्रदेश के बीच का भाग पृथिवी लोक माना जाता है । हृदय तथा कण्ठ के बीच का प्रदेश द्युलोक माना जाता है तथा इन दोनों के बीच का प्रदेश

अन्तरिक्ष है। प्रकारान्तर से शरीर त्रिलोकी में उदर प्रदेश पृथिवी लोक है जो कि अग्नि का लोक कहलाता है। वक्षःस्थल वायु लोक है तथा सिरोभाग द्युलोक है। अध्यात्म के देवता २कान, २ चक्षु, २ घ्राण तथा १ मुख इस शिरोभाग में ही रहते हैं। सारे प्राण इसी के अधीन हैं।

भौम त्रैलोक्य

दिव्य त्रिलोकी की तरह देव युग में अधिभूत त्रैलोक्य या भौम त्रिलोकी की भी व्यवस्था थी। भौम त्रिलोकी में जहां मनुष्य रहते थे उसे पृथिवीलोक माना जाता था। यक्ष, किन्नरगन्धर्वादि तिर्यक् योनिवाले प्राणी जहां रहते थे, उसे अन्तरिक्ष माना जाता था और जहां मानव देवता रहते थे, उसे द्युलोक माना जाता था।

दिव्य त्रिलोकी की तरह इस भौम त्रिलोकी में भी पृथिवी लोक का अधिपति अग्नि था, अन्तरिक्ष अग्नि था, अन्तरिक्ष का अधिपति वायु तथा द्युलोक का अधिपति इन्द्र था। ये तीनों ही क्रमशः इनके अध्यक्ष थे।

दक्षिण समुद्र से लेकर हिमालय तक पृथिवी लोक माना जाता था जो कि अग्नि लोक था। अल्तायी पर्वत से लेकर उत्तर समुद्र पर्यन्त द्युलोक अर्थात् इन्द्र का लोक माना जाता था। हिमालय से अल्तायी पर्वत तक का प्रदेश अन्तरिक्ष अर्थात् वायु का लोक माना जाता था। भारत वर्ष अग्नि का लोक्र, ऐरावत वर्ष इन्द्र का लोक तथा इन दोनों के बीच में वायु का लोक था।

भौम त्रिलोकी इस समय एशिया नाम से प्रसिद्ध है। वहां आज भी देवताओं तथा असुरों की सन्तान रहती है।

प्राचीन भौम त्रिलोकी का रूप एशिया देश में आज भी प्रतीत हो रहा है। हिन्दुस्तान और परिस्तान (ईरान) यह एशिया का दक्षिण भाग भौम त्रिलोकी का पृथिवी लोक था। चीन तथा तातार यह भौम त्रिलोकी का मध्यदेश अन्तरिक्ष था। दो प्रकार वेस रूस में जो उत्तर का रूस है वही भौम त्रिलोकी था दिव्य लोक था।

आज जितना रूस प्रदेश है वह प्राचीन कालमें भौम त्रिलोकी का स्वर्गलोक था। यह अपराजिता दिक् सायिबीरिया के नाम से प्रसिद्ध थी, जहां कि भौम देवता रहते थे। आज इस सायिबीरिया में प्रायः असभ्य जनता रहती है किन्तु पूर्णकाल में ऐसा नहीं था। सायिबीरिया के उत्तर प्रान्त में जो समुद्र तट था वह समुद्र प्रान्त आज गहरे हिम से आच्छादित है। आजकल जो —न्यू सायिबीरिया नाम से प्रसिद्ध देश है, पहले वहां नगर थे, बगीचे थे, भौम देवता रहते थे। वहां नाना वृक्षों से तथा बहुत से पशुओं से युक्त वन भी

था। वह देश हिमपात के कारण पूर्ण नष्ट हो गया। इसीलिए उसके किनारे पर समुद्र के गर्भ में कभी कभी मेमाथ नामक हाथियों के दांत तथा उसके अस्थि-पंजर मिलते हैं। मेमाथ नामक हाथी सवा छह हाथ ऊंचा होता था और पौने ग्यारह हाथ लम्बा होता था। सवा छह हाथ के उसके दो दांत होते थे। उसके दांत भैंसे के सींग की तरह टेढ़े होते थे। उसके शरीर पर ऊन की तरह काले बाल होते थे। आज कल ऐसा कोई हाथी नहीं मिलता है। मेमाथ नामक हाथी प्राचीन काल में था।इसी प्रकार दो ग्रीवा वाले तथा एक पेट वाले भेरुण्डनामक पक्षी भी यहाँ थे। इस प्रकार का कोई पक्षी आज नहीं मिलता। इसे इससे ज्ञात होता है कि उत्तर समुद्र के पास ऐसा वन था जो बहुत से पशुओं से युक्त था। उस सायिबीरिया स्थान में जो नगर थे, वहां भौम देवता रहते थे।

स्वर्गीय त्रिलोकी के विध्वंस में दैव की हेतुता

नाकस्थ (अन्तरिक्ष) विष्णु के चौरतरफ २४ अंश के व्यासार्ध से जो वृत्त बनता है, उस वृत्त पर प्राचीन युग में अभिजित् नक्षत्र पर ध्रुव (तारा) था। ध्रुव के नीचे के भू प्रदेश पर शैत्य बहुत अधिक होता है, इसलिए उत्तर समुद्र के तट प्रदेश पामीर देश में उस समय बहुत अधिक शैत्य था। यह ध्रुव तुषार (हिम) की वर्षा करता है और वहां के रहने वाले लोगों को नष्ट कर देता है। इसलिए तुषार वर्षा के कारण पामीरगत उत्तर कुरुदेश के खंड नष्ट हो गए।

इस प्रकार से प्राचीन काल में दिव्य त्रिलोकी भौम त्रिलोकी तथा शारीर त्रिलोकी भेद से तीन प्रकार की त्रिलोकी थी। विज्ञान-भाषा में यदि त्रिलोकी का प्रसंग है, तो वहां दिव्य त्रिलोकी का ग्रहण होता है। इतिहास में यदि त्रिलोकी का प्रसंग है तो वहां भौम त्रिलोकी का ग्रहण होता है। दिव्य त्रिलोकी में प्राणरूप दिव्य देवता रहते थे तथा भौम त्रिलोकी में भौम देवता। इस भौम त्रिलोकी में प्राणरूप दिव्य देवता रहते थे तथा भौम त्रिलोकी में भौम देवता। इस भौम त्रिलोकी में ब्रह्मा विद्या के द्वारा लोगों की शिक्षित करता था। इन्द्र वहां के लोगों का निग्रह व अनुग्रह के द्वारा शासन करता था। विष्णु यज्ञ सम्पत्ति से उनकी रक्षा करता था।

भारतवर्ष भौम त्रिलोकी के अन्तर्गत पृथिवी लोक है

प्राचीन काल में पृथिवी पर देवता जिस द्युलोक में रहते थे, वह उत्तर मेरू पर वर्तमान स्वर्ग कहलाता था। महाभारत के शान्तिपर्व में मोक्षधर्म में यही बात कही गयी है। भारद्वाज उवाच

"अस्माल्लोकात्परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते।

तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद्भवान् वक्तुमर्हति ।"

भृगुरुवाच — उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।

पुण्यः क्षेम्यश्च यो देशः स परो लोक उच्यते ॥

सः स्वर्गसदृशो देशस्तत्र युक्ताः शुभाः गुणाः ।

काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च ॥

पामीर से दक्षिण की ओर इरावती नदी के निर्गमस्थान पर्वत से उत्तर की तरफ का जो प्रदेश है वह भौम त्रिलोकी का अन्तरिक्ष लोक था। वहां देवयोनियां निवास करती थीं। विषुवद्वृत्त से उत्तर की तरफ तथा इरावती नदी के निर्गमस्थान पर्वत से दक्षिण की तरफ का देश भारतवर्ष है। यही भौम त्रिलोकी का पृथिवी लोक है। भारतवर्ष मानुष देश कहलाता है। यहाँ पर अग्निवंशीय, चन्द्रवंशीय तथा सूर्यवंशीय राजा राज्य करते थे। यह देश अन्न, धन, धेनु, आदि से बहुत समृद्ध था तथा अन्य देशों का मूर्धन्य देश कहलाता था।

इस प्रकार स्वर्गीय विद्यावाचस्पति ओझा जी महाराज ने यज्ञ, विज्ञान, इतिहास आदि सभी विषयों में अभिनव दृष्टि प्रस्तुत की है। इस संक्षिप्त लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि पुराणों व महाकविकालिदासादि द्वारा विरचित ग्रन्थों में भारतीय राजाओं का देवताओं की सहायता के लिए स्वर्ग में जाने का तथा असरों के साथ युद्धों का जो उल्लेख है, वह निरी कल्पना नहीं अपितु वास्तविक है। क्योंकि वहां स्वर्ग से भौम—स्वर्ग तथा देवताओं से भौम देवताओं का ग्रहण है न कि दिव्य स्वर्ग का तथा प्राणरूप दिव्य देवताओं का।

पं. मधुसूदन ओझा के अनुसार वैदिक - धर्म

डॉ. कृष्णलाल
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

यदि हम धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों द्वारा परिभाषित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध, दम आदि रूप तथा अभ्युदय और मोक्ष दिलाने के साधन रूप धर्म को पं. मधुसूदन ओझा द्वारा विवेचित वैदिक धर्म में ढूंढना चाहेंगे तो हमें निराश होना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि हम उनके द्वारा विवेचित वैदिक धर्म का आधार मन्त्र संहिताओं में ही प्राप्त करना चाहेंगे तो भी हमें निराशा हाथ लगेगी।

पहली बात तो यह कि पण्डित जी ने धर्म को स्मृतियों द्वारा परिभाषित धर्म ही नहीं माना। उन्होंने धर्म को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा है। तदनुसार रिलिजन अथवा देवता या आराध्य विषयक धारणा भी धर्म है और विभिन्न तत्त्वों में निहित गुण स्वभाव क्रियायें भी उन उन के धर्म हैं। वैदिक से पण्डितजी का अभिप्राय परम्परागत मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद से सम्बद्ध ही है। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" को यथावत् स्वीकार करते हुए वे सायणादि के समान ही ब्राह्मण वाक्यों अथवा उपनिषद् वाक्यों को "श्रुति" कह कर ही उद्धृत करते हैं। उन्होंने उपर्युक्त परिभाषा की समीक्षा की आवश्यकता अनुभव नहीं की। यद्यपि वे मन्त्ररूप शब्दराशि को अपौरूषेय स्वीकार करते हैं[१] और विभिन्न तर्कों द्वारा उसे उस रूप में सिद्ध भी करते हैं, तथापि केवल ब्राह्मणमिश्रित कृष्णयजुर्वेद के आधार पर सब ब्राह्मणों को भी वेद की श्रेणी में ले आते हैं।[२] ब्राह्मणमिश्रित होने के कारण ही कृष्णयजुर्वेद का कृष्णत्व (अशुद्धत्व) है - इस बात की सम्भवतया उन्होंने उपेक्षा कर दी है। ब्राह्मणों और गाथाओं में अनेक वचन स्वतः प्रमाणरूप हैं।[३] किन्तु उनका स्वतः प्रमाण होना संदिग्ध है। साथ ही वे ब्राह्मणों को स्मृति भी मानते हैं।[४] परन्तु अर्धजरतीय अथवा अर्धवैशस न्याय से यह बात असम्भव तथा असिद्ध प्रतीत होती है।

अस्तु, पं. मधुसूदन ओझा के उपर्युक्त मन्तव्यों को ध्यान में रखकर ही उनके द्वारा विवेचित वैदिक धर्म पर विचार यहाँ अपेक्षित है। सर्वप्रथम उन्होंने सारे संसार के आधार में क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति - इन दो शक्तियों की सत्ता बताई। इन दोनों में भी ज्ञानशक्ति की ही प्रधानता है क्योंकि समस्त क्रिया शक्ति का आधार वही है।[५] यह

ज्ञानशक्ति सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है क्योंकि ज्ञानशक्ति के विषय में कितना ही विश्लेषण करें, अन्ततोगत्वा वह इन तत्वों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।[६]

आगे पं. मधुसूदन ओझा ने स्पष्ट किया है कि सम्पूर्ण ज्ञान शक्ति का कोष वेद है। वही आर्यों के धर्म का आश्रय है । वेद से ही धर्म प्रकाशित हुआ है । व्यावहारिक दृष्टि से चाहे उस धर्म के आश्रय भिन्न हों, परन्तु परमार्थ रूप में निस्सन्दिग्ध रूप से धर्म वेद से अभिन्न है ।[७] इसलिए यदि धर्म का ज्ञान प्राप्त करना हो तो वेद का अनुशीलन आवश्यक है ।

पूर्वपक्ष के रूप में वेद को ज्ञान का मूल स्रोत न मानने वाले व्यक्तियों की ओर से उन्होंने आपत्ति उठाई है कि "पत्थरों, सुनो" जैसे वाक्य जिस वेद में हैं, उसे ज्ञान का मूल कैसे माना जाये । परन्तु इस विषय में उनका उत्तर है कि सामान्य लौकिक व्यवहार में भी यद्यपि शरीर के विभिन्न अंग हमारी बात नहीं सुन सकते, फिर भी उन्हें "अरे मेरे हाथ, अरे मेरे पाँव आदि कह कर सम्बोधित किया जाता है । वस्तुतः सुनकर समझने वाला तो मस्तिष्क है और हाथ पाँव आदि के सम्बोधन से भी अभिप्राय उसी का है, उसी प्रकार वेद के शब्द एक ईश्वर को सम्बोधित हैं । उनसे अनेक ईश्वरों की धारणा सिद्ध नहीं होती ।[८]

इसी प्रकार कुछ व्यक्ति यह दोष भी आरोपित करते हैं कि वेदों में तो ऋषियों के ज्ञान की दुर्बलता के कारण अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य, इन्द्र, आदि जड़ पदार्थों की उपासना है, आगे चलकर ज्ञानवृद्धि होने पर उपनिषद् भाग बना । परन्तु उन व्यक्तियों का यह विचार स्वीकार करने योग्य नहीं है क्योंकि वेद में 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' और 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' जैसे एकेश्वर प्रतिपादक इस धारणा के विरुद्ध हैं । अग्नि, वायु इत्यादि की जड़ोपासना का कारण ज्ञान की दुर्बलता नहीं, अपितु ज्ञान की प्रबलता है क्योंकि इसके माध्यम से मन्त्रों से सर्वत्र विद्यमान एक चित् शक्ति का समन्वय प्रकट किया है । आगे चलकर उपनिषदों में इसी भावना का विस्तार हुआ है । सभी मन्त्रों का अन्ततोगत्वा उस एक परम्-शक्ति की स्तुति-प्रार्थना-उपासना का ही तात्पर्य है । वही वेद का वास्तविक धर्म है ।[९] यहाँ स्पष्ट ही पं. मधुसूदन ने अंग्रेजी के रिलीजन शब्द के आधार पर वैदिक धर्म का मूल तत्व समझाया है ।

आगे इसी धर्म की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि एक परम् तत्व परमेश्वर की सत्ता मानते हुए भी वेद में जो अनेक देवताओं का उल्लेख आता है उससे कोई पारस्परिक विरोध उत्पन्न नहीं होता । वे देवनाम सभी भूतों के मूल द्रव्य हैं जिनके सम्मिश्रण अथवा अलग होने से वह सारा संसार प्रकट होता है ।[१०] ऐतरेय ब्राह्मण के वचन- 'वह यह सब देवताओं से उत्पन्न हुआ है और हो रहा है' के आधार पर ब्राह्मणों को श्रुति नाम से

संबोधित करते हुए ओझा जी ने मन्तव्य रखा है कि विलक्षण बुद्धि से युक्त महर्षि श्रुतियों में प्रतिज्ञा करते हैं कि एक एक भौतिक वस्तु में परस्पर विलक्षण शक्ति से युक्त अनेक देवता होते हैं ।[११] दूसरे शब्दों में कहना चाहिये कि जिन मूल परमाणुओं से कोई पदार्थ बना है, उन्हें देवता कहा गया है । उदाहरणार्थ - वायु वातियों, भौम कणों और वाष्पकणों का सम्मिश्रण है । तदनुसार उसके घटक मित्र, वरुण, पृथ्वी, आप: आदि देवता हैं । इसीलिए आगे वे कहते हैं कि जब तक उन देवताओं की शक्तियों का ठीक ज्ञान न हो, तब तक भौतिक वस्तुओं का सम्यक् ज्ञान सम्भव नहीं । अतएव महर्षि पहले आधिदैविक विज्ञान में प्रवृत्त होते थे ।[१२] उस प्रसंग में अग्नि, इन्द्र आदित्य और तेतीस सोमपान करने वाले देवता निन्यानवे प्रकार के राक्षस, आठ प्रकार के पितर, सप्तर्षि और सत्ताईस प्रकार के गन्धर्व मैथुन धर्म अर्थात् संयोग विधि से और युद्ध धर्म अर्थात् विरोध विधि से बहुत अधिक रूपों में बताये गये हैं । इन सभी प्रसंगों में सामान्य रूप से विज्ञानशक्ति को देखने वाले महर्षियों ने सर्वत्र तीन अर्थों में भाषा का प्रयोग किया है परोक्ष रूप से प्रत्यक्ष रूप से और आध्यात्मिक रूप से— यह बात यास्क ने भी ऋचाओं के- ये तीन प्रकार बताकर स्पष्ट की है ।[१३]

परन्तु इन तीनों प्रकार के भावों का पर्यवसान वैदिक धर्म के चरम लक्ष्य ब्रह्म में ही होता है । जो भी इनका परस्पर भेद दिखायी देता है, वह केवल व्यावहारिक है । वास्तविक तत्व बताने के लिये महर्षियों ने दिखाया है कि वन का आत्मा वृक्ष है, वृक्ष का आत्मा उसमें संचित रस आदि है, रस आदि का मूल तत्त्व सोम आदि है और सोमादि देवों का मूल ब्रह्म है । जिस तत्त्व में जिसकी सत्ता है, वही उसका आत्मा है ।[१४] इस प्रकार सर्वत्र ही अन्ततोगत्वा सब कुछ ब्रह्मात्मक है । अत: इन सब पदार्थों तथा भावों में पारमार्थिक दृष्टि से भेद नहीं है ।[१५] उपर्युक्त कथन का सार यह है कि समस्त वेद विज्ञान का परम्लक्ष्य अध्यात्म ही है क्योंकि अध्यात्म में ही सब पर्यवसित होता है । वही वेद का धर्म है ।

ज्ञान शक्ति के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् पं. मधुसूदन ओझा ने क्रियाशक्ति के सम्बन्ध में धर्म के स्वरूप का विवेचन किया है । यह क्रियाशक्ति भी दो प्रकार की है — एक सांसिद्धिकी और दूसरी नैमित्तकी । जो क्रिया किसी निमित्त से किसी पदार्थ या तत्व की होती है, वह क्रिया नैमित्तकी है, ओर जो उसकी स्वाभाविक क्रिया है, वह सांसिद्धिकी है । उदाहरणार्थ - तैजस् परमाणुओं में किसी निमित्त से स्थिति होती है - स्वभाव से वे गतिशील ही हैं । इसलिए स्थिति का निमित्त दूर होते ही वे स्वभावतः गतिशील हो जाते है ।इस सांसिद्धिकी क्रिया को ही गुण अथवा धर्म कहते हैं । इसे धर्म इसलिए कहते हैं क्योंकि यह नित्य ही उस उस पदार्थ अथवा तत्व द्वारा धारणा किया जाता है, अथवा यह धर्म उस उस वस्तु के स्वरूप को निरंतर धारण करता है ।[१६] इसी प्रकार आत्मा की

सांसिद्धिकी अथवा स्वाभाविक शक्ति सुख है। वही इसका धर्म है। अधर्म तब होता है जब इस सांसिद्धिक शक्ति का तिरोभाव है।[१७] यह अधर्म तीन प्रकार से प्रकट होता है - एक तो दूसरे व्यक्ति के कार्यों के फलस्वरूप दूसरे अपने ही कार्यों से और तीसरे अदृष्ट अर्थात् पूर्वजन्म के कार्यों के परिणाम के रूप में। जहाँ ये कार्य सुखविरोधी न हों, वहीं दुःख का अभाव होकर सुख की उत्पत्ति होती है। उन्हीं से दोषों का मार्जन रूप संस्कार होकर धर्म की सिद्धि होती है।[१८] यहाँ पं. ओझा स्मृत्युक्त सत्यादि धर्मों का उल्लेख कर सकते थे परन्तु उन्होंने यह विषय पाठकों के विचारार्थ छोड़ दिया। वे केवल इतना कहते हैं कि मनुष्य को सोच समझकर कार्य करने चाहिये, सोचे समझे बिना नहीं क्योंकि जो लोग अज्ञान में कार्य करते हैं, वे पदे पदे गिरते हैं। ज्ञान वेद शास्त्र के अविरोधी ऋषि प्रोक्त धर्मोपदेश से होता है। जो तर्क द्वारा तत्वों का अनुसंधान करता है, वही धर्म को जानता है, कोई और नहीं।[१९]

पं. ओझा ने यज्ञ को धर्म का मूल तत्त्व माना है - ऐसा प्रतीत होता है। यह यज्ञ ही सबके लिये एक समान धर्म है। यह जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह सब अग्नि में सोम की आहुति अर्पित की जाती है– उसी से संसार के कार्य होते हैं। जो कुछ मनुष्य खाता है, अध्यापन करता है जो कुछ भी करता है, वह सब यज्ञ है। इसी प्रकार जो राजाओं का राज्य शासन है अथवा प्रजा जो कर देती है - वह सब यज्ञ है। स्त्री के गर्भरूपी अग्नि में शुक्राणुओं की आहुति दी जाती है, और यहाँ अग्नि द्वारा जो वस्तु उत्पन्न की जाती है वह सब अग्नि साध्य क्रियाकलाप यज्ञ है। इसीलिए शतपथब्राह्मण में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है क्योंकि सभी कर्म इसमें अन्तर्भूत हो जाते हैं।[२०] इसीलिये गीता में कहा गया है कि पहले अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति ने यज्ञसहित प्रजाओं की सृष्टि करके कहा कि "हे मनुष्यों, तुम इस यज्ञ से और अधिक गुणों की सृष्टि करो, यज्ञ तुम्हारी अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करने वाला हो।"[२१]

पं. मधुसूदन ओझा जन्मना वर्णव्यवस्था स्वीकार करते हुए उन उन वर्णों के लिये विहित कर्मों तथा आचारों का आचरण करना भी धर्म मानते हैं। इतना ही नहीं, वे स्थानविशेष, कालविशेष, कुल विशेष और वृत्ति-विशेष में दिये गये अधिकारों के अनुसार तथा हमारे माननीय पूर्वजों के द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार आचरण को भी धर्म मानते हैं और बताते हैं कि इसके पालन से ही उन्नति सम्भव है, और किसी प्रकार नहीं।[२२] परन्तु इस प्रसंग में उन्होंने वेद संहितोक्त मान्यताओं पर बल नहीं दिया है। यहाँ वे कहते हैं कि यदि कोई ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय से जन्म लेकर वणिक् का कर्म करता है तो उसे ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय होने का अभिमान छोड़ देना चाहिये अथवा दरिद्रता का कष्ट भोगना

चाहिये। इसमें एक तो यह आपत्तिजनक है कि वणिक् कर्ग अपेक्षाकृत निकृष्ट है और यह भी तथ्यात्मक नहीं कि उस कर्म से दरिद्रता का कष्ट होता है।

आगे चलकर पं. ओझा ने विज्ञान को भी धर्म बताया है। उनकी दृष्टि में धर्म ही विज्ञान है। कारण है कि धर्म विज्ञान में व्यतिक्रम उत्पन्न नहीं करता। इस प्रकार सभी वस्तुओं में प्रकाश और प्रवृत्ति की प्रधानता होने के कारण यह सब कुछ (ज्ञान-विज्ञान) वेद है और यही सब धर्म भी है। इस आधार पर वेद और धर्म एक ही है। दोनों में भेद, केवल ज्ञान और क्रिया का है। जिस प्रकार नीला घड़ा करने पर नीलापन गुण के द्वारा नीला पद और घड़ा होने के कारण घड़ा पद एक ही आश्रय को बताते हैं।[२३] उसी प्रकार धर्मशब्द क्रिया के द्वारा और वेदशब्द ज्ञान के द्वारा एक ही आश्रय को बताते हैं। दूसरे शब्दों में तत्त्वों के ज्ञान पक्ष को वेद कहेंगे, परन्तु उसमें तत्वों का धर्म अर्थात् गुण स्वभाव निहित है, इसी प्रकार उनके क्रियापक्ष को धर्म कहेंगे परन्तु उसमें वेद अथवा क्रियाओं के गुण स्वभाव का ज्ञान निहित है।

वस्तुओं में धर्म या गुण तो अनेक होते हैं, परन्तु उनमें से कोई एक धर्म अन्य सब का आश्रय होकर रहता है। अन्य सभी धर्म उसके अधीन या उसके सहायक होकर रहते हैं। उदाहरणार्थ अन्न की श्रेणी में आने वाली वस्तुओं में अग्नि का, जल की श्रेणी में आने वाली वस्तुओं में सोम का, वायु की श्रेणी में आने वाली वस्तुओं में इन्द्र का और तेज अथवा प्रकाश की श्रेणी में आने वाली वस्तुओं में आदित्य का आलम्बन होने के कारण उस उस का ही वहां वहां आश्रयभाव है।[२४] और अन्ततोगत्वा इन सभी आश्रयों का अन्तर्भाव भी एकमात्र अग्नि तत्व में हो जाता है जैसा कि वेदमन्त्र में कहा गया है –'मैं प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में जन्म से विद्यमान अग्नि हूँ। घृत मेरा नेत्र है और अमृतत्व मेरा मुख है।'[२५] अन्य अनेक मन्त्र में अलग अलग देवों को भी अलग अलग आश्रयों के रूप में बताया गया है। यथा- 'सोम, राजा, वरुण, और जो देवता पृथक् धर्मों को उत्पन्न करने वाले हैं, वे वाणी को प्रेरित करें वे प्राणी को प्रेरित करें वे चक्षु को प्रेरित करें और वे कानों अथवा श्रवणशक्ति को प्रेरित करें।[२६] एक अन्य मन्त्र में सोम की द्युति, अग्नि के तेज, सूर्य के वर्चस्, इन्द्र की शक्ति मित्र और वरुण की वीरता और मरुतों के बल से युक्त करने की प्रार्थना की गई है।[२७] साररूप में विभिन्न देवों को जिन धर्मों अथवा गुणों के रूप में बताया गया है, वें सब आत्मा का ही स्वभाव कहा जाता है।[२८] दूसरे शब्दों में एक परमात्मा ही सर्वोपरि है – उसी को विभिन्न पदार्थों के धर्मों में विद्यमान बताने के लिए विभिन्न देवों के नामों से अभिहित किया जाता है।

सार रूप के सभी प्रकार के धर्मों की परिणति वेद के अनुसार एक परम् सत्ता परमेश्वर में होती है।

पाद टिप्पणियाँ :

१. ईश्वरीयज्ञानानुसारेण स्वयमेव गुम्फिता: सर्वे शब्दा ऋगादिभावेन परिणम्य महर्षीणां वसिष्ठादीनां वेदरचनार्थमप्रयतमानानामपि बुद्धिं स्वयमेवारूढाः प्रादुरभूवन्। ... स्वत: प्रमाणभूता श्रुति:।

(वेद धर्मव्याख्यानम्-तृतीय भाग, पृ. २५,२९)

तत्रेदं विज्ञानं चेतनाविकाशरूपत्वान्न शक्यते केनचित् पुरुषेण कर्तुमित्यपौरुषेयं च भवत्यकृतकं च।

(वही, पृ.१३)

विज्ञानमपौरुषेयम्। विज्ञानमेव तु वेदशब्देनाख्यायते। तस्मादपौरुषेयो वेदो कृतकश्चेति संसिद्धम्।

(वही, पृ.१६)

२. अथवा द्विविधाश्चेह ब्राह्मणग्रन्था दृश्यन्ते मन्त्रसंहिता शेषभूताश्च, मन्त्र संहिताभाष्यभूताश्च। आद्यास्तैत्तिरीयब्राह्मणादय:, ते श्रुतिशब्दा एव स्यु:। परे शतपथब्राह्मणादय:, ते स्मृतिशब्दा अपि स्यु:।

(वही, पृ.३०)

३. अथ भूयांसि खलु वचनानि गाथावचनानि च मन्त्राद्यनपेक्षं स्वपप्रामाण्येनैव प्रवर्तमानानि दृश्यन्ते, तेन द्रष्टवाक्योपपत्तया तयो श्रुतित्वं प्राप्नोति।

वही, पृ. ३०

४. अथ ब्राह्मणेषु च गाथासु च विद्यते श्रुतित्वं च स्मृतित्वं च। .... तस्मात् सिद्धं ब्राह्मणगाथयोरंशत: श्रुतित्वं च स्मृतित्वं चेति भाव्यम्।

(वही, पृ.३०)

५. ज्ञानशक्तिरेवेदं सर्वं यदिह दृश्यते किंचित्। तस्माद् यदिह क्रियाशक्ति: क्रियाशक्तिरिति कृत्वा सर्वत्र दृश्यते तदिह मायया क्रियाशक्त्या ज्ञानशक्तिरेवैका तत्र तत्रान्यथान्यथा प्रतिभासत इत्यभ्युपेयं भवति।

(प्रथमभाग १०)

६. इदं सत्, इयं चित्, अयमानन्दः इमास्तिस्रः शाखा यस्मादेकस्मान्मूलात् प्रतिस्फुरिता भजन्ति तन्मूलं ज्ञानशक्तिरिति व्यपदिशामः नैतस्या ज्ञानशक्तेरत्यर्थं चिन्त्यमानाया अपि सत्त्वचैतन्यानन्दव्यतिरिक्तं किंचिद् रूपं प्रतिपद्यामहे ।

(वही)

७. एवमेवार्याणां धर्मस्याश्रयो वेदः "वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ" । तस्य व्यावहारिके स्वाश्रयभेदेऽपि परमार्थतो वेदादभिन्नो धर्म इति निस्संदिग्धं द्रष्टव्यम् ।

(वही - ११)

८. तस्माद् यथेदानीं सम्प्रतिपन्नेऽपि प्रतिदेहमात्मैक्ये रे पाद, रे हस्तेत्यादयो भेदव्यवहारा व्यवहर्तृप्रवृत्तिवैचित्र्यादुपपद्यन्ते, एवमेवैते शृणोत ग्रावाण इत्यादयो व्यवहारा अपीति नैतावता नानेश्वरवादः प्राचामार्याणां व्यवहारलभ्यः ।

(वही, पृ. १३)

९. तस्मान्नेयमग्निवाय्वादिजडोपासना ज्ञानदौर्बल्यात्, अपि तु ज्ञानप्रबल्यात् सर्वत्रैव चिच्छिक्तिसमन्वयमीक्षमाणानां चिद्घनोपासनैव पूर्वमेकदेशावच्छेदेन पश्चाद्विशिष्टावच्छेदेन प्रवृत्तेति पश्यामः । सर्वेषामेव मन्त्रभागानां चैकस्मिन्नेवार्थे धर्मरूपे सामान्यविशेषाभ्यां व्याचिख्यासिते तात्पर्यावसायात् ।

(वेदधर्म.१, भाग १३)

१०. तत्र यान्येषां भूतानां मूलद्रव्याणि तान्येव देवशब्दवाच्यानि, देवानामेव मिथुनधर्मेण युद्धधर्मेण च सर्वमेवेदं जगद् विजृम्भपाणं दृश्यते ।

(वही, पृ.१५)

११. एकैकस्मिन् भौतिकवस्तुनि सन्त्येव बहवो देवाः परस्परविलक्षणशक्तिमन्त इति हि विलक्षणबुद्धिमन्तो महर्षयः प्रतिजानते श्रुतिषु । स एष जातो जायते सर्वाभ्य एव देवताभ्य इत्यादिषु (ऐतरेय) ।

(वही)

१२. तेषां देवानां यावता याथातथ्येन शक्तयो न विज्ञायेरन् - न खुलु तावता भौतिकवस्तूनां सम्यग् विज्ञानं सम्भवतीति कृत्वा आदावाधिदैविकविज्ञाने प्रवर्तन्ते स्म चिराय महानुभावा महर्षयः ।

(वही)

१३. तत्राग्नीन्द्रादित्यप्रमुखास्त्रयस्त्रिंशत् सोमपा देवा:, नवनवतिप्रकाराअसुरा:, अष्टप्रकारा: पितर:, सप्तर्षय:, सप्तविंशतिप्रकारा गन्धर्वा मैथुनधर्मेण, युद्धधर्मेण च भूरि भूरि प्रवर्तमाना आख्याता: । तत्र सर्वत्रैव विज्ञानशक्ति सामान्येन पश्यतां महर्षीणामविशेषात् सर्वत्र त्रिविधवाग्व्यवहारा भवन्ति परोक्षा: प्रत्यक्षा आध्यात्मिकाश्चेति प्रदर्शितं भगवताया स्केन निरुक्ते दैवतकाण्डे (तास्त्रिविधा ऋच:) १

(वेदधर्मव्या प्रथमभाग:, १५)

१४. अयमेषां भेदो व्यवहारोपयोगी न तु वास्तविक इत्येवं पारमार्थिकतत्त्वमुपदर्शयितुं पश्चात् प्रवृत्ता भगवन्तो महर्षय: । ते हि पश्यन्ति यथा वनस्यात्मा वृक्षा:, वृक्षस्यात्मा तत्समवेता रसादयो भावा:, रसादीनाञ्च सोमाद्यात्मकत्वम्, सोमादिदेवानां च ब्रह्मात्मकत्वमिति । यत्सत्त्वे यत्सत्ता स तस्यात्मा ।

(वही, १६)

१५. अस्ति काचिदलौकिकी शक्ति: यदधीना: सर्वे रसादयो भावा: सोमादयो देवा वा एकत्र समवेता वृक्षस्यात्मतां गच्छन्ति सैव खलु ब्रह्मशब्देनाख्यायते । एवं सर्वत्रैवान्ततो ब्रह्मात्मकत्वमिति कृत्वा नैतेषां पारमार्थिको भेद: ।

(वही, १६)

१६. सा नूनं सांसिद्धिकी-यामस्या आश्रय: कदापि न व्यभिचरति । तैजसपरमाणवोगतिस्वभावास्तेषु निमित्तसापेक्षा स्थितिर्भवति, स्थितिहेत्वपगमे स्वत एव गति: प्रवर्तते, सा सांसाद्धिकी । .... सांसिद्धिक्या: सर्वविधाया एव धर्मशब्देन व्यवहार: - तेन तेन धर्म्मिणा नित्यं ध्रियमाणत्वात्, तत्तद्वस्तुस्वरूपधारणकारणत्वाच्च ।

(वही, १८-१९)

१७. सांसाद्धिकशक्तितिरोभावकातिशयावेशस्तु नित्यमधर्म: । ... सुखानुभवस्यात्मसांसिद्धिकशक्तितया ।

(वही, पृ. १९)

१८. यत्र तु परव्यापारप्रयोज्यस्य स्वव्यापारप्रयोज्यस्यादृष्टव्यापारप्रयोज्यस्य वातिशयस्य सुखविरोधित्वं न प्रतिपद्यते । तेत्रैतेषां दु:खाभावरुपसुखजनकत्वात्

सुखजनकातिशयानां च दोषमार्जनात्मकसंस्काररूपतया सिद्धमेव धर्मत्वमिति द्रष्टव्यम् ।

(वही, २०)

१९. ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा किंचिदाचरेत् ।
अज्ञानेन प्रवृत्ताना स्खलन स्यात्पदे पदे ॥
आर्ष धर्मोपदेश च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः ॥

(वही, पृ. २१)

२०. यज्ञः सर्वसाधारणो धर्मः । यच्च किंचेदं दृश्यते तत् सर्वमग्नौ सोमाहुतिर्भवतीति जगत्प्रवर्तते । यद् भुङ्क्ते यदध्यापयति यद्वा प्रजानां करप्रत्यर्पणं स सर्वो यज्ञः । स्त्रीगर्भाग्नौ रेत आहूयते । यच्च किंचिदिहाग्निद्वारा वस्तूत्पाद्यते स सर्वो प्यग्निसाध्यः कर्मकलापो यज्ञः । यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म, सर्वेषामेव कर्मणामन्ततस्तत्रैव अन्तर्भावात् ।

(वेदधर्मव्याख्यानम्, प्रथमोभागः, पृ. २२)

२१. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

(वे.ध.व्या.भाग १, पृ.२२)

२२. एवमेव हि यदि नाम कश्चिद् ब्राह्मणवंशजत्वाद् ब्राह्मणत्वाभिमानी क्षत्रियवंशजत्वात् क्षत्रियत्वाभिमानी ब्राह्मणाधिकारसिद्धं क्षत्रियाधिकारसिद्धं वार्थमुपेक्षमाणो वणिगधिकारसिद्धं वाणिज्यं कुर्यात् तेनावश्यं ब्राह्मणत्वाद्यभिमानः परित्यक्तव्यः स्यात्-अथवा दारिद्र्यादिकृच्छ्रं भोक्तव्यं स्यात् ।

.... तस्माद्देशकालकुलवृत्तिसापेक्षो यस्य यादृशोऽधिकारसिद्धो धर्मः पूर्वपुरुषैरस्मन्मान्यैर्नियमितस्तस्य तथैव परिपालनेऽस्माकमभ्युदयो नान्यथेति संसिद्धम् ।

(वे.ध.व्या.भाग.१, पृ. २४-२५)

२३. अथ विज्ञानमपि धर्मः । आश्रयं धर्मिणमन्तराऽनुपलब्धेः अथ धर्मोऽपि विज्ञानमेव, विज्ञानव्यभिचारे तस्यासिद्धेः । तदित्थं सर्वस्यैव प्रकाशप्रधानत्वात् प्रवृत्तिप्रधानत्वाच्च सर्व एवायं वेदः, सर्व एवानं धर्मः । तदित्थं वेदधर्मपदयोः

सामानाधिकरण्यम् । यस्तु पुनरत्र भेदः स ज्ञानक्रियाभेदनिबन्धनः । यथा नीलो घट इत्यत्र नीलगुणमुखेन नीलपदं घटत्वमुखेन घटपदं चैकमेवाश्रयमभिदधाते, तद्वदिदं धर्मपदं क्रियामुखेन वेदपदं तु ज्ञानमुखेनैकमेवाश्रयमभिदधाते ।

(वही, भाग-२, पृ.२५)

२४. एते वस्तुधर्माः पंचधा व्यवच्छिद्य गृहयन्ते-आश्रयभावाः, प्रयोजकभावाः स्थायिभावाः, व्यंजकभावाः, संचारिभावाश्चेति, तत्रैतेषु सर्वेष्वेव धर्मेषु कश्चिदेको धर्मस्तदितरेषां सर्वेषामाश्रयी भूयावतिष्ठते । तदुपकारत्वेन चान्ये धर्मास्तत्रोपतिष्ठन्ते सोयमेकस्तत्राश्रयभावः । तत्रान्नसम्मिते वस्तुन्यग्नेरप्सम्मिते वस्तुनि सोमस्य वायुसम्मिते वस्तुनीन्द्रस्य तेजः सम्मिते वस्तुन्यादित्यस्यालम्बनत्वात्तस्य तस्य तत्र तत्राश्रयभावत्वम् ।

(वेदधर्मव्याख्यानम्, भाग-२, पिंडसमादेश, पृ.११)

२५. "अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं मे आसन् (ऋ ३.१६,७) इति मन्त्रवर्णकमनुरुध्यतां तु सर्वत्रैवाग्नेरेवाश्रयभावत्वमिति मतमेतत् ।

(वही, पृ.११)

२६. "सोमो राजा वरुणो देवा धर्मसुवश्च ये । ते ते वाचं सुवन्तां ते ते प्राणं सुवन्तां, ते ते चक्षुः सुवन्तां, ते ते श्रोत्रं सुवन्ताम्" इत्यादि मन्त्रैः (तै.सं. १८.१४.१) उपलक्षणविधया तत्तद्धर्मविशेषान् । प्रत्येवानुसन्धेयम् ।

(वही)

२७. सोमस्य त्वां द्युम्नेनाभिषिंचामि अग्नेस्तेजसा, सूर्यस्य वर्चसा इन्द्रस्येन्द्रियेण, मित्रावरुणयोर्वीर्येण, मरुतामोजसा ।

(वही)

२८. एवमादिमन्त्रैः सोमाद्यधिदेवतानामध्यात्मं द्युम्नादिधर्मसरूपेण परिणतावस्थत्वमेव तत्तद्धर्मप्रयोजकत्वं बोध्यते । एत एव च देवप्रयुक्ता धर्मास्तदात्मनः स्वभाव इत्युच्यते ।

(वही)

पं. मधुसूदन ओझा और उनके द्वारा प्रतिपादित परमेश्वर का स्वरूप तथा महत्व : एक अध्ययन

नरसिंह पण्डा
शोध सहायक
महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

पं. मधुसूदन जी ओझा संस्कृत के प्रगल्भ विद्वान् तथा सत्य के अनन्य पुजारी थे। बिहार प्रान्त में मिथिला के मुजफ्फरपुर जिले के गाढ़ा नामक ग्राम में पंडित श्री वैद्यनाथ ओझा जी के घर वि.सं. १९२३ में श्रीकृष्णजन्माष्टमी के दिन आपका जन्म हुआ आपका कुल प्रसिद्ध विद्वान् और प्रतिष्ठित पुरुषों की परम्परा का है। आपका बाल्यकाल स्वदेश में पिता के पास ही लालन पालन व प्रारंभिकं शिक्षा में व्यतीत हुआ। आपके पिता के बड़े भाई पं. राजीवलोचन जी ओझा जिन्होंने जयपुर महाराज स्व. रामसिंह जी से अतुल सम्मान और पूर्ण जीविका प्राप्त की थी, उनके कोई संतान न थी। इससे वे अपने छोटे भ्राता वैद्यनाथ ओझा के पुत्र श्री मधुसूदन ओझा जी को अपना दत्तक पुत्र बनाकर यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर वि.सं. १९३२ में अपने साथ जयपुर ले आये और जयपुर में ही उच्च कक्षा के विद्वानों के पास आपके पठन पाठन का प्रबन्ध किया गया। छः वर्ष के बाद आपके पितृव्य पं. राजीवलोचन ओझा का स्वर्गवास हो गया। इसके एक या डेढ़ वर्ष बाद ही महाराज रामसिंह जी का स्वर्गवास हो गया। अतः इन घटनाओं से आपके जीवन क्रम का एकदम परिवर्तित हो जाना एक स्वाभाविक बात थी। किन्तु चरित्रनायक को स्वाभाविक विद्या का व्यसन था, आपको विद्याध्ययन के अतिरिक्त और कुछ अच्छा नहीं लगता था। अब जयपुर में विद्या प्राप्ति का सुयोग न देखकर इन्हें अपनी पितृव्य पत्नी के साथ १९३९ वि. में अपनी जन्म भूमि को प्रस्थान करना पड़ा, किन्तु वहाँ भी अध्ययन क्रम आपकी रुचि के अनुकूल न हो सका और आपकी विद्यापिपासा अति प्रबल थी। इस कारण आप अपने कुटुम्बियों को समझा बुझा कर अध्ययनार्थ काशी चले गये। वहाँ दरभांगा पाठशाला में स्वनामधन्य म. म. स्वर्गीय श्री शिवकुमार मिश्र जी के समीप विद्याध्ययन करने लगे और लगातार ८ वर्ष तक वहाँ ही पढ़ते रहे।

आपके उत्कट परिश्रम तथा अद्‌भुत बुद्धि के कारण व्याकरण, न्याय, साहित्य, मीमांसा, वेदान्त आदि के ग्रन्थों का आपने गुरुमुख से न केवल अध्ययन ही कर लिया प्रत्युत् उन पर पूर्ण अधिकार भी प्राप्त कर लिया।

इस बीच आपका विवाह १७ वर्ष की अवस्था में अलवर के राजगुरु पं. चंचल जी ओझा मन्त्रशास्त्री की कन्या से वि.सं. १९४० में हुआ। इसके बाद काशी में विद्याध्ययन पूर्णकर पंडितजी बूंदी, कोटा, झालरापाटन, रतलाम आदि के नरेशों से मिले और पूर्ण सम्मानित हुए। अन्त में जयपुर राज्य से विशेष अनुरोध होने पर वि.सं. १९४६ में जयपुर चले आये।

जयपुर में आते ही पंडितजी महाराजा कालेज में संस्कृत प्रोफेसर नियुक्त हुए। बीच में आपने कुछ समय संस्कृत कॉलेज में वेदान्त के प्रधान अध्यापक का कार्य भी किया। इस अरसे में कई घटनाएं ऐसी हुईं जिनसे आपके प्रखर पाण्डित्य की महिमा भूतपूर्व जयपुर नरेश स्व. महाराज माधवसिंह जी को अवगत हुई और गुणग्राहक महाराज ने इन्हें अपने आत्मिक परिजनों में नियुक्त कर वि.सं. १९५१ में निजी पुस्तकशाला का प्रबन्ध इनके अधीन कर दिया व मौज मंदिर (धर्मशाला) का सभापति बना दिया और राज्य के सर्वप्रधान पंडित मानकर परम आदरपूर्वक अपने पास रखा। श्रीमान् प्रायः नित्य ही कुछ समय इनसे शास्त्रीय वार्तालाप किया करते थे जिनका महाराज पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह पंडितजी की अनुमति बिना कोई भी धार्मिक कार्य नहीं करते थे। पंडितजी महाराज सदा वैदिक विज्ञान की खोज में लगे रहते थे। आपका संपूर्ण समय वेदरहस्य के उद्‌घाटन के प्रयत्न में ही बीतता था। अपने शरीर, स्वास्थ्य, आराम व अर्थोपार्जन आदि सब बातों की उपेक्षा कर यह महान् कार्य आपने आजीवन किया। आपके लगभग ५० वर्ष कठोर तपस्या के रूप में बीते, जिस तपस्या के फलस्वरूप आपके लिखे हुए शताधिक ग्रन्थ विद्यमान हैं, जो संस्कृत विद्या, सनातन धर्म और भारतवर्ष का वैज्ञानिक युग में मस्तक ऊंचा करने के लिये पर्याप्त साधन है।

वि.सं. १९९६ भाद्रपद्र शुक्ला १५ को केवल दो तीन दिन ही अस्वस्थ रहकर गुरुवर पंडितजी का अचानक स्वर्गवास हो गया।

परमेश्वर का स्वरूप और महत्व :

जिसमें अविद्या के द्वारा क्लेश, कर्म और कर्मों का विपाक (फल) ये तीनों अपना आशय नियत करें उसी को जीव कहते हैं। किन्तु ईश्वर इन तीनों से अस्पृष्ट हैं - अर्थात् क्लेश, कर्म ओर विपाक - इन तीनों के आशय से और इन तीनों के द्वारभूत अविद्या से

जिसका कदापि स्पर्श नहीं होता, उसी पुरुष को ईश्वर कहते हैं, वह विद्या का विधि है और छ: उर्मियों से रहित है । शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा - इन छहों को उर्मी कहते हैं । जीव में छहों उर्मियों देखी जाती हैं किन्तु ईश्वर में इनका सर्वथा अभाव है । इनके अतिरिक्त ईश्वर में काम और संकल्प ये दोनों सत्य हैं अर्थात् जिन भूत या विद्यमान पदार्थों की ईश्वर कामना करता है वे पदार्थ उसी क्षण उपस्थित हो जाते है । और भविष्य के लिए जैरे करने का संकल्प करता है वह वैसा ही तत्क्षण हो जाता हैं । इन दोनों के अतिरिक्त जो तीसरा परमेश्वर है उसमें न ईश्वर की तरह विद्या है न जीव की तरह अविद्या है इनके अतिरिक्त उस परमेश्वर में न सम्भूति है न नाश है न उसमें जीव की तरह उर्मि है और न ईश्वर की तरह संकल्प और काम है ।

परमेश्वर स्वरूप निर्णय :

अब यदि परमेश्वर के स्वरूप का हम विचार करते हैं तो हमको विश्वास होता है कि दिक्, देश, काल और द्रव्य - इस सबसे अनवच्छिन्न होने के कारण न उसके नाभि हो सकती है और न उसके कहीं पीठ की कल्पना की जा सकती है क्योंकि वह असीम है इसलिये न परमेश्वर का कोई मुख हो सकता है न उसकी दृष्टि हो सकती है न उसका पांव हो सकता है । तात्पर्य यह है कि ईश्वर में सब ओर मुख, दृष्टि और पाद कहे जा सकते हैं, किन्तु परमेश्वर में किसी ओर भी मुख दृष्टि और पाद की कल्पना नहीं हो सकती, परन्तु इतना होने पर भी देखना, सुनना, चलना, फिरना इत्यादि जितनी शक्तियाँ जो जहाँ कुछ हैं, वे सब इसी सर्वत्र व्यापक परमेश्वर में कहे जा सकते हैं । उसके अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है । इसलिये ऋषियों ने परमेश्वर का स्वरूप इस प्रकार कहा है —

अपाणिपादो जवनो गृहीता, पश्यत्यचक्षु: स शृणोत्यकर्ण: ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥ १.
अपाणि पादो इह मचिन्त्यशक्ति:, पश्यामचक्षु: शृणोम्यकर्ण: ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो, न चास्ति वेत्ता पमचित्तसदाहम ॥ २.
वेदेरनेके रहमेववेद्यो, वेदान्तकृद्वेद विदेव चाहम् ।
न पुण्य पापे ममनास्तिनाशो, न जन्म देहेन्द्रिय बुद्धिरस्ति ॥ ३.
अणोरणीयानहमेवतद्वन् महानहोंवश्वमह विचित्रम् ।
पुरातनोऽहं पुरूषोहमीशों, हिरणामयोऽहं शिवरुपमस्मि ॥ ४.

इसी प्रकार अन्यान्य ऋषियों ने भी शान्त, क्षुब्ध, घोर परमेश्वर का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है कि उसके वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत मन - ये पाचों प्राण नहीं हैं । शब्द, स्पर्श,

रूप, रस, गन्ध - ये पाँचों भूतगण नहीं हैं । आकाश, वायु, जल, तेज, पृथिवी - इन पांचों महाभूतों से बना हुआ उसका शरीर नहीं है । और उसमें भीतर बाहर का स्थूल, सूक्ष्म का, ह्रस्व दीर्घ का, मुख और पैरों का भेद नहीं है, न उसमें भार है, न परिमाण है, न कोई आकार है, न अंधकार है, न छाया है, न उसमें शोणित है, न चर्म है, वह असंग है , अक्षर है, न अन्न है न अन्नाद, उसके शासन में सूर्य और चन्द्र अग्नि, वायु, द्यौ और पृथिवी - ये सब नियत व्यवस्था के अनुसार, भिन्न भिन्न अपने काम करने में कदापि त्रुटि नहीं करते, सब कुछ उसी से पकड़ा हुआ जहाँ का तहाँ स्थिर होकर इस संसार चक्र को चला रहा है । किन्तु वह परमेश्वर न ही देख सकता है न सुनने की वस्तु है नं जानने और समझने की वस्तु है। परन्तु जो जहाँ कुछ दीखता है, सुना जाता है, जाना और समझा जाता है सभी जगह वही एक देखने वाला है, सुनने वाला है, जानने और समझने वाला है उसके अतिरिक्त न कोई द्रष्टा है, न श्रोता है, न मानता है, न विज्ञाता है ।

परमेश्वर में कामना का न होना :

जीव और ईश्वर में कामना पाई जाती है जिसमें जीव की कामना अनित्य है कभी होती है और कभी नहीं यहां तक कि जिस जीव को जिस वस्तु की एक समय कामना होती है उसी को उसी वस्तु की दूसरे समय में कामना नहीं रहती, परन्तु ईश्वर की कामना ऐसी नहीं है उसकी कामना प्रत्येक वस्तु में एक रूप में सदा रहती है और जितनी कामनाएँ ईश्वर में उत्पन्न हुईं वे सब इच्छा होते ही पूर्ण होती रहती हैं इसीलिए ईश्वर को सर्वकामनामय और आप्त काम कहते हैं परन्तु परमेश्वर अकाम है कदाचित् भी कोई कामना उसमें उत्पन्न नहीं होती क्योंकि अप्राप्त वस्तुओं की कामना हुआ करती है सो जो आत्मा परिच्छिन्न हो उसी में संभव है किन्तु इस जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो परमेश्वर में न हो वा परमेश्वर से बाहर हो इसीलिये उसको अकाम कहते हैं ।

परमेश्वर में नभ्य आत्मा का न होना :

जीव अनन्त हैं-

शरीर के भिन्न होने से जीव भी भिन्न होते हैं । प्रत्येक जीव आत्मा के शरीर में दो दो आत्मा होते हैं, एक **नभ्य** और दूसरा **सर्व** । इनमें नभ्य आत्मा वह है कि जो शरीर के केन्द्र में रहकर इस शरीर के धातु रस आदि को निर्माण करता हुआ शरीर के अनुपयोगी पदार्थों को शरीर से बाहर निकाल कर फेंकता रहता है, उसी के कारण शरीर का कोई भी अंश सड़ने नहीं पाता और शरीर को हलका बनाता है परन्तु दूसरा सर्वआत्मा जीव का संपूर्ण

चेतन शरीर है। उसी प्रकार ईश्वर भी अनन्त है उसका शरीर ब्रह्माण्ड है, ब्रह्माण्ड के भेद से ही ईश्वर भिन्न भिन्न माने जाते हैं, प्रत्येक ईश्वर भी अनन्त है उनका शरीर ब्रह्माण्ड है, ब्रह्माण्ड में दो दो आत्मा होते हैं। एक ब्रह्मा के केन्द्र में रहकर अपने से ही सब पदार्थों को उत्पन्न करता हुआ और उनको चारों ओर फैलाता हुआ ब्रह्माण्ड की रचना करता है उसको नभ्य आत्मा कहते हैं और दूसरा सर्व आत्मा संपूर्ण ब्रह्माण्ड को ही कहते हैं। इस प्रकार जीवन और ईश्वर दोनों में दो दो आत्मा पाये जाते हैं। किन्तु परमेश्वर में ऐसी दो आत्मायें नहीं हैं वह एक ही है क्योंकि उसके शरीर को जगत् कहते हैं सो जगत् एक है ओर असीम है। असीम वस्तु की नाभि और परिधि दोनों ही नहीं कही जा सकती हैं, इसलिए उसमें नभ्य आत्मा का होना सम्भव है। उसका प्रत्येक बिन्दु ही नाभि है और प्रत्येक बिन्दु से अनन्तानन्त शक्तियाँ उत्पन्न होकर अपना अपना विकास करती हैं, जिससे इस जगत् का स्वरूप बनता बिगड़ता रहता है, इसीलिए इस संपूर्ण जगत् को ही विश्वात्मा भगवान् परमेश्वर कहते हैं, जो असीम होने से किसी नियत स्थान पर नभ्यात्मा नहीं रखता उसका प्रत्येक बिन्दु ही नभ्य हो सकता है।

परमेश्वर में देशिक संस्था न होना :

जीव की शक्ति परिमित है इससे उसका शरीर भी परिमित ही उत्पन्न होता है, इसी प्रकार ईश्वर की शक्ति भी परिमित है, इसी से उनका ब्रह्माण्ड भी परमित ही उत्पन्न होता है। यह ब्रह्माण्ड दो प्रकार का है, एक छोटा जो उपेश्वर का शरीर है अर्थात् यह सूर्य अपने प्रकाश मण्डल में जितने आकाश प्रदेश में व्याप्त होता है, वही छोटा ब्रह्माण्ड है, उसमें सूर्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष के नाम से त्रैलोक्य की संस्था नियत रहती है किन्तु महाण्ड वह है कि जिसमें असंख्य ऐसे सूर्य होने के कारण त्रैलोक्य संस्था भी असंख्य होता है। जिस प्रकार हमारी पृथिवी या अन्यान्य ग्रह इस सूर्य के चारों ओर फिरते हैं उसी प्रकार वे सब सूर्य भी जिस महासूर्य के चारों और फिरते हैं, वही सच्चिदानन्दघन हमारा ईश्वर है। उसकी सत्ता, चेतना और आनन्द की किरणें चारों ओर जितने आकाश प्रदेश में परिव्याप्त है, वही महाब्रह्माण्ड है और वही ईश्वर का शरीर है। यह महाब्रह्माण्ड बहुत बड़ा होने पर भी परिमित है, सीमाबद्ध है, उसकी सीमा से बाहर भी इसी प्रकार के अनन्तानन्त ईश्वर परमेश्वर इस अनन्त महा आकाश में इधर उधर अवश्य विद्यमान है, ऐसी सम्भावना की जा सकती है और वे सब परिमित हैं, किन्तु उन सबका प्रथम आत्मा परमेश्वर है और वह एक है जितने जीव ओर जितने ईश्वर इस अनन्त आकाश मण्डल में कहीं हैं उन सबको यदि एक दृष्टि से देखकर ख्याल में लाया जाय तो वही परमेश्वर का रूप है। अर्थात् जो जहाँ कुछ है सो सब जगत् ही परमेश्वर का शरीर है। इस जगत् का आदि, अन्त होना

असंभव है । इसीलिये वह असीम है । यदि किसी सीमा बद्ध आयतन को ही शरीर कहें तो परमेश्वर में देश की संस्था न होने के कारण उसको अशरीर ही कहना पड़ेगा । क्योंकि उसके शरीर से बाहर कुछ खाली नहीं है ।

परमेश्वर में कालिक संस्था का न होना :

जीव आत्मा को सभी शक्तियाँ परतन्त्र से मिलती हैं अर्थात् ईश्वर से प्राप्त होती हैं जिससे नैमित्तिक और अनित्य हैं और ईश्वर आत्मा की सभी शक्तियाँ भी परतन्त्र से मिलती हैं, अर्थात् परमेश्वर से प्राप्त होती हैं । इसीलिये वे भी नैमित्तिक और अनित्य हैं किन्तु परमेश्वर की सभी शक्तियाँ दूसरे किसी से प्राप्त नहीं होती हैं । वे स्वतन्त्रता से विद्यमान हैं क्योंकि परमेश्वर सर्वशक्तिधन है, उसकी निज की शक्तियाँ नित्य स्वयंभू हैं किन्तु उस परमेश्वर के जगत् में अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं और फिर उत्पन्न होते रहते हैं, इस प्रकार यह उत्पत्ति विनाश क्रम इस जगत् में यों ही अनादिकाल से होते चले आते हैं और आगे को भी इसी प्रकार अनन्तकाल में होते रहेंगे, जिस प्रकार से सृष्टि विनाशक्रम हम आज देख रहे हैं संभव है कि वह इसी प्रकार आगे को भी सर्वदा बना रहेगा । परमेश्वर की आत्मा में जो मन, प्राण, वाक् - ये तीन धातुएँ हैं उनसे यद्यपि पृथक् पृथक् नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते रहते हैं और उन विकारों से फिर भी उनके अवान्तर अनेक प्रकार के विकास उत्पन्न हो होकर नष्ट होते रहते हैं, तथापि उन सब विकारों के मन, प्राण, वाक् इन तीनों का समन्वय नित्य एक रूप से ही रहता है । सभी भाव वाङ्मय, प्राणमय, मनोमय कहे जा सकते है और अनादिकाल से अनन्तकाल तक इसी प्रकार रहेंगे क्योंकि इस असीम परमेश्वर में देशिक सीमा के अनुसार कालिक सीमा भी नहीं है ।

सबका आत्मा होना :

जिस प्रकार देह की आत्मा जीव है उसी प्रकार इस जीव की भी आत्मा ईश्वर है और उन ईश्वरों की भी आत्मा परमेश्वर है, परन्तु परमेश्वर स्वरूपतः अंगी होने के कारण आत्मा है, न कि कारण होने से जिस प्रकार कार्य की आत्मा कारण है उसी अंगों की आत्मा अंगी है, ये सब परमेश्वर के अंग हैं । परमेश्वर उनका अंगी है इससे वह ईश्वरों की आत्मा है ।

जिस प्रकार मैं स्वयं एक आत्मा हूँ उसी प्रकार मुझ में विद्यमान ईश्वर मेरी दूसरी आत्मा है और उस आत्मा में भी विद्यमान परमेश्वर मुझमें तीसरी आत्मा है इसी प्रकार यह

ईश्वर भी जो स्वयं एक आत्मा है उसमें विद्यमान परमेश्वर उस ईश्वर की आत्मा है वह तीसरा वह परमेश्वर स्वयं ही एक आत्मा है उसकी कोई दूसरी आत्मा नहीं हो सकता। आत्माओं को इस विभाग के अतिरिक्त प्रकारान्तर से भी विभाग किया जाता है। उसके अनुसार हमारे जीव आत्मा में ५ आत्माएं हैं। इन आत्माओं की स्थिति शरीर में त्रिलोकी संस्था के कारण सम्पन्न होती है। इसीलिये ईश्वर में भी ये पाँचो आत्माएं विद्यमान रहती हैं क्योकि उनमें भी त्रिलोक संस्था है। जीव की पाँचों आत्मा और ईश्वर की पांचों आत्मा परस्पर में अन्न, अन्नाद भाव से रहती है। ईश्वर की आत्माएं जीव की आत्माओं का रस सर्वथा चूसा करती है किंतु जीव की आत्मा भी ईश्वर की उन्हीं आत्माओं से रस लेकर अपनी इस कमी को पूरा करती है। इस प्रकार यद्यपि जीव ईश्वर दोनों में पाँच पाँच आत्मा संभव होती हैं। किन्तु परमेश्वर में इन पाँचों में से एक भी आत्मा नहीं है क्योंकि भूतों से उसका सम्पर्क नहीं। इसलिये एक उसमें भूतात्मा नहीं है। परमेश्वर ने स्वयंभू सूत्ररूप होकर सबको अपने में बाँध रखा है, किंतु परमेश्वर किसी सूत्र से बंधा हुआ नहीं है। इसलिए उसमें दूसरी सूत्रात्मा नही है और जीव, ईश्वर का शरीररूपी क्षेत्र परिच्छिन्न होने के कारण क्षेत्र का अभिमानी क्षेत्रज्ञात्मा हो सकता है, किन्तु परमेश्वर का शरीर अपरिच्छिन्न होने के कारण कोई नियत क्षेत्र नहीं हो सकता। इसलिए उसमें तीसरी क्षेत्रज्ञात्मा नहीं। और जीव ईश्वर में भिन्न भिन्न योनि का विभाग करने वाली महान् आत्मा होती है। परिच्छिन्न होने के कारण जीव ईश्वर में भिन्न भिन्न प्रकार की योनियों का भेद होना संभव है। इसी से भिन्न भिन्न योनि स्वरूप, भिन्न भिन्न महान् आत्मा भी होती है। किन्तु परमेश्वर अपरिच्छिन्न है। किसी प्रकार की योनि का भेद उसमें संभव नहीं, इसीलिये परमेश्वर में चौथी महान् आत्मा भी नहीं है। इन चारों आत्माओं के अतिरिक्त पांचवीं चिदात्मा जो ईश्वर या परमेश्वर से ही जीव और ईश्वरों में संप्रदाप्त होता है। किन्तु परमेश्वर स्वयं चिदात्मा है उसमें किसी दूसरे से चिदात्मा का आना संम्भव नहीं। इसीलिए उसमें यह आत्मा भी नहीं है।

अथवा प्रकारान्तर से परमेश्वर को यों देखिये कि ईश्वर या जीव में जितनी आत्मायें हैं वे सब परमेश्वर से बाहर नहीं हो सकती क्योंकि परमेश्वर से बाहर कोई प्रदेश ही नहीं है। जहाँ किसी दूसरी का होना माना जावे इसीलिए ये अनन्त जीवन ईश्वर की आत्माएं परमेश्वर की ही आत्माएं हो सकती हैं। इतना विशेष फिर भी है कि ईश्वर या जीव में पांच - पांच आत्मा होने के कारण परिमित आत्माएं हैं किन्तु परमेश्वर में आत्माएं अनन्त हैं। इसीलिये परमेश्वर को सर्व-आत्मक और सर्वआत्मा दोनों कह सकते हैं। सब आत्माएं उसकी आत्माएं हैं इसीलिये परमेश्वर को सर्व-आत्मक और सर्वआत्मा दोनों कह

सकते हैं। सब आत्माएं उसकी आत्माएं है इसीलिए वह सर्व आत्मक है किन्तु जगत् जीव, ईश्वर इन सभी का वही एक आत्मा है इसीलिये वह सर्व आत्मा भी है।

अणु से भी अणु और महान् से भी महान् वह है। कृष्ण, शुक्ल, पात, हरीत, सब कुछ वही सत् और असत् है। तात्पर्य यह है कि इस विश्वंभर में जितने विरोध भाव हैं, वे सब परमेश्वर में आकर अविरुद्ध रूप से विद्यमान हैं।

एक दृष्टि से परमेश्वर को यों भी देख सकते हैं कि इस विश्व में जितने मन, प्राण, वाक् हैं वे सब उसके वास्तविक रूप हैं और वेद, यज्ञ, प्रजा ये तीनों ही उसके शरीर हैं और जीव ईश्वर ये सभी उसके वित्त हैं। इन तीनों के अतिरिक्त उस परमेश्वर की आत्मा अलक्ष्य अगोचर निरंजन, निराकार है वह अज्ञेय और अनिर्वचनीय है इस प्रकार आत्मा, रूप शरीर और वित्त इन चारों से चतुर्व्यूह वाला एक अद्वितीय व्यूहानुव्यूह परमेश्वर है।

इस परमेश्वर की न नाभि है, न संस्था है, न आदि है, न अंत है, न इसका कोई दूसरा आधार है अनन्त ईश्वर अनन्त जीव, इन सब में यह समान भाव से सर्वत्र व्याप्त है इसकी मुख्यतया दो प्रकार से भावना की जाती है एक शान्त और दूसरा समृद्ध, इनमें अव्याकृत रूप से यह शान्त है और एकाकार है और एक ही आत्मा है किन्तु समृद्ध भाव से यह अनन्ताकार है और सर्वात्मा है।

इस प्रकार पं. मधुसूदन ओझा ने परमेश्वर का स्वरूप विषयक स्वमत स्पष्ट रूप से व्यक्त किये हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि परमेश्वर सबका कारण है और वह परमपूजनीय भी है।

प्राण का वैज्ञानिक स्वरूप

डॉ. प्रभावती चौधरी
सहायक आचार्य, संस्कृत- विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।

"असद्वा इदमग्र आसीत्, किं तदसदासीदिति ।
ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्, के ते ऋषय इति, प्राणा वा ऋषयः ॥[१]

सृष्टि के प्रारम्भ में असत् था । ऋषि ही असत् थे । ऋषि कौन थे ? प्राण ही ऋषि थे । शतपथब्राह्मण की इस श्रुति के अनुसार सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में प्राण ही थे । प्राण ही ऋषि अभिधा से व्यवहृत हुए ।

प्राण क्या थे ? वैदिक प्रज्ञा ने प्राणों का स्वरूप, लक्षण एवं जगत् के आदि कारण के रूप में उनकी सत्ता की विशद व्याख्या प्रस्तुत की । प्राणों के स्वरूप एवं उनके प्रादुर्भाव को जानने हेतु "ब्रह्म" अथवा "रस" का ज्ञान अभिप्रेत है ।

ब्रह्म— "कोई पदार्थ जिसके आश्रय से रहे, जिससे पकड़ा हुआ हो वह जहां से बढ़े वह "ब्रह्म" है ।"[२] पण्डित मधुसूदन जी ओझा ने ब्रह्म का यही लक्षण किया है । "रसो वै सः" श्रुति ही ब्रह्म है । अनादि, अनन्त, अपरिच्छिन्न, विभु, शान्त आनन्दैकरस व ज्ञानमय जो तत्व है, वही रस है । उसे ही आत्मा वा ब्रह्म कहते हैं । इस निर्विकारी, आनन्दमय, शान्त एवं सर्वव्यापी ब्रह्म के विरुद्ध धर्मवाला है । बल सादि, सान्त, परिच्छिन्न एवं क्षुब्ध रूप है । रस क्रियारहित है, बल क्रिया रूप है । अनेक बल एक बिन्दु में मिलकर गूंथ जाए तो उसे हृदयग्रन्थि कहते हैं । बल रस में अनपा क्षोभ प्रकट करके शान्त हो जाता है, परन्तु रस पर अपना संस्कार छोड़ जाता है । अतः हृदयग्रन्थि में रस ही हो जाता है । इस रस को आत्मा कहते हैं । आत्मा क्रियारूप नहीं होती परन्तु बल के कारण बँधी हुई सी प्रतीत होती है यही आत्मा का बन्धन है, एवं इस बन्धन से मुक्ति पाना ही मोक्ष है । रस एवं बल की प्रधानता अप्रधानता के आधार पर ब्रह्म की पाँच कलाओं की सृष्टि होती है—

(१) जब रस अपनी प्रधानता से बल को अभिभूत कर लेता है, तो वह "आनन्द" कहलाता है ।

(२) जब रस में बल किञ्चित्मात्रा में उल्बण रहता है, तो वह रस "विज्ञान" कहलाता है।

(३) रस व बल की साम्यावस्था को "मन" कहा जाता है।

(४) किञ्चित्मात्रा में उल्बण परन्तु बल से अभिभूत रस "प्राण" है।

(५) रस को सर्वथा अभिभूत करने वाला बल ही "वाक्" है।

इन पाँच कलाओं से युक्त ब्रह्म आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय एवं वाङ्मय कोश स्वरूप कहलाता है। बल से अभिभूत प्राणरूप रस ही सृष्टि प्रक्रिया का उपादान कारण बनता है। प्राण में रस की अपेक्षा बल की अधिकता है, अतः वह क्रियारूप ही होता है। एक जगत् की गति स्थिति का आधार बनता है।

प्राण का स्वरूप

सृष्टि का उपादान कारणभूत प्राण क्या है उसका स्वरूप लक्षण क्या है ? इसकी वैज्ञानिक व्याख्या ओझाजी के ग्रंथों में निरूपित है। उन्होंने प्राण का स्वभावभेद से चतुर्विध विभाजन किया है—

प्राणोऽयमग्रेऽभवन् समन्तात् यथा सरस्वान् स तथाप्तिपूर्णः।
स्वभावभेदेन चतुर्विधोऽसौ चत्वार एकत्र समाहिता स्युः ॥[३]

प्राण के चार भेद इस प्रकार हैं— परोरजा, अग्नि, सोम, आप्। परोरजा "मन" एवं आप् "वाक्" रूप से व्यवहृत होते हैं। अग्नि एवं सोम की अभिधा प्राण ही है।

परोरजा वह प्राण है जिसमें त्रैलोक्यसृष्टि के समस्त पदार्थ उसके विधरण के स्थान पर नियत रूप से रहते हैं। अग्नि वह प्राण है जो विशकलन करने का स्वभाव रखता है। सोम से स्थिति होती है एवं अग्नि से गति होती है। सोम घन करने का स्वभाव रखता है। आप् वह प्राण है जो रूपान्तर में बदलने की सामर्थ्य रखता है। मन की प्रेरण से गतिशील प्राण वाक् से सम्बद्ध होता हुआ ही सृष्टि का अधिष्ठाता बनता है। इस चतुर्विध स्वभावभेद से युक्त प्राण, अक्षर, पुरुष एवं क्षरपुरुष के रूप में विकसित होता है।

अक्षर पुरुष एवं क्षर पुरुष

रस जब तक अविकारी, शान्त एवं आनन्दमय बना रहता है अव्यय पुरुष कहलाता है। इसमें प्राण के आधार पर अक्षर पुरुष एवं वाक् के आधार क्षर पुरुष का विकास होता

है । अक्षरपुरुष की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र अग्नि एवं सोम रूप से पाँच कलाएं होती हैं । क्षर पुरुष की आध्यात्मिक, आधिभौतिक आदि पांच कलाएं होती हैं जिनका नाम भी ब्रह्मा , विष्णु आदि ही है । क्षर ब्रह्म की ये कलाएं ही विकृत होने पर जगत की उत्पादकता के रूप में प्राण., वाक्, आप्, अन्नाद एवं अन्न कही जाती हैं । ये प्राण, वाक्, आप् स्थूल रूप हैं । इन्हें प्रकृति ब्रह्म कहते हैं ।

ऋषि—

"के ते ऋषय इति प्राणा वा ऋषयः ।" इस श्रुति से प्राण ही ऋषि थे. ऋषि शब्द का निर्वचन है— ऋषति गच्छतीति । प्राण का सहजसिद्ध गतिशील धर्म ही उसकी ऋषि अभिधा का कारण बना । प्राण ही ऋषि थे । प्राणों के लिये "असत्" शब्द का प्रयोग भी व्यवहृत होता है । जगत् का प्रत्येक पदार्थ प्राणमय है, अतः "सद्रूप" है । "सामान्ये सामान्याभावः" न्याय से प्राण में सत् नहीं रहता इसीलिए उन्हें असत् कहा गया । प्राण के गतिशीलता के आधार पर पाँच भेद होते हैं जिनका पंचाक्षर विद्या के रूप में विस्तार हुआ ।

पंचाक्षर विद्या—

ऊपर अक्षर पुरुष की ब्रह्मा विष्णु आदि जिन पाँच कलाओं का निरुपण हुआ है । वे वस्तुतः प्राण की गतिशीलता के ही पाँच प्रकार हैं । केन्द्र से परिधि की ओर जाना "गति" है, परिधी से केन्द्र की ओर जाना "आगति" है । गति एवं आगति तत्व जिस प्रतिष्ठा तत्व के आधार पर नियंत्रित एवं नियमित हैं, वह स्थिति है । इस गतित्रयी से दो और गतियों का विकास होता है— जब आगतिभाव स्थिति के गर्भ में समाविष्ट हो जाता है तो "संकोचगति" का विकास होता है तथा जब गति भाव स्थिति के गर्भ में समाविष्ट हो जाता है तो "विकासगति" उत्पन्न होती है । गति— आगति— स्थितिरूपा गतित्रयी से एक "हृदयरूप" स्वतन्त्र तत्व बनता है जिसे सूत्रात्मा कहते हैं । गतिसमष्टिरूपास्थिति "ब्रह्मा" है, केन्द्रानुगता-आगतिरूपा गति "विष्णु" है, परिध्यनुगता गतिरूपा गति "इन्द्र" है । विकासगति "अग्नि" है एवं संकोच गति सोम है । इन्हीं अग्नि एवं सोम के योग से वस्तु में घनता एवं तनुता दोनों मिली रहती है । घनता (संकोच गति) के हेतु वस्तु में स्थूलता नहीं आती क्योंकि प्रत्येक परमाणु के विशकलित होने से वस्तु का स्वरूप नहीं बनने पाता । इसी प्रकार तनुता से वस्तु का प्रदेश वाला स्वरूप बनता है । यदि तनुता न होती तो परमाणु घन होते- होते इतने सूक्ष्म रूप में आ जाते कि वस्तु का प्रदेश-स्वरूप नहीं बनता । "अ-इ-ऋ-लृ" हैं । पर-ब्रह्मात्मिका तत्व ब्रह्मा—विष्णु आदि पाँच तत्त्वाक्षरों के वाचक

विद्या ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम पर अवलम्बित है तथा सम्पूर्ण शब्दविद्या अ-इ-उ-ऋ-लृ इन पाँच शब्दाक्षरों के गर्भ में समाविष्ट है।

प्राणों का लक्षण

जगत् में जो भी क्रिया है वह प्राण का ही रूप है। प्राण जब एक स्थान से दूसरे स्थान से सम्बन्ध रखता है तो उस वस्तु में कम्पन होता है— यह कम्पन्न ही क्रिया है। शतपथब्राह्मण में प्राण का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-तन्मात्राभावेभ्योऽसंस्पृष्टः अधाच्छदः
भूतप्रतिष्ठापकः शक्तिविशेषभाव एव प्राणः।"[४]

"तथा प्राणाः" सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकर ने प्राण सामान्य को ब्रह्म का विकार माना है। उनके अनुसार जिस प्रकार आकाश आदि तत्व परब्रह्म के विकार हैं उसी प्रकार प्राणसामान्य भी परब्रह्म का विकार है। इस मुख्य प्राण से ही अन्य प्राण उत्पन्न हुए।[५]

प्राण का लक्षण एवं स्वरूप वर्णन करते हुए विद्यावारिधि मधुसूदन जी ने प्राण के दस लक्षण बताए हैं—

(१) प्राण "कुर्वद्रूप" अर्थात् प्रतिक्षण क्रियाशील है। जगत् की समस्त क्रियाएं प्राणरूप हैं।

(२) पंचभूतों के लक्षण अर्थात् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श व शब्द प्राणों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

(३) कोई भी प्राण किसी भूत का आश्रय लिये बिना नहीं रहता, अपने इसी स्वभाव के कारण प्राण "वाक्" में रहता हुआ विधरण धर्म से प्रतिक्षण घन बनता है। यही कारण है कि प्राण को अर्थवान् कहते हैं।

(४) प्राण में आसंजन धर्म रहता है। अपने इसी आसंजन धर्म के कारण प्राण विधरण करता है।

(५) प्राण का पांचवा लक्षण है विसारिता— अर्थात् अल्पप्रदेश में रहकर भी अधिक प्रदेश में रहना। प्राण जिस स्थान पर रहता है उसे व्याप्त कर लेता है। जैसे— दीपक का प्रकाश।

(६) प्राण मन की इच्छा के अनुरूप ही कार्य करता है। हमारे सो जाने पर भी प्राण का व्यापार ईश्वर के मन की प्रेरणा से नित्य बना रहता है।

(७) प्राण कभी सोता नहीं— इसे अप्रसुप्ति कहते हैं ।

(८) प्राण कभी विश्राम नहीं करता । प्राण में जो थकान होती है वह वस्तुतः मन की थकान है । मन की प्रेरणा न रहने से प्राण शिथिल हो जाता है ।

(९) प्राण का नवां लक्षण है— संक्रमण । प्राण एक वस्तु से दूसरी वस्तु में चला जाता है ।

(१०) प्राण का अन्तिम लक्षण है— प्राणापान अर्थात् चलते-चलते रुक जाना एवं पुनः चलना ।

इन लक्षणों में पर्यालोचन से प्राण का स्वरूप हमारे समक्ष स्पष्ट होता है । प्राण निरन्तर गतिशील रहते हैं । आसंजन धर्म के कारण प्राण घनता को प्राप्त करते हैं । दो परमाणु परस्पर आसंजन धर्म से ही जुड़ते हैं । प्राण में यदि आसंजन धर्म न हो तो कोई वस्तु अपने स्वरूप को प्राप्त न हो । प्राण समस्त जगत् में व्याप्त है । प्राण गतिशील होने पर भी मन की प्रेरणा के बिना गति नहीं करता । इस प्रकार प्राण गति करने में स्वतंत्र होने पर भी मन की प्रेरणा के बन्धन से बंधे रहते हैं । यही कारण है कि मन को प्राण का ब्रह्म कहा गया है ।

प्राण के पर्याय

समस्त वैदिक-दर्शनों में प्राणों की सत्ता स्वीकार की गयी है । मूल में बल के रूप में व्यवहृत प्राण ही जगत् में कर्म, माया, गति, वायु इत्यादि रूप में जाना जाता है । वैशेषिकाचार्य प्रशस्तपाद ने गमन को कर्म का पर्याय माना है । उनके अनुसार जिस प्रकार आत्मत्व व पुरुषत्व एक दूसरे के पर्याय है ।

"आत्मत्वपुरुषत्ववत् कर्मत्वपर्याय एवं गमनत्वमिति ।"[६]

यद्यपि उन्होंने कर्म अथवा गमनत्व को जगत् का उपादान कारण नहीं माना है । कर्म की उत्पत्ति की विधि क्या है ? इसकी व्याख्या करते हुए प्रशस्तपाद मूसल का उदाहरण देते हैं— "जैसे जब कोई हाथ में मूसल लेकर इच्छा करता है कि " मैं हाथ से मूसल उछालूं" उसके बाद प्रयत्न की उत्पत्ति होती है, इस प्रयत्न, हाथ एवं आत्मा के संयोग से उसी समय हाथ में क्रिया उत्पन्न होती हैं । यही प्रयत्न, प्राण है, गति है जिसे प्रशस्तपाद ने कर्मसाध्य माना है । छान्दोग्योपनिषद् में प्राण को आकाश कहा गया है ।

प्राण समस्त आकाश में व्याप्त रहता है, अतः आकाश के लिये प्राण शब्द का व्यवहार होता है। इसी प्रकार प्राण के लिये वायु शब्द भी व्यवहृत होता है। जिन अग्नि एवं सोम की हमने पूर्व में चर्चा की है जिनमें अग्नि गतिस्वरूप एवं सोम स्थितिस्वरूप है— वे ही अग्निप्राण-गतिशीलता से वायु एवं सोमप्राण-स्थितिशीलता से आकाश कहे जाते हैं। यही कारण है कि श्रुति प्राण को कहीं पर "प्राणो वै वायुः"[७] व कहीं पर आकाश कहती है—

"अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि
भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यत आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशे ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः
परायणम्।"[८]

शंकर ने भी प्राण को ब्रह्म का लिंग होने से ब्रह्म ही माना है।[९] महामहिम ओझाजी ने आभु, कर्म, माया, बल को पर्यायवाची माना है।

यन्निर्विशेषं नु तदाभुनाम्ना तदभ्वमन्यन्नु य तो विशेषाः।
तदाभु तु ब्रह्म, तद्भ्वमेवं कर्मेति मायेति वदन्ति देवाः॥[१०]
यद् ब्रह्म तन्नाम रसं वदामो बलं वदामः पुनरत्र कर्म्म।
रसः स्थिरतत्र बलं प्रविष्टं बलानुरोधाद् रस एव विश्वम्॥[११]

निर्विकारी ब्रह्म में जो विकार है वही माया है—

यद्वाहमानन्दमयोऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मास्मि स निर्विकारः।
येऽस्मिन् विकाराः प्रतिभान्ति नाना मिथ्यैव ते भानमिदं तु माया।[१२]

विज्ञान इसे ऊर्जा कहता है।

प्राणों की अनन्ता

अव्यय, अविकारी, शान्त ब्रह्म में बल से क्षोभ उत्पन्न हुआ, इन बलों की न्यूनाधिकता से प्राण भी अनेक प्रकार के हुए। अनन्त होने पर भी मुख्य प्राण सात ही कहे गये हैं व इन सात प्राणों से ही अन्य प्राणों की उत्पत्ति मानी गयी है। मूख्य प्राण ही ऋषि अभिधा से व्यवहृत होते है।

विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
तेऽङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः, परिजज्ञिरे॥[१३]

ऋषि (प्राण) विविधस्वरूप के हैं, इनमें कम्पन्न गम्भीर होते हैं, ये ऋषि अंगिरा के पुत्र हैं, ये साक्षात् अग्नि से ही प्रकट हुए हैं।"

जगद्गुरु शंकराचार्य ने भी प्राणों की अनन्तता का अनुमोदन श्रुतिप्रमाण देते हुए किया है—"यथाग्नेर्ज्वलतः क्षुद्राविस्फुलिंगात्युच्चरन्त्येवमेवे तस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः इति एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।"[१४]

इन सात मुख्य प्राणों का एक मण्डल होता है। इस मण्डल का तीन भागों में विभाजन किया जा सकता है— अभय, सामन्त एवं पारावत। केन्द्रस्थ प्राण इन्द्र अथवा अभय नाम से व्यवहृत होता है।

मध्यं वै नाभिः मध्यमभयम्।[१५]

इस केन्द्रस्थ प्राण के ऊपर एवं नीचे सीध में दो-दो पुरुष प्राण रहते हैं जिन्हें अंगी प्राण अथवा आत्मा कहते हैं। इन अंगी प्राणों के बाहर के भाग में दोनों ओर दो पक्ष के रूप एवं नीचे मूल में एक पुच्छ प्राण रहता है। इस प्रकार ये सात सामन्त प्राण हैं। इन्द्र प्राण इन सात प्राणों पर ही अधिष्ठित रहता है। ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ इन सात प्राणों के मण्डल से युक्त होता हुआ ही अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। ओझाजी ने आँख की पुतली के उदाहरण से इस प्राणमण्डल के स्वरूप को स्पष्ट किया है। अन्त में पारावत प्राण होते हैं। अभय, सामन्त एवं पारावात प्राणों का यह मण्डल स्वायम्भुव मण्डल कहलाता है। केन्द्रस्थ इन्द्र प्राण ही स्वयम्भू अथवा प्रजापति है। अंगी प्राणों के नष्ट होने पर पूरा वृत्त ही नष्ट हो जाता है, परन्तु प्रजापति (इन्द्रप्राण) नष्ट नहीं होता।

स्वायम्भुव मण्डल

स्वायम्भुव मण्डल की उत्पत्ति कैसे होती है? इसका वर्णन भी हमें ओझाजी के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि एवं सोम रूप अपनी पंच कलाओं से युक्त अक्षरपुरुष क्षरपुरुष (प्रकृति ब्रह्म) के पंचविध होने के कारण स्वयं भी पाँच प्रकार का होता है। प्राणमय होता हुआ स्वयम्भू, आपोमय होता हुआ परमेष्ठी, वाङ्मय होता हुआ सूर्य, अन्नमय होता हुआ चन्द्र एवं अन्नादमय होता हुआ पृथ्वीलोक बनता है। स्वयम्भू प्रजापति ही स्थूल सृष्टि का कारण बनता है। स्वायम्भुव मण्डल में केन्द्रस्थ प्राण ही प्रजापति है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनि परिपश्यन्ति धीरा तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥[१६]

प्रत्येक प्रजापति मन, वाक्, प्राण का समवाय मात्र है, जगत् का प्रत्येक पदार्थ मन, वाक् व प्राणमय है, अतः प्रत्येक पदार्थ प्रजापति है। यही प्रजापति की अनन्तता है। इस स्वयम्भू से ही दशाक्षर विराट् एवं विराट् से दस प्राणों की उत्पत्ति हुई— मरीचि, भृगु अंगिरा, अत्रि, वशिष्ठ, अगस्त्य, पुलस्त्य, पुलह, यज्ञ, प्रचेता, कौशिक एवं नारद।

अग्नीषोमात्मकं जगत्

प्राणों से सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई यह जानने के लिये हमें अग्नीषोम विद्या को जानना आवश्यक है। अक्षर-पुरुष कलाओं में निरूपित अग्नि एवं सोम समस्त जगत् में व्याप्त है। पृथ्वी, सूर्य और पृथिवी मण्डल में अग्नि की प्रधानता है तथा चन्द्र एवं परमेष्ठी मण्डल सोम प्रधान है। जगत् की समस्त क्रियाएं इन्हीं अग्नि एवं सोम से व्याप्त हैं। अग्नि (विकासगति) व सोम (संकोचगति) की प्रधानता—अप्रधानता के आधार पर ही सृष्टि होती है। अग्नि सोम के सम्बन्ध से दो प्रकार का होता है— एक वह अग्नि जो अन्नाद है सोम को खाता है, तथा सोम से मिलकर यज्ञरूप हो जाता है, दूसरा अग्नि सोम विरोधी है वह अग्नि में आती हुई सोम की आहुति का नियमन करता है— अतः "यम" कहलाता है। इनमें प्रथम अग्नि (जो सोम को खाता है) से यौगिक अग्नि उत्पन्न होता है। यह यौगिक अग्नि स्थूल एवं रूपवान् होता है तथा "भौतिक अग्नि" कहा जाता है। यम के द्वारा अग्नि व सोम का वियोग होता है, अतः सोम रूप अन्न को प्राप्त न करके स्वयं ही बुझ जाता है।

सोम भी अग्नि के सम्बन्ध से दो प्रकार का होता है— एक वह जो अग्नि के संयोग से जलता है एवं जलकर यौगिक अग्नि बनता है वह सोम है। दूसरा सोम अग्नि से जलता नहीं अपितु प्रबल होने पर अग्नि को हटा देता है इसे "आप्" कहते हैं। अमृतत्व धर्म से सोम व अग्नि का साधर्म्य है, मृत्यु धर्म से "यम" व "आप्" का सादृश्य है। रूक्षता धर्म से "यम" व अग्नि का तथा स्नेह धर्म से "आप" व सोम का साधर्म्य है। इस प्रकार अग्नि व सोम परस्पर सम्बन्ध से ही चार प्रकार के हो जाते हैं—

अग्नि, सोम यम्, आप्

सोमतत्व मन की ओर गति करता है, अग्नि व यम "प्राण" की ओर तथा आप् "वाक्" की ओर गति करता है। मन के कारण सोम वस्तु के बनने में आयतन उत्पन्न करता है। प्राण के कारण अग्नि व यम क्रिया उत्पन्न करते हैं एवं वाक् के कारण "आप्" वस्तु की उत्पत्ति में उपादान होता है।

अग्नि, सोम, यम व आप् में प्रत्येक अमृत व मृत्यु भेद से दो-दो प्रकार का होता है, मन से संयुक्त होकर चारों अमृत हैं व वाक् से संयुक्त होकर मृत्यु हैं। तात्पर्य यह है कि मन

से जब तक संयुक्त रहते हैं तब तक अमूर्त रहते हैं एवं वाक् से संयुक्त होकर मूर्त बनते हैं— अमूर्त होना ही अमृत है एवं मूर्त ही मृत्यु है। इन अमूर्त एवं मूर्त के संयोग से यौगिक सृष्टि होती है। यही अग्नीषोम विद्या का रहस्य है जिसका विस्तार हमें समीक्षा चक्रवर्ती महामहिम श्री ओझाजी के ग्रंथों में यथास्थान प्राप्त है।

इस प्रकार एक ही प्राण समस्त ब्रह्माण्ड में भिन्न-भिन्न रूपों में व्याप्त है। जगत् के सभी पदार्थ इस प्राणतत्व के आधार पर ही गति एवं स्थिति को प्राप्त होते हैं। श्रुति भी इसका निरूपण करती है।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते।"[१७]

इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया का अवलोकन करने पर हम ब्रह्म के विकार रूप बल प्राण को ही सृष्टि के रूप में पाते हैं। शंकर का मायावाद इसे मायावाद के रूप में सांख्य इसे प्रकृति के रूप में, न्यायवैशेषिक अदृष्ट के रूप में तथा विज्ञान ऊर्जा के रूप में ग्रहण करता है। पण्डित मधुसूदन जी ओझा द्वारा विवेचित प्राण के इस स्वरूप एवं सृष्टि-प्रक्रिया के सिंहावलोकन से "सर्व खल्विदं ब्रह्म" का रहस्य हृदयंगम होता है। ब्रह्म सदैव पूर्ण रहता है, बल उत्पन्न होने पर भी उसका अपचय नहीं होता। बल प्राण द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति होने पर न तो कृत्स्नप्रसक्ति दोष होता है और न ही निष्फलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्" इत्यादि श्रुतिबोधित निरवयवत्व का ही व्याघात होता है क्योंकि श्रुति ब्रह्म की अकृत्स्नप्रसक्ति एवं निरवयवता दोनों का प्रतिपादन करती है।[१८]

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

पण्डितजी ने प्राण के इस वैज्ञानिक स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है जिसे मैंने हम संक्षेप में प्रस्तुत किया है। ब्रह्माण्ड से लेकर मनुष्य, कृमि, कीट आदि के शरीर इसी प्राण से व्याप्त हैं। मनुष्य शरीर में यही प्राण व्यान, उदान, समान, अपनादि, रूप में प्राप्य है जिसका वर्णन यहाँ अनपेक्षित है।

उद्धृत अंश—

१. शत. ६.१.१.१
२. ब्रह्मविज्ञान, पृ.—१२२
३. संशयतदुच्छेदवादः ३.५.२.१
४.
५. ब्रह्मसूत्र शा.भा. २/४/१
६. प्रशस्तपादभाष्य (किरणावली सहित) गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज पृ. २६५.
७. शत. १.१.१.८
८. वही १.९.१

९. ब्र.सू. शा. भाष्य १.१.२३
१०. संशयवदु. १.१.४
११. वही, २.१.३
१२. वही— ४.९.२९
१३. ऋग्वेद १०.६२.५
१४. मुण्डक. २.१.८
१५. शत. १.१.२.२३
१६. यजु. ३१/१९
१७. छान्दो. १.११.५
१८. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य— २.१.२६.२७

वाक् तत्व का वैज्ञानिक विवेचन

डॉ. श्रीकृष्ण शर्मा
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।

"ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् ।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥"[१]

विज्ञान दृष्टि से शब्द और अर्थ दोनों का प्रादुर्भाव एक ही नित्य वाक्-तत्व से हुआ है । मीमांसकों और वैयाकरणों ने जिसे नित्य-शब्द कहा है, वह यही वाक्-तत्व है, जिससे अर्थ और वर्णात्मक अनित्य-शब्द का प्रादुर्भाव हुआ है, शब्दों और अर्थों का मूल-प्रभव एक ही वाक्-तत्व है, अतः ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्यादि के रूप में भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करने वाली उस वाग्-देवी की हम उपासना करते हैं ।

यह सम्पूर्ण विश्व वाग्देवी का ही विवर्त है, किन्तु एक वैज्ञानिक तब तक सन्तुष्ट नहीं हो सकता है, जब तक कि वाग्देवी के साक्षात् विवर्त शब्द और अर्थ का रहस्य समझ में नहीं आ जावे । अतः शब्दवेद के रूप में वाक् तत्त्व का अविर्भाव हुआ ।N.P. आचार्य मधुसूदन जी ने "नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा"[२] (ब्रह्माजी ने नित्या वाक् को अवर लोगों में अभिव्यक्त किया) इस श्रुति-वाक्य के द्वारा तथा

अनादि-निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥[३]

(वेदमयी दिव्या वाक् नित्य है, अतः आदि और अन्त से रहित भी है, चूँकि संसार की सभी प्रक्रियाएं इसी पर आश्रित हैं, अतः ब्रह्माजी ने सबसे पहले वेद-वाङ्मय के रूप में अवरों को अभिव्यक्त किया) इस स्मृति-वाक्य से वेद की वाक्-स्वरूपता तथा नित्यता प्रकट की है । यही कारण है कि वेदों का स्वतः प्रामाण्य प्रथित है । "वाग्-विवृताश्च वेदाः" इस श्रुति वाक्य से एवं उक्त प्रतिपादनानुसार वागात्मक वेद को आचार्य भर्तृहरि ने सम्पूर्ण विश्व का कल्पादि में निर्मापक कहा है—

"शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नाय विदो विदुः ।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तित ॥"[४]

इस प्रकार शब्दमयी (वेदमयी) वाग्-देवी इस चराचर जगत् की मूलप्रकृति मानी गई है। इसीलिए शब्द को ब्रह्म कहा गया है तथा शब्दब्रह्म से परब्रह्म का अधिगम माना गया है—

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥"[५]

वस्तुतः इस नित्य शब्द की उपासना से व्यक्ति न केवल इसी लोक में, अपितु अपर लोक में भी सुफल को प्राप्त करता है, किन्तु वह शब्द केवल श्रवणेन्द्रिय का विषय नहीं, बल्कि सम्यग् अर्थज्ञान पूर्वक प्रयुक्त किया जाकर उपासना के द्वारा लब्ध होने वाले है

"एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।"[६]

इस प्रकार की अपूर्व- महिमामय यह शब्द सम्पूर्ण चराचर जगत् को व्याप्त किये हुए है, संसार का ऐसा कोई पदार्थ, या पदार्थ-ज्ञान नहीं है जो शब्द के विना आभासित हो रहा हो। शब्द और अर्थज्ञान परस्पर इस प्रकार से अनुस्यूत हैं कि पांसूदकवत् पार्थक्य कर पाना सम्भव नहीं है—

"न सोऽस्ति प्रत्यत्यो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥" (वा.प.)[६]

चूंकि शब्द के बिना अर्थ नहीं है, अर्थ के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान सविषयक होता है। निर्विषयक नहीं, अतः यह सम्पूर्ण जगत् मूलतः वागात्मक शब्द से इतना अधिक जुड़ा हुआ है कि सूर्य-चन्द्र-तारकादि विशिष्ट प्रकाशक तत्त्वों की विद्यमानता में भी शब्द तत्त्व के अभाव में अन्धकार में निमग्न हो जाता, अतः महाकवि दण्डी ने तर्क-संगत ही कहा है —

"इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥"[८]

आचार्य भर्तृहरि ने तो शब्दतत्त्व का ब्रह्म के साथ हृदयग्राही तादात्म्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ब्रह्म-तत्त्व के समान शब्द-तत्त्व भी उत्पत्ति और विनाश से रहित है, इसमें भी पूर्वापरीभावराहित्य के कारण क्रम नहीं है तथा यह विभक्त ककारादि, अक्षरस्वरूपा वैखरी वाणी का निमित्त होती हुई अविद्या स्वरूप बाह्यार्थवासना के द्वारा भासित होता है, जो शब्दार्थोभयरूप है, जिससे सांसारिक उत्पत्ति या व्यवहार-प्रक्रिया का निर्वाह होता है। वह शब्दतत्त्व ही पश्यन्ती (परा) वाग्रूप ब्रह्म है—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।

विवर्त्तते अर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥[९]

इस तरह से यह वाक्-तत्त्व रूप शब्दतत्त्व ही अविद्यालक्षण भोक्तृत्व स्वरूपावस्था से विशिष्ट ज्ञेयरूपता से शून्य चैतन्य मात्र "जीव" कहलाता है। वही पश्यन्ती स्वरूप वाक्तत्व अर्थप्रतिपादन की इच्छा से मनोविज्ञान को प्राप्त होने पर मध्यमा वाक् के नाम से तथा मुखविवर को प्राप्त होकर कण्ठताल्वादि स्थानों में विभक्त होकर ककारादि वर्णों के रूप में वैखरी वाक् कहलाता है, वही अविद्या रूप बाह्यार्थ वासना से घटपटादिस्वरूप में विवर्त्तभाव को प्राप्त कर चक्षुरादीन्द्रियों से गृहीत होता है, अतः वागात्मक शब्द तत्त्व ही नित्य शब्द है, सत्य है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि महान् दार्शनिक भर्तृहरि ने नित्य वाक् के औपाधिक तीन स्वरूप माने हैं—

१. पश्यन्ती २. मध्यमा ३. वैखरी।

इनमें से पश्यन्ती को ही ब्रह्म तत्त्वात्मकता माना है—

"वैखर्या: मध्यमायाश्च पाश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्याः वाचः परं पदम्॥"[१०]

इस प्रकार वाणी के तीन भेद होने पर ही द्वितीया वाक् का नाम "मध्यमा" अन्वर्थक है। प्रकारान्तर से इस वाक्त्रय के तीन-तीन भेद और होते हैं— स्थूला, सूक्ष्मा, परा। इस प्रकार यह नवविधा हो जाती है। वर्णों के विभाग से रहित स्वरप्रधान संगीतरूपा वाणी स्थूलापश्यन्ती होती है, जिज्ञासा-युक्त होने पर सूक्ष्मा पश्यन्ती तथा जिज्ञासा-रहित संविद् रूप में वही परा-पश्यन्ती कहलाती है। इसी प्रकार चर्मावनद्धमृदंग पर हाथ के आघात से उत्पन्न ध्वनि रूपा वाक् स्थूला मध्यमा, वही वादन की इच्छास्वरूपा सूक्ष्मा मध्यमा तथा विवादयिषा से रहित निरुपाधिक वही वाक् परा-मध्यमा कहलाती है। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् विलक्षण रूप से प्रतीत होने वाली वर्ण स्वरूपा वाक् स्थूला वैखरी, विवक्षा रूप में वही सूक्ष्मा वैखरी, विवक्षा से रहित होने पर संवित् स्वरूपा वही परावैखरी के नाप से अभिहित होती है।[११]

आशय यह है कि जिस प्रकार एक ही प्रकृत्यात्मिका बिन्दु से रेखात्रय की परिणति होने पर तीनों रेखाओं की मूलभूत बिन्दुएं भी एकत्र ही अवस्थित रहती हैं, उसी प्रकार एक वाक् तत्त्व ही पूर्वोक्त परासूक्ष्मअभिव्यक्त होती हुई तत्तदर्थ के वाचक स्फोटात्मक शब्द के रूप में परश्रोत्रेन्द्रिय से अग्राह्य जपादि में बुद्धि द्वारा ग्राह्य सूक्ष्मा वाक् ही मध्यमा-वाक् कहलाती है। वही वायु जब आस्य पर्यन्त आती है तथा मूर्धाभाग से टकराकर पुनः लौटती

हुई तत्तत् कण्ठताल्वादि स्थानों में अभिव्यक्त होकर परश्रोत्रेन्द्रिय द्वारा भी ग्राह्य होती है तो उसे "वैखरी" संज्ञा दी जाती है। इनमें से पश्यन्ती वाक् व्यवहारातीत है तथा योगियों को समाधिकाल में ही इसका बोध होता है, किन्तु परा वाक् तो योगियों के लिए भी अगम्या मानी गई है—

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी।
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्त्तते॥[१२]

इस प्रकार चतुर्विधा वाक् का तन्त्रशास्त्रानुसारी निरूपण नागेश ने प्रस्तुत किया है। किन्तु प्राचीन वैयाकरणों ने परा वाक् "पश्यन्ती" को ही माना है, भिन्न नहीं—

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म पदनादि तथाक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्॥[१३]

पंडित मधुसूदनजी ने वाक् तत्त्व की विस्तृत व्याख्या करते हुए अधिक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है। उन्होंने निमांकित ऋङ्मन्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति॥[१४]

अर्थात् वागवच्छिन्न चार स्थान होते हैं— १. वाचस्पत्य २. ब्रह्मणस्पत्य ३. ऐन्द्र तथा ४ भौम। निश्चित है कि स्थान-भेद से वाग्-भेद भी होता है, अतः क्रमशः १. वेकुरा, २. सुब्रह्मण्या, ३. गौरिवीता और ४. आम्भृणी, ये चार वाक् हुईं। पारमेष्ठ्य मण्डल महासमुद्र में सुब्रह्मण्या, सौर मण्डल महाब्रह्माण्ड में गौरिवीता तथा पार्थिवमण्डल में सोममयी आम्भृणी वाक् एवं स्वायम्भुव मण्डल परमाकाश में वेकुरा वाक् मानी गई है। इस प्रकार आम्भृणी वाक् इस पृथ्वी मण्डल पर सर्वत्र व्याप्त है। इसी को सभी मनुष्य धारण करते हैं। अवशिष्ट वाक्-त्रय गुहानिहित होने के कारण सामान्यजन को अर्थावबोधन नहीं करती हैं, अतः प्रत्यक्षविषय नहीं बनती हैं—

अथवा— १. अमृता २. दिव्या ३. वायव्या तथा ४. ऐन्द्री— ये चार प्रकार की वाक् होती हैं। मन और प्राण से सम्बद्ध सत्या वाक् ही अमृता कहलाती है। ऋग्—यजुः सामात्मक वेदत्रय भी अमृता वाक् स्वरूप ही हैं। इन्हीं से सर्व-पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, इन्हीं में स्थित रहते हैं और इन्हीं में विलीन हो जाते हैं। दार्शनिक भर्तृहरि का अभिप्रेत भी यही रहा है—

"शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्त्तत॥[१५]

ओझाजी के पट्ट शिष्य मोतीलाल जी शास्त्री ओझाजी के वक्तव्य की स्पष्ट करते हुए उपनिषद्विज्ञान भाष्य के तृतीय खण्ड में कहते हैं कि— गति लक्षण प्राण यत् है, स्थितिलक्षणा वाक् 'जू' है, प्राणात्मक 'यत्' वायु है, वागात्मक 'जू' आकाश है, दोनों की समष्टि 'यज्जू' है— यही देवभाषा में "यजुः" अथवा नित्य यजुर्वेद है। यही ऋक्-साम नामक आयतनों से नित्य वेष्टित हुआ "त्रयीवेद" नाम से प्रसिद्ध हुआ। सत्यस्वरूपा वाक् वेदमहिमा के कारणवेदवाक् है, क्योंकि वेद इसी वाक् के विवर्त हैं— 'वाग्-विवृताश्च वेदाः'।[१६]

सत्यलक्षणा मनः प्राणगर्भिता इस आत्म-वाक् को ही परा वाक् कहा जाता है। इसी के चार विवर्त रूप भेद हैं— १. आम्भृणी वाक् २. बृहती वाक् ३. सुब्रह्मण्या वाक् तथा ४. अनुष्टुप् वाक्।

इस परा वाक् के ही चार लोक विवर्त स्वरूप हैं जो कि क्रमशः उक्त वाक् चतुष्टय से सम्बद्ध हैं—

१. परमेष्ठी २. सूर्य ३. चन्द्रमा ४. पृथिवी। इस प्रकार यह अमृता वाक् का ही वैज्ञानिक स्वरूप हुआ। दूसरी दिव्या वाक् है जो सरस्वान् नाम से ख्यात है। दिक्-सोम इसके उपनिषद् हैं, अतः यह सौम्या वाक् भी कहलाती है।

उक्त अमृता और सौम्या वाक् श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यनहीं मानी गई हैं, क्योंकि इनमें ध्वनि नहीं होती है। श्रोत्रग्राह्य ध्वनि दो प्रकार की होती है— अनर्थक तथा वर्ण-पद— वाक्यादि के रूप में विभाजित सार्थक।

अनर्थक वाक् का वायु ही ब्रह्म है और वायु ही आकाश है, अतः यह वायव्या वाक् है, क्योंकि गतिविहीन होने पर भी वायु के द्वारा ही इधर-उधर ले जाई जाती है, इसी को सरस्वती वाक् भी कहते हैं जो कि विश्वोपजीवनी है। अमृता और दिव्या वाक् के समान यह भी अव्याकृत ही है। सार्थक वर्ण-पदात्मक प्रकृति- प्रत्ययों का विभाजन इसमें नहीं है। इसी वाक् में इन्द्र तत्त्व का प्रवेश आने पर विभक्ति-युक्तता आती है और विविध आकारों से व्याप्त होती हुई यह ऐन्द्री वाक् व्याकृत होती है। इन में अमृता-दिव्या-वायव्या— ये तीनों वाक् पार्थिव वाग् रूप नहीं होने के कारण अस्मदादि का विषय नहीं बन पाती हैं, जबकि ऐन्द्री वाक् ही अकार-ककारादि के रूप में अभिव्यक्त होती है।

उक्त ऐन्द्री वाक् का भी अध्यात्म विभाजन है—१. परा २. पश्यन्ती ३. मध्यमा ४. वैखरी। इन में से बुद्धिस्था वाक् परा, मानस- जप-स्वरूपा पश्यन्ती, नादध्वनिरहित

कर्णपिधानात्मिका मध्यमा तथा नादध्वनिपूर्णा दूर से भी श्रोत्रग्राह्या वैखरी। इनमें से पूर्वोक्त तीन अंश प्रच्छन्न हैं तथा चतुर्थांश "वैखरी" जनसामान्यवेध है। यथा—

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा।
द्योतितार्था तु पश्यन्ती सूक्ष्मा बागनपायिनी॥"[१७]

तुरीय वाग् वैखरी के भी चार वैज्ञानिक विभाजन किये गये हैं— "तदेतत् तुरीयं वाचो निरुक्तं मनुष्याः वदन्ति। अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरूक्तं यत् पशवोऽदन्ति। अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यंद्वयांसि वदन्ति। अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं वदन्ति।"[१८]

इस प्रकार वैखरी का निरुक्तांश मनुष्य बोलते हैं, अवशिष्ट तीन अनिरुक्तांश क्रमशः पशु-पक्षी और सरीसृप बोलते है। इन में से भी मनुष्य-प्रयुक्त निरुक्त वैखरी वाक् के भी चार विभाजन हैं—

१. प्राण २. स्वर ३. वर्ण तथा ४. ध्वनि।

निम्नांकित पाणिनीय शिक्षोक्ति इसमें प्रमापिका हैं—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहत्य सः प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारूतः।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥"[१९]

रूपान्तर से भी निरुक्ता वैखरी के चार विभाजन हैं—

१. वर्ण २. अक्षर २. पद ४. वाक्य। इनमें वाक्य ही अर्थावबोधक हैं। अतः इसी को मनुष्य प्रयोग में लाते हैं, इसीलिए न्यायभाष्यकार ने कहा है "पदसमूहो वाक्यमर्थ-समाप्तौ समर्थम्।"[२०]

उक्त वर्णादि के पुनः चार-चार विभाजन होते हैं—

(१) वर्ण— स्पृष्ट, ईषत् स्पृष्ट, अर्धस्पृष्ट।

(२) अक्षर— १. पूर्वापर— उभयाविधव्यापार से शून्य, जैसे—'अ'

२. पृष्टव्यापार विशिष्ट तथा पुरतो व्यापार शून्य, जैसे—'स्म'

३. पृष्ठतो व्यापार शून्य तथा पुरतो व्यापार विशिष्ट, जैसे—'ऊर्क्'

४. उभयथा व्यापार विशिष्ट, यथा 'वाक्'।

(३) पद— नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात।

(४) वाक्य— नाभिस्थान, प्रक्रमत्रयस्थान, मुखप्रदेश— पञ्चकस्थानं तथा श्रोत्रस्थान।

पुनः वाक्य भी चतुर्धा विभक्त है—१. मित २. अमित ३. स्वर तथा सत्यानृत।

उपर्युक्त विवरण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि आचार्य मधुसूदन जी ने वाग्देवी के स्वरूप का अत्यन्त सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है।[२१] इससे यह भी द्योतित होता है कि यह सम्पूर्ण संसार वाङ्मय ही है, वाग्देवी का ही यह वैभव है। अतः उसके स्वरूप को समझने के लिए अधिकाधिक मनन की आवश्यकता है।

यह वाक् विना मन और प्राण के नहीं रहती है, अतः इन तीनों का समष्टि रूप ही आत्मा है—

"स वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः।"[२२]

'वाक्' शब्द की अन्वर्थकता भी उक्त संकेताभिप्रायक ही है— उकारः प्राणमाह, अकारश्च मनः, उश्च अश्च इति वौ, तौ अञ्चतीति वाक् अर्थात् तद्गर्भिता (मनः प्राणगर्भिता) सहचरी वा भवतीति वाक्। अंत में "महर्षिकुलवैभवम्" के इसी अंश से समापन करता हूं—

"वाचश्चेन्द्रेष्वेकत्वादात्मायमिन्द्र इत्युच्यते।
तथा च कोषीतकि श्रुतिरप्याह—तत् सर्व आत्मा
वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति। तदेतद् ऋचाभ्युदितम्,
नेन्द्राद् ऋते पवते धाम किञ्चनेति। वाग् वा
इन्द्रः। न हि ऋते वाचः पवते धाम किञ्चन।"[२३]

अर्थात् प्रत्येक पदार्थ की आत्मा वाक् में प्रलीन है, अतः आत्मा वाङ्मय है। कोई भी स्थान इन्द्र के विना पवित्र या क्रियाशील नहीं है। वाक् ही इन्द्र है, अतः वाक् के विना कोई भी वस्तु क्रियाशील या पवित्र नहीं है।

परामर्श-सूचिका—

१. मधुसूदन ओझा, पथ्यास्वस्तिः (जोधपुर १९६९), पृ. ३०
२. माहर्षिकुलवैभव, पृ. ४३
३. (क) महाभारत, शान्ति पर्व (१२३२/२४)
(ख) कूर्मपुराण, अध्याय — २
४. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १/२
५क. महाभारत, शान्ति पर्व १२३२/३०१
५ख. बिन्दूपनिषद् , १७
६. पतंजलि, व्याकरणमहाभाष्य, पा.सू. ६/१/८४
७. वाक्यपदीय, १/१
८. दण्डी, काव्यादर्श
९. वाक्यपदीय, १/१
१०. वही, १/१४२
११. (क) शिवदृष्टि में वैयाकरणमतनिरूपण
(ख) सूर्यनारायणशुक्ल, वाक्यपदीय की भावप्रदीप संस्कृतव्याख्या १/१४३
१२. वाक्यपदीय की १/१४२ कारिका पर हरिवृषभ की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत।
१३. वाक्यपदीय की भावप्रदीप संस्कृत व्याख्या १/१४३ में उद्धृत
१४. ऋग्वेद, १/१६४/४५
१५. वाक्यपदीय, १/१२०
१६. मुण्डकोपनिषद्, १/१४
१७. पथ्यास्वस्ति, पृ. ३२
१८. (वाजसनेय श्रुतिवाक्य) पथ्यास्वस्ति, पृ. ३३
१९. पाणिनीय शिक्षा, ६-८
२०. वात्स्यायन, न्याभाष्य २/१/५५
२१. पथ्यास्वस्ति, पृ. २८-३६
२२. शतपथब्राह्मण, १४/४/३/१०
२३. (क) मधुसूदन ओझा, महर्षिकुलवैभव, (पूर्वार्ध), पृ. २५४
(ख) कौषीतकि श्रुति, २/७

मन, प्राण और वाक् का स्वरूप

क.च. कुलिश

बृहदारण्यक उपनिषद् में और शतपथ ब्राह्मण (काण्ड चौदह) में आत्मा के लिये कहा गया है— "स वा एष आत्मा वाक्मय, प्राणमयोः मनोमयः" अर्थात् आत्मा वाक्, प्राण और मन की समष्टि है। लोक व्यवहार में हम जब किसी संकल्प को, समग्रता को आग्रहपूर्वक प्रकट करते हैं तो उसके साथ मनसा, वाचा कर्मणा, जोड़ देते हैं अर्थात् मन, वचन, कर्म की एकता को हम समग्र या सर्वात्मना भाव का सूचक मानते हैं। इन्हीं तीन तत्वों को आत्मा के तीन मनोता बताया गया है।

इन मनोताओं का पृथक्-पृथक् स्वरूप वेदवाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा ने अपने ग्रन्थों में बार-बार प्रस्तुत किया है। ब्रह्म-विज्ञान उनका ऐसा ग्रंथ है जो उन्होंने अपने श्रीमुख से बोल-बोलकर हिन्दी में लिखवाया है। उनका एक ही ग्रंथ है जो हिन्दी में लिखा हुआ है। मैंने उसे ज्यों का त्यों पुनः प्रकाशित करवा दिया है। इस ग्रंथ के आधार पर मन, प्राण और वाक् के लक्षण बताना चाहूंगा।

मन को निर्लेप, असंग, अक्रिय और अनवच्छिन्न कहा गया है। मन का निर्लेप स्वभाव इस प्रकार है कि वह किसी विषय में सर्वथा लिप्त नहीं होता। वह एक क्षण में एक विषय पर आरूढ़ है तो दूसरे ही क्षण दूसरे विषय को धारण कर लेता है और पिछले को त्याग देता है। वह लाल रंग का ध्यान करके लाल दिखाई देता है तो पीले रंग का ध्यान करते ही पाली दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार कपड़े पर रंग जम जाता है उस प्रकार मन पर नहीं चिपकता।

मन का दूसरा भाव असंगता है। जिस प्रकार आकाश में वायु, प्रकाश, जल, इत्यादि पदार्थ भरे रहते हैं परन्तु आकाश उनसे अलग का अलग रहता है। इसी प्रकार मन भी अनेक विषयों में रत रहते हुए भी उनसे अलग ही रहता है। मन एक प्रकार का आकाश ही है जिसमें सभी पदार्थ टिके हुए दिखाई देते है और उसमें से पार हो जाते हैं परन्तु आकाश अपने आप में अक्रिय है। उसमें जो कुछ क्रिया दृष्टिगोचर होती है वह मन के साथ प्राण के रहने के कारण होती है।

मन की कोई सीमा, दिशा या मात्रा नहीं है। वह अनवच्छिन्न है। मन कभी छोटा, बड़ा या ऊँचा-नीचा नहीं होता। उसके आसपास या अगल बगल जैसी कोई दिशा नहीं

होती । वह राई के साथ राई जैसा और पर्वत के साथ पर्वत जैसा दिखाई देता है । मन में वह गुण है कि जिस विषय या वस्तु के साथ होता है उसके साथ आकाराकारित हो जाता है । अनवच्छिन्न होने के कारण ही मन इस तरह का बर्ताव कर सकता है ।

शास्त्रों में मन को संकल्प-विकल्पात्मक कहा गया है, किन्तु यह भी कहा गया है कि अव्यय पुरुष को पाँच कलाओं का मध्य बिन्दु होने के कारण यह जब आनन्द-विज्ञान की ओर उन्मुख हो जाता है तो मुक्तिसाक्षी हो जाता है और प्राण-वाक् की ओर झुक जाता है तो सृष्टिसाक्षी हो जाता है । मन की इन दोनों चितियों को या प्रवृत्तियों को मुमुक्षा और सिसृक्षा बताया गया है । सृष्टि की उत्पत्ति में प्रथम तत्व मन ही है, यह निर्विवाद है ।

ऋग्वेद में कहा गया है— "कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत" (१०.१०६.५) अर्थात् सर्वप्रथम मन का रेत काम ही प्रादुर्भूत हुआ । पं. मोतीलाल शास्त्री ने अपने एक निबन्ध "प्रतिष्ठाकृष्णरहस्य" में मन का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि मन के बिना सृष्टि का जन्म ही नहीं हो सकता । इसका व्यावहारिक रूप बताते हुए वे कहते हैं कि हम जब भी कोई काम करना चाहते हैं तो सबसे पहिले उसके लिये इच्छा उत्पन्न होती है । इच्छा या काम ही मन का रेत है । इच्छा के बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता । प्रजापति ने भी सृष्टि की रचना करने से पहिले इच्छा या कामना की और प्रजापति के काम, तप और श्रम से सृष्टि उत्पन्न होने का जो प्रसंग है, उसमें सर्वप्रथम काम तत्व ही है ।

पं. मोतीलाल शास्त्री ने उक्त मन्त्र के विश्लेषण में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मन का रेत जो काम है वह समवर्त्तताधि है अर्थात् काम उत्पन्न नहीं होता अपितु वह प्रादुर्भूत होता है । वह मन में अन्तर्याम धर्म से मुक्त रहता है । काम तो मन का सहज धर्म है । वह प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में है अर्थात् इस जगत का केन्द्र बिन्दु भी मन ही है । इसलिए कहा जाता है कि जो मन को वश में कर ले वह किसी को भी वश में कर सकता है ।

वेद में प्राण को "कुर्वद्रूप" अर्थात् प्रतिक्षण क्रियाशील बताया गया है । संसार में जितनी क्रियायें है जितनी भी गतियां है वे सभी प्राण का ही स्वरूप हैं । प्रत्येक स्पन्दन, कम्पन, संचरण प्राण से उत्पन्न होता है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्राण तत्व से भरा हुआ है । हमारी प्रत्येक क्रिया में प्राण का क्षय होता है, परन्तु उसकी पूर्ति भी होती रहती है । जब हम अपनी अंगुलि हिलाते हैं तब भी प्राण का क्षय होता है परन्तु वह इतना अल्प होता है कि हमें उसकी व्याप्ति नहीं होती । जब हम एक क्रिया को बहुत देर तक करते रहते हैं तो हम थक जाते हैं । इसका अर्थ यह है कि प्राण का क्षय अधिक हो गया । कुछ देर रिश्राम करके हम फिर स्वस्थ हो जाते हैं । यही क्षतिपूर्ति का क्रम है और यही उसका स्वरूप है ।

प्राण का दूसरा लक्षण है इन्द्रियातीत होना। इन्द्रियों से हम प्राण का ग्रहण नहीं कर सकते। शब्द, स्पर्श, रूप, रस या गन्ध के लक्षण प्राण में नहीं होते। प्राण को हम सुन नहीं सकते, स्पर्श नहीं कर सकते, देख नहीं सकते, सूंघ नहीं सकते और सुन नहीं सकते।

प्राण का तीसरा लक्षण है अर्थवान। कोई भी प्राण भूत पदार्थ के बिना नहीं रहता। वह भूत परमाणुओं में कोई न कोई क्रिया करता रहता है और उसकी इसी क्रियाशीलता के कारण पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है, उनका रूप बदलता रहता है।

प्राण के दो धर्म आसंजन और विधरण बताये गये हैं। आसंजन धर्म के कारण वह बिखरे हुए परमाणुों को मिला देता है और विधरण के कारण उन्हें धारण किये रहता है। अगर हम मिट्टी में पानी डाल दें तो उसके सभी कण मिलकर एक हो जायेंगे। यह आसंजन धर्म के कारण ही एक होते हैं। मिट्टी में जब पानी सूख जाता है तो भी वह जमी रहती है तो वह प्राण के विधरण धर्म के कारण ही जमी रह जाती है।

कोई कह सकता है कि मिट्टी के कणों में आकर्षण होने के कारण ही वे परस्पर जम जाते हैं। ओझा जी ने इस को भ्रान्ति बताया है। उनका कहना है कि आकर्षण ही यदि एक कारण होता तो मिट्टी के कण बिखरे नहीं रहते और पानी के बिना भी मिल जाते परन्तु पानी सूखने के बाद भी मिट्टी जमी रहती है तो वह आसंजन और विधरण वर्म के कारण ही जमी रहती है। यदि उसे आकर्षण भी कहा जाये तो वह प्राण स्वरूप ही है। मिट्टी के परमाणुओं में निज की कोई क्रिया नहीं होती बल्कि वे बाहरी योग से जमते और बिखरते हैं। यह बाहरी योग प्राण ही है।

प्राण की चार जातियां हैं— (१) परोरजा, (२) आग्नेय, (३) सौम्य और (४) आप्य। परोरजा प्राण वह है जिसके कारण सृष्टि के सभी पदार्थ अपने नियत स्थान पर निर्धारित रूप से रहते हैं। आग्नेय प्राण पदार्थों का विशकलन करते हैं। सौम्य प्राण पदार्थों में घनत्व उत्पन्न करते हैं या संकुचन करते हैं और आप्य प्राणों से पदार्थों का रूपान्तरण होता है। जैसे— घास का दूध बना देना।

प्राण को मनोबंध कर्ता भी कहते हैं और मन का आज्ञाकारी भी कहा गया है। प्राण में लेप होता है। इसके कारण वह भूत पदार्थों में भी लिप्त रहता है और मन को भी पकड़े रहता है। प्राण में विस्तारिता भी होती है अर्थात् वह थोड़े से प्रदेश में रहकर भी अत्यधिक प्रदेश में व्याप्त हो सकता है जैसे दीपक की लौ और उसका प्रकाश।

प्राण मन के निर्देश पर ही क्रियाशील होता है। मन का निर्देशन हो तो हम अंगुलि भी नहीं हिला सकते। यदि कोई मनुष्य किसी चीज को हाथ में पकड़े हुये ही सो गया तो

नींद आने पर वह हाथ की वस्तु गिर जायेगी, क्योंकि नींद में मन का अर्थात् उसकी इन्द्रियों का काम बन्द हो गया तो पकड़ी हुई चीज गिर गई। यदि प्राण का निज का व्यापार ही चीज को पकड़ना होता तो नींद में भी वह चीज गिरती नहीं। शरीर के अन्य व्यापार जैसे श्वास चलना, पाचन क्रिया चालू रहना, रक्त प्रवाह इत्यादि नींद में भी चलते रहते हैं, परन्तु इनका सञ्चालन जीव के प्रातस्विक अधिकार क्षेत्र के भी बाहर है, अतः वे प्रकृति के दूसरे नियमों के अनुसार चलते रहते हैं। मन का अधिकार क्षेत्र इन्द्रियों के माध्यम से है। मन कभी सोता है, कभी जागता है और कभी तन्द्रा में होता है परन्तु प्राण सदैव जागृत रहता है, अतः इसका एक लक्षण अप्रसुप्ति बताया गया है।

प्राण का एक लक्षण क्षेम राहित्य कहा गया है। प्राण कभी थकता नहीं जो थकता हुआ दिखाई देता है वह मन होता है या तन। इनकी थकान से ही प्राण की थकान मानी जाती है, परन्तु प्राण अपने आप में कभी नहीं थकता।

प्राण में संक्रमण भी एक लक्ष्य होता है। यदि गर्म पानी में ठण्डा पानी डाल दिया जाय तो ठण्डे पानी की मात्रा गर्म पानी में मिलकर उसके ताप में समा जायेगी और ताप में समानता हो जायेगी। यह प्राण का संक्रमण लक्षण है। प्राण में प्राणापान क्रिया भी होती है। जैसे मेंढक चलते-चलते रुक जाता है और फिर चल पड़ता है वैसे ही प्राणापान क्रिया चलती है।

वाक् का लक्षण

वाक् का मुख्य लक्षण है कि वह स्थानावरोधक है। वाक् के परमाणु स्थान रोकते हैं। एक वाक् के स्थान पर दूसरी वाक् तब तक नही बैठ सकती जबतक कि प्रथम वाक् अपनी जगह न छोड़े। वाक् का दूसरा लक्षण विकार है। विकार के कारण वाक् अपना स्वरूप बदल देती है जैसे पानी का मिट्टी बन जाना और घास का दूध बन जाना। वाक् अपने प्राण को छोड़कर दूसरा प्राण ग्रहण कर लेती है। सोने को तपाने से उसका घनत्व समाप्त होकर पिघलना शुरू हो जाता है। सोने को घन बनाने वाला प्राण उस समय निकल जाता है और वाक् अपना घनत्व त्याग कर पिघलती है। वाक् में केन्द्र योगिता होती है अर्थात् ऐसी को वाक् नहीं है जो केन्द्रविहीन हो। वाक् का एक लक्षण मूर्ति है अर्थात् उसमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, इत्यादि मात्राएं होती हैं। वाक् दिग्देश काल से परिच्छिन्न होती है। वाक् में वैशेषिक धर्मिता भी होती है अर्थात् प्रत्येक वाक् दूसरी वाक् से कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य रखती है।

वाक् को वेदों की माता कहा गया है। मन प्राण और वाक् वैसे सदैव साथ रहते हैं और आत्मा के मनोता हैं, परन्तु मन और प्राण की अभिव्यक्ति वाक् ही द्वारा सृष्टि में होती है। वाक् ही प्रतिष्ठा तत्त्व है। हम जो कुछ सृष्टि में देखते हैं वह वाक् ही है। अतः कहा गया है— "अथो वागेवेदं सर्वम्"। वाक् में मन, प्राण भी निहित होते हैं, अतः उसे वेदों की माता कहा गया है। सभी जीव योनियाँ एवं पदार्थ वाक् पर ही आश्रित हैं। कहा गया है—

"वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता, सा नो हवं जुषतामिन्द्र पत्नीः।"

ऊपर मैंने मन, प्राण और वाक् का वैज्ञानिक स्वरूप, प्रस्तुत किया है। इस संसार में जो कुछ है वह इन्हीं तीन तत्वों की देन है। मन, प्राण और वाक् ही ज्ञान, क्रिया और वाक् से अर्थ उत्पन्न होते हैं। संसार में इन तीन के सिवाय कुछ भी नहीं है। ये तीनों मिलकर अर्थात् इन तीन की समष्टि ही आत्मा है और ये तीन तत्व ही नाम, रूप और कर्म के रूप में व्याप्त होकर जगत बनते हैं। नाम रूप और कर्म के सिवाय किसी पदार्थ में कुछ भी नहीं है।

पं. मधुसूदन ओझा ने इन तीन तत्वों के भिन्न-भिन्न अधिकारों का भी निरूपंण किया है जिसका उल्लेख में संक्षेप में कर देना चाहूंगा।

मन, प्राण, वाक् का प्रथम अधिकार है— अन्न, अन्नाद और आवपन। संसार में जो कुछ है वह या तो अन्न है, या अन्नाद है या आवपन है और तीनों ही साथ रहते हैं। अन्न कहते हैं, भोग्य को, अन्नाद कहते हैं भोक्ता को और आवपन कहते हैं भोग-स्थल को। खाद्य, खाने वाला और खाने के स्थान ही मिलकर संसार है।

दूसरा अधिकार अभिमानी, अधिष्ठाता और अधिष्ठान है। संसार में जो कुछ है वह या तो अभिमानी देवता है, या अधिष्ठाता है, या अधिष्ठान है। ये तीनों ही साथ रहते हैं। गंगा में जल है, प्रवाह है और उसकी सीमाएं हैं। गंगा में जल अधिष्ठान है प्रवाह अधिष्ठाता है और गंगा नाम उसका अभिमानी देवता है।

तीसरा अधिकार ब्रह्म तत्व है। संसार में जो भी क्रिया होती है उसका ब्रह्म वाक् है क्योंकि वाक् के आश्रय से ही प्राण की क्रिया होती है। अंगुली हिलतती है तो अंगुली के आश्रय से ही हिलने की क्रिया होती है। अंगुली भी प्राण के अधिन है। प्राण है तो अंगुली है। यदि प्राण न रहे तो अंगुली का स्वरूप नष्ट हो जाय। यहाँ पर प्राण अंगुली का ब्रह्म है। प्राण भी मन के आश्रय पर क्रिया करता है, अतः प्राण का ब्रह्म मन है। यह ब्रह्म भाव

सर्वत्र व्याप्त है। ब्रह्म को प्रतिष्ठा कहा गया है। जिसके आश्रय पर वस्तु टिकी हुई हो, वही ब्रह्म है।कहा है— "ब्रह्मैवास्य सर्वस्य प्रतिष्ठाः"।

मन, प्राण, वाक् का चौथा अधिकार यह है कि संसार के प्रत्येक पदार्थ में तीन वीर्य, ब्रह्म, क्षत्र और विट् रूप में विद्यमान हैं। मन ब्रह्म है, प्राण क्षत्र है और विट् वाक् अर्थात् अर्थ है। मन से ज्ञान, प्राण से बल या क्रिया और विट् से अर्थ उत्पन्न होता है। इसी आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का स्वरूप बना है। आत्मा का प्राण भाग मन और वाक् दोनों का रक्षक है। इसी प्रकार क्षत्रिय वर्ग ब्राह्मण और वैश्य वर्ग का रक्षक होता है। प्राण को इसीलिए वशिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठा कहा है।

पांचवां अधिकार है— अग्नि, सोम तथा आपः। मन से सोम की, प्राण से अग्नि की और वाक् से आपः की उत्पत्ति मानी गयी है। ये तीनों रस रूप हैं। सोम रस से चन्द्रमा की, अग्नि से सूर्य की और आपः से पृथ्वी पिण्ड की रचना हुई है और इन्हीं तीनों पिण्डों के रसों से जगत् के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

छठा अधिकार है काम, तप और श्रम। मन की वृत्ति को इच्छा, प्राण की वृत्ति को क्रिया और वाक् की वृत्ति को श्रम कहते हैं। हम जब कुछ करना चाहते हैं तो सबसे पहले हममें इच्छा उत्पन्न होती है, इच्छा होते ही हम भीतर ही भीतर उसको पूरा करने की चेष्टा करते हैं। इस अन्तः चेष्टा को तप कहते हैं। चेष्टा के बाद हम हाथ पैरों को हिलाकर काम करना शुरू करते हैं। इसी को श्रम कहते हैं। काम, तप और श्रम से ही प्रजापति ने सृष्टि उत्पन्न की जिसका यही स्वरूप है। यद्यपि हम चेतन में ही इन तत्वों को देख सकते हैं, परन्तु ये तीनों तत्व अचेतन पदार्थों में भी रहते हैं। जड़ और चेतन में केवल इन्द्रियों का ही भेद है, परन्तु आत्मा और उसके तीनों मनोता मन-प्राण-वाक् सभी में विद्यमान हैं।

मन, प्राण और वाक् में समानता यह है कि तीनों में साहचर्य होता है। एक के भी न होने से सृष्टि नहीं होती अर्थात् कोई पदार्थ नहीं बन सकता।

पं. मधुसूदन ओझा- विचारमाला

दुर्गेश कुमारी शर्मा
५२, राजहंस कालोनी-३
ब्रह्मपुरी रोड़, जयपुर-३०२००२

अम्भोवाद विवेचन-

वेदार्थ प्रक्रिया में जिन लोगों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है जिन्होंने वेदार्थ को नई दिशा दी है उनमें वैज्ञानिक व्याख्या के आविष्कारक (जनक) मधुसूदन ओझा का प्रमुख स्थान है, यह तो सत्य है कि अभी तक उनका साहित्य आचार्य सायण और महीधर जैसे प्रचार एवं ख्याति को प्राप्त नहीं कर सका है तथापि इस मनीषी ने जो पारिभाषिक शब्दों को नवीन अर्थ देकर वेदार्थ को गति प्रदान की वह अब शनैः शनैः प्रकाश में प्रस्फुटित होने लगा है। ओझा जी की साहित्यिक रचनाओं में दशवाद रहस्य प्रमुख है। प्रत्येक वाद का अपना पृथक्-पृथक् वैज्ञानिक चिन्तन है चाहे वह व्योमवाद हो या अपरवाद, उनकी विवेचनात्मक शैली उससे प्रभावित नहीं होती। यहाँ पर अम्भोवाद का विवेचन जो भी मेरी अल्पबुद्धि में आया है वह प्रस्तुत है। ज्ञान की इयत्ता शाब्दिक परिभाषाओं से मापी नहीं जा सकती इसलिए मैंने स्वतः अपनी अज्ञता प्रकट की।

ओझाजी के मत से अम्भ (आपः) सृष्टिसंरचना में अत्यन्त सहायक तत्व हैं। वेदों के दृष्टान्त से प्रतीत होता है कि सूर्य ही सृष्टि का कारक है लेकिन-

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुश्च।"

शु.य.वे. ७.४२

ओझाजी का यह अन्वेषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है जहाँ उन्होंने प्रतिपादित किया है कि सूर्य, अम्भ अर्थात् जल से आप प्रकट हुआ (जल से उसकी संरचना हुई) दार्शनिकों ने सृष्टि प्रक्रिया को पंच-तत्वों से उद्भूत माना है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इत्यादि जो पंचतत्व हैं वे एक दूसरे से बंधे हुए हैं। सृष्टिकाल में आकाश से वायु, वायु से जल, जल से अग्नि तथा अग्नि से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। प्रलय का सिद्धान्त ठीक इससे विपरीत है पृथ्वी तेज में, तेज जल में, जल वायु में और वायु आकाश में विलीन हो जाते हैं।

सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में चिन्तकों की अपनी-अपनी अवधारणा रही है। भौतिकवादी दृष्टिकोण विकासवादी अवश्य है किन्तु शाश्वत् नहीं। विश्व का प्राचीन

साहित्य वेद (ऋग्वेद) है- जो सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में सारगर्भित तथ्य प्रस्तुत करता है। यदि ऋक् के तथ्यों को स्वीकारा जाय तो भौतिक मान्यता का बौनापन स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत निबन्ध में सृष्टि विद्या के प्रमुख दो तत्वों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यु के भेद से त्रैलोक्य का स्वरूप कहा गया है। तीनों लोकों का स्वामी सूर्य नारायण समुद्र के मध्य में सुशोभित होता है।

सूर्य समुद्र से उत्पन्न हुआ और वहीं पर वह आदि अन्त में विराम लेता है, अतः यह विश्व आपोमय कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण ने भी इसका समर्थन किया है। (७.१.२४)

तीनों लोकों की सत्ता के बाहर चतुर्थ लोक है। आपोमय समुद्र उसके गर्भ में है और वहीं से अग्नि अर्थात् सूर्य का प्रादुर्भाव होता है। (गोपथ ब्राह्मण)

जो पृथिवी का हनन करता है वह आपः की प्राप्ति करता है। परमेष्ठी त्रिलोकी सूर्य के ऊपर रहता है। परमेष्ठी के गर्भ में सारा विश्व है वही उत्पत्ति और प्रलय का कारण है। ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि अम्भ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

लोक में अम्भ ही अग्नि, वायु, वाक्, प्राण और मन के कारण है। घनत्व योग से पृथिवी वृक्ष तथा शरीरियों की उत्पत्ति होती है।

घनत्व द्रव होकर तनुता को प्राप्त करता है। तनु द्रव रूप लेकर घनत्व को प्राप्त करता है। यह क्रम निरन्तर चलने वाला है। आप पृथ्वी में विपुल मात्रा में है। शरीर में उसकी सत्ता स्वल्प होती है, आप के वर्षण से अन्न की उत्पत्ति होती है, अतः सृष्टि प्रक्रिया में प्रमुख तत्व के रूप में अम्भ प्राप्त होता है।

आपः-

वैदिक सृष्टि-विद्याविदों ने आपको विश्व की सृष्टि करने वाले पदार्थों में सर्वप्रथम माना है। ऋग्वेद ने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है कि वृहती संज्ञक आपः सृष्टि के आदि में सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके स्थित थे और सृष्टि के सम्पूर्ण सर्जक तत्व उनके गर्भ में विद्यमान थे। ऋषियों का मन्तव्य है कि इन्ही आपः में अग्नि अर्थात् उष्मा का सर्वप्रथम जन्म हुआ जिसके परिणामस्वरूप हिरण्यगर्भ रूप वृहद् अंड हुए जिससे पुरुष प्रजापति का उद्भव हुआ। हिरण्यगर्भ रूप इस वृहदण्ड को अन्यत्र ऋषि ने विश्वकर्मा के रूप में चित्रित किया है और बतलाया है कि सृष्टि के आदि में सम्पूर्ण देव अर्थात् सर्जक शक्तियाँ उसी विश्वकर्मा में अन्तर्निहित थीं और सम्पूर्ण लोकों एवं लोकान्तरों से युक्त ब्रह्माण्ड उसी में समाहित था। इसी आदि तत्व को कहीं अपांनप्रात् नाम दिया गया है और कहीं मात्र अग्नि

पद से सम्बोधित किया गया है। आप से उत्पन्न होने वाला तत्व किसी भी नाम से अभिहित किया गया हो किन्तु उसे सर्वत्र सृष्टिकर्ता ही बतलाया गया है यद्यपि सृष्टि का आदि सर्जक तत्व तो आपः ही है किन्तु उसकी सृष्टि प्रक्रिया साक्षात् नहीं है साक्षात् तो वह हिरण्यगर्भ का जनक है और हिरण्यगर्भ साक्षात् सृष्टि का जनक हैं।

वैदिक संहिताओं में अप् तत्व :

ऋग्वेद में आपः तत्व को समस्त अनिष्टों का शामक[१] तथा ७/४८ में "शुचयः" "पावकाः" कहा है। इससे परिलक्षित होता है कि आपः पावक रूप थे। यजुर्वेद आपः का स्त्रोत समुद्र को बतलाता है।[२] अथर्ववेद इसकी पुष्टि करता है।[३] वैदिक साहित्य में आपः को महत् सलिल की संज्ञा दी गयी है।[४]

मैत्रायणी, काठक तथा कौषीतकि आदि आपः को अमृत बतलाते हैं।[५] मैत्रायणी संहिता में आप को सोम से सम्बद्व बतलाया गया है।[६] इसका निम्नलिखित पाठ इस तथ्य को पूरा स्पष्ट करता है- इस पृथ्वी में ऊर्क् को रखा इसलिए इस उर्क् पर प्रजायें जीवन धारण करती है[७]- "आपो वा इदं सर्वमाप्नुवन" आपः का अर्थ ही है "सबको व्याप लेने वाला हैं।"

ब्राह्मण ग्रन्थों में अप् तत्व का विवेचन

आपः ही परमेष्ठी प्रजापति है जो परम स्थान पर अधिष्ठित है।[८] समुद्र ही उसका उंद्रम है।[९] सर्गारम्भ में आपः ही सलिल रूप में सबको व्याप्त करके वर्तमान थे।[१०] वैदिक सृष्टि विद्याविदों ने सृष्टि की उत्पत्ति आपः से मानी है चूंकि आपः स्त्री प्रधान हैं "योषा व आपः" अतः सभी के मूल उपादान है।[११] आप शब्द के विषय में शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट कहता है-" यद् आप्नोत तस्मादापः" ।[१२] अदिभर्वा इदं सर्वमाप्तम्"[१३]

इन परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि मूल सृष्टि के उपादान कारण सर्व स्थानों पर व्याप्त थे। ये अपनी व्यापकता के कारण आपः कहलाये।

आपः का अर्थ भौतिक जल भी है-किन्तु आपः का स्वरूप पौराणिक एकार्णव स्थिति जैसा है। आपः का निवास पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ-तीनों लोकों में है इसमें जीवन शक्ति का तत्व विद्यमान है यह प्राणियों का जीवन है। इसके बिना जीवन अपूर्ण है। इसका अभाव ही मनुष्य को मृत्यु के गर्त में गिरा देता है यह प्राणों का रक्षक तथा बलवर्द्धक भी है। इसीलिए कहा गया है कि आपः यह मूल तत्व है जिससे सृष्टि का विकास होता है।

आपः ही ऊर्जा है ऊर्जा इनसे ही उत्पन्न होती है । याज्ञवल्क्य के अनुसार आपः ही ऊर्क है ऊर्क आपः का रस है । ऊर्क आपः से उत्पन्न होता है ।[१४] शतपथब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के प्रारम्भ में लिखा है- इस (अग्नि रूप) पुरुष प्रजापति ने कामना की ब्रह्म ही प्रथम उत्पन्न किया, त्रयी विद्या को ही... ।[१५] वाक् के लोक से उसने आपः को उत्पन्न किया उसने इन सभी को व्याप्त कर लिया जो आपः कहलाए ।[१६]

वर्तमान विज्ञान की मान्यता है कि सृष्टि का उद्‌भव नेव्यूला या प्रोटोप्लेनेटरी डस्ट गैस क्लाइड से हुआ जिसका स्वरूप आपः से भिन्न बतलाया गया है । आपः में जो सृष्टि के उद्‌भावक तत्व विद्यमान हैं जिनसे भौतिक सृष्टि होती है तथा जो पंचमहाभूतों के रूप में हमारे अनुभव में आते हैं और जिनका एक रूप जल भी है ।

सर्गारम्भ में आपः में शीघ्रता एवं स्पन्दन नहीं था ।[१७] आपः की उत्पत्ति को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है- धूम के पश्चात् अग्नि तथा अग्नि के पश्चात् ज्योति, अर्चि, मरीचयः तथा उदाराः की उत्पत्ति बतलाई गयी है ।[१८] उदारा अब्भ्र के समान संहत हुए तब वस्ति को तोड़ा । वह समुद्र हुआ । वही आपः सलिल या सलिलावस्था धारण करने के पश्चात् आपः प्रधान और व्यापक हुए, आपः चतुष्टय कहा गया है । भट्ट भास्कर इसका अर्थ करता है-

"चत्वारोऽवयवा यासां ताः चुतष्टयः"

गोपथ-ब्राह्मण इस तथ्य को दूसरे शब्दों में प्रकट करता है-ब्रह्म ने सोचा- आपः संज्ञक जलों के द्वारा ही मैं सबको आप्स्यामि प्राप्त करूँगा, इसी कारण से इन्हे आपः कहा गया ।[१९]

कहा जाता है कि सर्गारम्भ में प्रजापति ने आपः रूप धारण कर सभी को व्याप्त कर लिया ।[२०] जैमिनीय ब्राह्मण में आपः को 'दिव्या आपः" के रूप में चित्रित किया गया है, आपः विस्पन्दन है । कहीं कहीं आपः का दैवीकरण किया गया है और उन्हें देवों की पत्नी बताया गया है ।[२२]

तत्तिरीय आरण्यक के अनुसार- आपः सलिल रूप थेः प्रजापति पुष्कर पर्ण पर अधिष्ठित था, उसके अन्दर कामना हुई कि मैं सृष्टि का सृजन करूं ।[२३] कहते हैं कि संवत्सर ही आपः का आयतन है ।[२४] आरण्यकों तथा उपनिषदों में आपः को ही प्राण (भेषजम्) बताया गया है ।[२५] काठक का कहना है कि प्रजापति का ही रस है- यह जो आपः है,[२६] जबकि कौषीतकि कहता है- "ऊर्ध्वा आपो रसः"[२७] यह जो कुछ विश्व में आर्द्र द्रवात्मक है उसे प्रजापति ने अपने बीज-रेतस् से उत्पन्न किया, रेतस् से आपः की उत्पत्ति

हुई। "अथ यत्किंचिदिदं लोकआर्द्रद्रवात्मकं तद्रेतस आत्मनो बीजादसृजत् रेतस् आपः।[२८] वह (व्यक्त जगत्) पहले आपः ही था, उस आपः ने सत्य की रचना की। जगत् का बीजभूत वह आपः अव्याकृत रूप में स्थित था वह नामरूप विकार को प्राप्त हुआ। आरम्भावस्था में जगत् वही था उससे भिन्न और कोई विकार समुदाय नहीं था। उसी आपः ने सत्य का सृजन किया।[२९]

मनुस्मृति में भी उत्पत्ति क्रम की इस प्रकार चर्चा की गई है-आपः की संज्ञा "नारा" है[३०]— "आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो वै नरसूनवः" कहते हैं- सर्ग के प्रारम्भ में आपः एकार्णव अवस्था में थे, उनमें शीघ्रता अथवा स्पन्दन नहीं था, अतः उन्हें "धरा" कहते हैं यही मन्तव्य मनु आदि का है- आपः नारा है, आपः निश्चय ही नर के सुनू हैं इस प्रकार आपः की विभिन्न स्थितियाँ निम्नांकित रूप में अवलोकन की जा सकती हैं।

उदारा --- अग्नि की अन्तिमावस्था।

नरा --- गतिहीन आपः।

सलिल अवस्था -- नारा -- आपः गतिशील आपः।

कहते हैं कि जहाँ यज्ञ प्रजापति का शिर छिन्न हुआ उसका रस बहकर आपः में प्रविष्ठु हुआ उसी रस से आपः प्रवाहित होते हैं।[३१] इससे स्पष्ट होता है कि पहले आपः स्पन्दनहीन थे। प्रजापति के अंश विशेष के प्रवेश से आपः स्पन्दन युक्त हुए। महाभारत शान्तिपर्व में भी यही सत्य प्रकाशित किया गया है। यथा-सर्वभूत हित वाले देव से रस उठता है: उस (रस से) आपः युक्त होते हैं और द्रव्यत्व को प्राप्त होते हैं।[३२] पाश्चात्य सर्ग विद्या का स्पष्ट आरम्भ इन आपः से माना जाता है। आपः के विकास का क्रम पुराण-साहित्य में इस प्रकार बतलाया गया है—

"अरमित्येषं शीघ्रं तु निपातः कविभिः स्मृतः।
एकार्णवे भवन्त्यापो न शीघ्रास्तेन ते नराः॥"[३३]

आपः और सलिल का सम्बन्ध :

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के अनुसार सृष्टि की पूर्वावस्था को तमरूप बतलाया गया है।[३४] यहाँ प्रयुक्त "अप्रकेतम्" शब्द का अर्थ सायण के मत में "अप्रज्ञायमान" है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर आपः या सलिल से सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है। आपः को सलिल, गहन, गम्भीर, अम्भः नाम से भी जाना जाता है।[३५] तैत्तिरीय संहिता में आपः को सृष्टि का आदि सर्जक तत्व एवं अनिवर्चनीय बतलाया गया है।[३६] सृष्टि की पूर्वावस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह पृथ्वी जल से पूरित थीः वह आर्द्रा और शिथिला थी।

काठक संहिता में इसका भी स्पष्ट रूप से चित्रण किया गया है। आपः ही ये सलिल थे (जिनमें सब लीन था)। वह प्रजापति पुरुष पुष्कर पर्ण में वात हुआ लहलहाता था, उसे ठहरने का स्थान न मिला, उसने उस आपः के जाल को देखा। उस प्रजापति ने आपः के मध्य में इस अग्नि को चिना, वह यह पृथिवी हुई। तब तब वह ठहर गया।[३७]

ए.बी.कीथ तैत्तिरीय संहिता के अनुवाद में सलिल का अर्थ **मूविंग ओसियन** करता है। आपः का जाल क्या था ? आपः परमाणु किस प्रकार स्थित थे? उनमें ताना बाना कैसा था? इस गंभीर भाव का विवेचन परमावश्यक है। एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि आपः ही पहले (सब कुछ को) लीन किए थे, उस प्रजापति ने इस प्रथम चित्ति को देखा, उसे स्थापित किया, वही यह (पृथ्वी) हुई।[३८] कहा जाता है कि आपः वरुण की पत्नियाँ थीं। उनकी अग्नि कामना करता था। उसका उनसे मेल हुआ उसका रेत परे गिरा, वह यह पृथ्वी हुई[३९] सूर्य के परे जो तत्व न क्षरित होने वाले ठहरे हुए हैं-वही आपः हैं, ऐसा आचार्यों का मन्तव्य है।[४०]

शतपथब्राह्मण में आपः को ही अर्क अर्थात् सूर्य कहा गया है— "आपो वा अर्कः" क्योंकि ये दोनों ही सृष्टि की उत्पत्ति में सहायक हैं। सृष्टि का उद्गिरण इनसे ही होता है। इसी ब्राह्मण में "पंचदेव" और "पंचाक्षर" विद्या का वर्णन किया गया है (तानि वा एतानि पंचाक्षराणि ११.१.६५) अ, इ, उ,ऋ, लृ ये पांच अक्षर हैं। इनमें अ, इ, उ, ब्रह्मा विष्णु और इन्द्र के प्रतीक हैं। ऋ, लृ अग्नि और सोम के। ये ही पंचाक्षर पंचदेवों या पंचप्राणों के प्रतीक हैं। ये ही पंचजन एवं पंचपुर या पिण्डों का रस ग्रहण करते हैं। इन पंच प्राणों की समष्टि जो एक प्राण है वही अण्ड के भीतर जीवन का स्तोत्र है जिसे आपः या सलिल कहा जाता है उसी का रूप अण्ड है उस अण्ड के भीतर जो रेत शुक्र या प्राण का बीज है, वही हिरण्यागर्भ है, उसे ही ऋग्वेद में "भुवनस्य रेतः" कहा जाता है।[४२]

तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक के तृतीय अनुवाक् में कहा है- पहिले यह सब आपः था, सलिल था। तब प्रजापति सोचने लगे, यह कैसे होगा ? उन्होंने कमल के पत्र को देखा सोचा कि कुछ तो है जिस पर यह टिका है, उन्होंने वराह का रूप धारण करके डुबकी लगा दी नीचे पृथ्वी को पाया, उसको लेकर ऊपर आये। अन्यत्र ऐसा चित्रण है कि "आपः निश्चय से महान् सलिल थे। वह आपः का ऐश्वर्य था, आपः का राज्य, आपः का अन्नाद उसकी अग्नि ने कामना की, यह मेरा ऐश्वर्य, मेरा राज्य, मेरा अन्नाद होवे। उसने इस अग्निष्टोम सम्पत को देखा, उसके द्वारा इन आपः को नीचे और ऊपर प्रेरित किया, उसने इस दिन दिन स्तोम का गान करते हुए उस इसको अन्नाद बनाया, उसे नौ और एकविंश स्तोमों से ऊर्ध्व आपः को रोका, इनको द्युलोक से परे प्रेरित किया, वे ये आपः प्रेरित किये

हुए ऋतु के अनुसार बरसते हुए ठहरते हैं। "एकविंश" से और त्रिवृत् से ये आपः इस ओर ठहरे। इन्हें पृथ्वी के परे प्रेरित किया, वे ये प्रेरित किये गये (इन्हें खोदकर अनेक लोग जीते हैं।)[४३]

इन ब्राह्मण वचनों से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं- आपः कणों अथवा परमाणुओं के गुण अग्नि ने चाहे, आपः ऊपर और नीचे प्रेरित हुए, अन्तरिक्ष में एक सीमा बनी, एक आपः ऊपर द्युलोक और उससे परे तक जाने वाले हुए, दूसरे पृथ्वी तक आने वाले हुए।

जैमिनीय ब्राह्मण का कथन है कि आपः ही सृष्टि के प्रारंभ में महान् सलिल रूप थे।[४४] मनु भी आदि में आपः की सत्ता मानते हैं।[४५] ऋग्वेद के मन्त्रानुसार "अप्रकेतं सलिलम्" भौतिक जल प्रतीत नहीं होता। ऐसा आभास होता है कि यहाँ मूलतत्व को सलिल के रूप में कल्पित किया है जिस प्रकार वेदान्त प्रतिपादित अपंचीकृत जल दृश्यमान जल से भिन्न है उसी प्रकार ऋग्वेद में मूल तत्व के रूप में वर्णित आपः भी इससे भिन्न है। यद्यपि ऋग्वेद के आपः को अपंचीकृत नहीं कहा जा सकता परन्तु संकेत वैसा ही है-परन्तु यह इस बात का द्योतक है कि दृश्यमान से भिन्न की भावना ऋग्वेद में विद्यमान है जो कि "अप्रकेतं सलिलम्" पद से प्रस्फुटित हुई है। मैकडानल एवं मूर ने उक्त पद का भावार्थ जल ही बताया है, जो पृथक् न किया जा सके।[४६] मैक्समूलर ने "अप्रकेतं सलिलम्" को प्रकाशरहित समुद्र बताया है।[४७]

विभिन्न प्रमाणों, साक्ष्यों और वैदिक तथ्यों से सिद्ध होता है कि सृष्टि उत्पादन में जो कारक तत्व विद्यमान हैं जिनसे सृष्टि की उत्पत्ति होती है, उनमें प्रमुखतः आपः की सर्वोपरि प्रधानता है चूंकि आपः के बिना जीवन निष्प्राण है और वही सृष्टि का केन्द्र बिन्दु परिलक्षित होता है और वहीं सृष्टि की संरचना प्रारम्भ होती है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आपः का सम्बन्ध चाहे किसी से जोड़ा जाये किन्तु ओझाजी ने अपने विवेचन में इसे सूर्य एवं वाक् की सत्ता को पूर्व चित्रित किया है। सृष्टि प्रक्रिया का यह सिद्धान्त दार्शनिक प्रणाली से पूरी तरह से मेल नहीं खाता है। जहाँ आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी तत्व की उत्पत्ति बताई है। ओझाजी का अम्भोवाद आकाश से वायु, वायु से जल, जल से अग्नि, और अग्नि से पृथ्वी की उत्पत्ति बताता है।

यही वैदिक सिद्धान्त है और विभिन्न उद्धरणों से पुष्ट भी होता है।

ऋग्वेद के पाँचवे मण्डल के २९ वें सूक्त का वैज्ञानिक अध्ययन

वी. एस. पन्त
५८, नारायण, पुणे

ऋग्वेदीय सूक्तों का अर्थ वैज्ञानिक भूमिका से कैसे हो सकता है, यह दिखाने के लिए मैं आपके समक्ष पंचम मंडल के २९ वें सूक्त को स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहता हूँ। इसीलिए पहले ऋषि और देवता के बारे में विचार-

सायणाचार्य के एक मत के अनुसार- ऋषयः गन्तारः। ऋषि आगे आगे चलकर समस्त लोगो का मार्ग दर्शन करने वाला होता है और उसके गमन मार्ग में, जहाँ-जहाँ, दीप्तिमान् और कल्याणमय घटनाएँ उपस्थित होती हैं, वे सब देवतांश मानी जाती हैं। ऐसे ऋषि और देवता परस्पर से संबंधित रहते हैं। इसीलिए हम मान लेते हैं कि वेद अपौरुषेय ही हैं या हम ऐसे भी समझ सकेंगे कि सूक्तों का रचयिता कवि अलग रहता है और यह कवि, हर एक सूक्त में, ऋषि, मार्गदर्शन करते-करते, कैसे आगे बढ़ जाता है, और उसको स्थान-स्थान पर कैसी देवताएं मिल जाती है, यह हम जान सकते हैं। इस पार्श्वभूमि पर हम पहले 'यज्ञ' के बारे में विचार करेंगे।

जैसा भूमि पर 'यज्ञ' प्रज्वलित रखा जाता है, वैसा ही कपासी वर्णी (क्युमूलस) मेघ में विद्युत् यज्ञ प्रदीप्त रखा जाता है। वैसा ही सूरज के वातावरण में 'अग्निज्वाला' यज्ञ प्रदीप्त रखा जाता है। वैसा ही तारकाओं के गर्भ से अणु गर्भ प्रक्रिया से यज्ञ प्रदीप्त रखा जाता है। वैसा ही तेजो-मेघ में, तारका प्रकाशमान होने के लिए आकर्षक यज्ञ चलता रहता है। ऐसे यज्ञ की शक्ति की प्रक्रिया अलग-अलग रहती है, लेकिन उसकी चित् शक्ति एक ही रहती है। इसीलिए हम हर एक सूक्त में विद्युत् शक्ति के अनुसार ऋषि और देवता के बारे में सोच सकते हैं।

मंडल ५, सूक्त-२९

ऋषि- गौरिवीतिः शाक्त देवता १-८ और ९-१५ इन्द्रः।इन्द्र उशना या

ऋषि विचार-गौर-प्रकाशयुक्त, सौंदर्ययुक्त, निर्मल। इसका गौरी स्त्रीलिंग है। और वेद में स्त्रीलिंग मध्यम शक्तियुक्त और कल्याणमय घटनाओं के लिए उपयोग किया जाता है। इसीलिये ऋग्वेद में सूक्तों का 'देवता' उल्लिखित होता है। गौरी। प्रकाशमय और कल्याणमय घटनाओं से संबंधित।

वीति । अलग-अलग होने वाला ।

गौरिवीतिः । सब दूर, अलग अलग होती जाने वाली प्रकाशमय विद्युन्मालाएँ शक्त्य इसमें ग्रथित हुयी शक्ति का उपासक ।

इसीलिए यह द्रष्टा, सब दूर प्रकाशयुक्त विद्युत् मालाएँ कैसे अलग-अलग हो रही हैं, इस पर विचार करने वाला है ।

देवता विचार उशना- (१) सब घटनाओं में अतीव गतिशीलता की इच्छा करने वाला, सब घटनाएँ अतीव वेगवान् ही हों, ऐसी इच्छा करने वाला ।

त्र्यर्यमा मनुषो देवताता त्री रोचना दिव्या धारयन्त ।

अर्चन्ति त्वा मरुतः पूतदक्षास्त्वमेषामृषिरिन्द्रासि धीरः ॥१ ॥

त्री । अर्यमा । मनुषः । देवताता । त्री । रोचना । दिव्या । धारयन्त । अर्चन्ति । त्वा । मरुतः । पूत दक्षाः । त्वम् । एषाम् । ऋषिः । इन्द्र । असि । धीरः ।

अन्वयः- त्रि अर्यमा मनुषः देवतातौ । त्रीणि रोचनानि दिव्यानि धारयन्त । हे इन्द्र, पूतदक्षा मरुतः त्वा अर्चयन्ति । एषां त्वं ऋषिः धीरः असि ॥१ ॥

त्रि अर्यमा । तीन प्रकारों से संरक्षण-व्यवस्था करने वाला - (१) क्युमुलस मेघ में पर्जन्य तुषा की बड़ी बूंदे उत्पन्न होने के लिये, पर्जन्य चक्र चलता रहता है । पर्जन्य चक्र को सुरक्षित रखने के लिए चक्रवात की व्यवस्था निश्चित रूप से होती रहती है । (२) पर्जन्य की बूंदों को तैयार करने के लिए पाटन विद्युत् तैयार होती है, यह पाटन विद्युत् की सुरक्षा के लिये विद्युल्लता की ही आवश्यकता रहती है । (३) वृक्ष-वनस्पतियों से, ऋण विद्युत् बाहर खींचने के लिये धन विद्युत् अपनी शक्ति को बढ़ाता है, और विद्युत् प्रपात का विनियोजन करता है । तब वृक्ष-वनस्पतियों के संरक्षण के लिये पर्जन्य आवरण की आवश्यकता होती है । ऐसे, उच्च स्तर, मध्य स्तर और निम्न स्तर, तीन स्तर पर संरक्षण की व्यवस्था करने वाला त्र्यर्यमा ।

मनुषः देवतातौ । मानवों के समान अतीव विचारपूर्वक कार्य करने वाले विद्युत् यज्ञ में ।

त्रीणि रोचनानि । अतीव तेजयुक्त पाटन विद्युत, विद्युल्लता विद्युत और विद्युत प्रपात, ऐसी तीन व्यवस्थाएँ करने के लिये ।

दिव्यानि धारयन्त । दीप्तिमान और कल्याणमय घटकों को धारण किया ।

हे इन्द्र । हे उत्पत्तिकर्ता इन्द्र

पूतदक्षः मरुतः । पर्जन्य जंतु रहित रखने के लिये अतीव दक्ष रहने वाले ऊर्ध्व गति प्रवाह

मरुत् । मर् + उत्= जहाँ प्राणी मर सकता है, ऐसे प्रदेश + ऊर्ध्व गति त्वा अर्चयन्ति । तुझे ही दीप्ति के लिए बार-बार बुलाते हैं ।

एषां त्वम् । क्योंकि इन घटकों में तुम हो

ऋषिः धीरः असि । सबको मार्गदर्शन करने वाले ऋषि और बुद्धिमान हो ॥

अनु यदीं मरुतो मन्दसानमार्चन्निन्द्रं पपिवांसं सुतस्य ।
आदत्त वज्रमभि यदहिं हन्नपो यह्वीरसृजत्सर्तवा उ ॥

अनु । यत् । ईम् । मरुतः । मन्दसानम् । आर्चन् । इन्द्रम् । पपि वांसम् । सुतस्य । आ । अदत्त वज्रम् । अभि । यत् । अहिम् । हन् । अपः । यह्वीः । असृजत् । सर्तवै । ऊँ इति ॥

अन्वयः- यत् ई मरुतः मन्दसानं सुतस्य परिवांसं इन्द्रं अनु आर्चन् । वज्रं आ अदत्त । यत् अहिं अभि हन् । उसर्तवै यहवीः अपः असृजत् ॥२ ॥

यदीं मरुतः । और जब ऊर्ध्वगति युक्त मरुत् प्रवाहों ने

मन्दसानम् । जल कण बनाने वाले मन्द्रसान प्रवाहों को

सुतस्य पपिवांसं इन्द्रम् । और उन्होंने निष्पीडन किये गये पर्जन्य कण पीने वाले इन्द्र को

अनु आर्चन् । मेघ-ध्वनि से प्रार्थना की

वज्रं आ अदत्त । तब उसने विद्युल्लता रूप वज्र दे दिया

यद् अहिं अभिहन् । और उसने पर्जन्य की गति को अवरुद्ध करने वाले सर्प गति प्रवाहों का समूल नाश कर दिया । पर्जन्य का अवरोध करने वाले इन्द्र शत्रु वृत्र का, अहि मित्र समझा जाता है । अहि माने सर्प । और इससे मालूम पड़ता है, जब सर्प गति के समान गतियुक्त प्रवाह बादल में बहते हैं तो वे पर्जन्य का अवरोध करते हैं ।

उसर्तवै। और इसके बाद हर एक प्रवाह को स्वयं की इच्छा के अनुसार बहने के लिये

यह्विः अपः। प्रचंड चैतन्य शक्ति से एकत्रित बहाने वाले प्रवाहों को असृजत्। निर्माण किया ॥२ ॥

उत ब्रह्माणो मरुत मे अस्येन्द्रः सोमस्य सुषुतस्य पेयाः।

तद्धि हव्यं मनुषे गा अविन्ददहन्नहिं पपिवाँ इन्द्रो अस्य ॥३.

उत। ब्रह्माणः। मरुतः। मे। अस्य। इन्द्रः। सोमस्य। सुऽसुतस्य। पेयाः। तत्। हि। हव्यम्। मनुषे। गाः। अविन्दत्। अहन्। अहिम्। पपि वान्। इन्द्रः॥ अस्य ॥३ ॥

अन्वयः- उत हे ब्रह्माणः हे मरुतः, मे इन्द्रः अस्य सुषुतस्य सोमस्य पेयाः।

तत् हि मनुषे हव्यं गाः अविन्दत्। अस्य पपिवान् इन्द्रः अहिं अहन् ॥३.

उत हे ब्रह्माणः। वैसा ही, विस्तीर्ण हो जाने वाले हे घटकों (बृंह् = विस्तारित हो जाना यह शब्द से ब्रह्मन् शब्द बनता है।

हे मरुतः। और हे ऊर्ध्व गतियुक्त प्रवाहो

मे इन्द्रः। मेरा जनक इन्द्र

अस्य सुषुतस्य। इस चक्रवात से

सोमस्य पेयाः। पर्जन्य बूंदों को निचोड़कर पीने वाला हो गया है।

तत् हि। इन पर्जन्य बूंदों को पीने का यह कारण है कि

मनुषे। मानव जाति के समान अतीव विचारपूर्वक कार्य करने वाले घटकों में हव्यं गाः अविन्दत्। बूंदों के हवि द्रव्य से, किरण समुच्चय की वृद्धि कैसी हो जाती है, इसकी जानकारी मिल जाती है। गाः। वृष्टि

लक्षणानि उदकानि वा। (सा.भा.)

अस्य पपिवान् इन्द्रः। इसके पान करने वाले इन्द्र ने ही अहिं अहन्। पर्जन्य का अवरोध करने वाले दुष्ट अहि को मार डाला ॥३.

आद्रोदसी वितरं विष्कभायत्संविव्यानश्चिद्भियसे मृगं कः।

जिगर्तिमन्द्रो अपजर्गुराणः प्रति श्वसन्तमव दानवं हन् ॥४.

आत् । रोदसी इति । वि तरम् । वि । स्कभायत् । सम् विव्यानः । चित् । भियसे । मृगम् । करिति कः । जिगर्तिम् । इन्द्रः । अप जर्गुराणः । प्रति । ष्वसन्तम् । अव । दानवम् । हन्निति हन् ।

अन्वयः- आत् रोदसी वितरं विष्कभायत् । संविव्यानः चित् भियसे मृगंकः ।

अपजर्गुराणः इन्द्रः जिगर्ति प्रतिश्वसन्तं दानवं अवहन् ॥४.

आत् रोदसी । और तत् पश्चात् पृथिवी और उसके ऊपर का तेजयुक्त वातावरण (पृथिवी और द्यौः) प्रथनात् पृथिवी इति आहुः ।

द्यौ । दिव् = प्रकाशना । प्रकाशयुक्त होना ।

वितरं विष्कभायत् । अनेक भागों में, जिस ओर (या दिशा में) पर्जन्य समृद्धि की आवश्यकता है, उसका निश्चय किया ।

संविव्यानः । असुर वृत्र के साथ-साथ चलने वाले सब घटक

चित् भियसे । अधिक भय के मारे उनको

मृगंकः । हिरन के समान उन्हें कूदना पडा । कः । अकार्षीत् । (सा.भा.)

अप जर्गुराणः इन्द्रः । वृत्र को सहायता देने वाले घटकों से पर्जन्य को मुक्त करने वाले इन्द्र ने

जिगीर्तम् । नीचे उतरने वाले और

प्रतिश्वसन्तं दानवम् । जोर से कूदने के कारण दम तोड़ने वाले सहायक दानव के अवहन् । नीचे उतर कर ही प्राण ले लिये ॥४.

अध क्रत्वा मघवन्तुभ्यं देवा अनु विश्वे अददुः सोमपेयम् ।
यत्सूर्यस्य हरितः पतन्तीः पुरः सतीरुपरा एतशे कः ॥५ ॥

अध । क्रत्वा । मघ वन् । तुभ्यम् । देवाः । अनु । विश्वे । अददुः । सोम पेयम् । यत् । सूर्यस्य । हरितः । पतन्तीः । पुरः । सतीः । उपराः । एतशे । करिति कः ॥५.

अन्वयः- अध हे मघवन्, विश्वे देवाः क्रत्वा सोमपेयं तुभ्यं अनु अददुः । यत् सूर्यस्य हरितः पतन्तीः । पुरः एतशे सतीः । उपराः कः ॥५.

अध हे मघवन् । वैसा ही, पर्जन्य संपत्ति से समृद्धि वाले, हे इन्द्र !

विश्वे देवाः । सब प्रकाशमान घटकों ने

क्रत्वा सोम पेयम् । विद्युत् यज्ञ से निर्मित हुए पर्जन्य बूंद का पान करने की तुम्हें । अनु अददुः । बहुत प्रसन्नता से अनुमति दी ।

यत् सूर्यस्य । जिससे गतिशील विद्युत् युक्त तेज घटकों को-सूर्यः । सर्तेः वा सुवतेः वा । जो गतिशील है या जो किरण-समुच्चय का निष्पीड़न करने वाला है । इसीलिये विद्युत् विभाग ।

हरितः पतन्तीः । बादलों की सीमा ताम्र या पीली करने के लिये उसके वर्ण का विनाश किया ।

पुरः एतशे सतीः । वह पहिले बलात् बादलों में प्रवेश करने वाली थी ।

उपरा कः । उसे ताम्र या पीले वर्ण से युक्त कर दिया । और वर्षा समय के समीप आने का द्योतन कराया ।

छठी ऋचा में नव यदस्य नवतिं च भोगान् । ऐसा एक वाक्यांश आया है । और साणाचार्य ने नवनवति = ९९ और भोग = जिसका परिसर जलयुक्त परिधि (खाई) युक्त है, ऐसा किला, ऐसा अर्थ देकर इन्द्र ने वज्र से उन ९९ किलों का नाश कर दिया ऐसी कथा दी है। लेकिन पर्जन्य समृद्धि की भूमिका से यह अर्थ ठीक नहीं लगता। इस पार्श्वभूमि पर दूसरा अर्थ देखना होगा ।

नव = नया, नई, नवति = ध्वनि देने वाली

भोग = पर्जन्य चक्र से जहाँ का परिसर बहुत सारे पर्जन्य कणों से युक्त हुआ है, ऐसा विभाग ।

नव यदस्य नवतिं च भोगान्त्साकं वज्रेण मघवा विवृश्चत् ।

अर्चन्तीन्द्रं मरुतः सधस्थे त्रैष्टुभेन वचसा बाधत द्याम् ।।६.

नव । यत् । अस्य । नवतिम् । च । भोगान् । साकम् । वज्रेण । मघवा । वि वृश्चत् । अर्चन्ति । इन्द्रम् । मरुतः । सध स्थे । त्रैष्टुभेन । वचसा । बाधत । द्याम् ।६.

अन्वयः-यत् अस्य नवनवतिं च भोगान्, मघवा साकं वज्रेण विवृश्चत् । सधस्थे इन्द्रं मरुतः अर्चन्ति । त्रैष्टुभेन वचसा बाधत द्याम् ।।६.

यत् अस्य । वही, जिसने उसके

नव नवतिं च । नये नये मेघ ध्वनि करने वाले और

भोगान् । पर्जन्य चक्र से जहाँ का परिसर, अनेक पर्जन्य कणों से संपृक्त हुआ है, ऐसे समूह को

मधवा साकं वज्रेण विवृश्चत् । बहुत पर्जन्य वाले मघवा ने सब बूंदों का विद्युत् रूपी वज्र से भेदन कर डाला, और पर्जन्य राशि को मुक्त कर दिया ।

सधस्ते । यह देखकर स्थान स्थान पर

इन्द्रम् । पर्जन्य समृद्धि करने वाले इन्द्र की

मरुतः अर्चन्ति । ऊर्ध्व गति वाले मरुत् गण, मेघ ध्वनि द्वारा प्रार्थना करते हैं । अर्च् = दीप्तिमान होना, प्रकाशना, ध्वनि करना ।

त्रैष्टुभेन । त्रिष्टुभ उपकरण से प्राप्त हुये रेडियो ध्वनि से- अस्य वामीय सूक्त में (१-६४)

त्रैष्टुभेन वाकम् । वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदा । ऐसे कहकर, कवि ने कहाँ रेडियो, दूरबीन, समान एक त्रैष्टुभ नामक उपकरण का उल्लेख किया है । और इस उपकरण द्वारा मिलने वाली ध्वनि से , तरगों की उत्पत्ति के समय प्राप्त होने वाली ध्वनि, पृथ्वी पर गिरने वाली उल्काओं की गणना, आकाश गंगा की तीव्र ध्वनि देने वाली विभाएँ, आदि अनेक तथ्यों को प्रकट किया है । इधर कवि ने इस त्रैष्टुभ के उपयोग से पर्जन्य समृद्धि की जानकारी कैसे होती है, यह दिखलाया है । त्रैष्टुभेन वचसा बाधत द्याम् । त्रैष्टुभ उपकरण से प्राप्त हुए रेडियो ध्वनि से, तेजयुक्त वातावरण में स्थित बादलों की जानकारी मिली ॥६.

इससे मालूम पड़ता है कि त्रैष्टुभ उपकरण से बादल और वर्षा का भी पता चलता है ।

सातवीं ऋचा में दो महत्वपूर्ण वाक्यांश आये हैं (१) त्रीणि शतानि महिषा अपचत् । और इसमें "महिषा" । शब्द के बारे में विचार होना जरूरी है ।

ऋग्वेद में जब पुल्लिग हो, तो महिषाः महिषौ ।

उदाहरणार्थ- अस्यवामीय सूक्त में

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया । यह द्वौ सुपर्णौ सयुजो सखायौ । ही है । लेकिन कवि ने ३०० दिये हैं, इसीलिये ऐसा अर्थ नहीं हो सकता है ।

जब "महिषा" । नपुंसक लिंग हो जाय तब इसका मतलब "महिषानि" । हो सकता है । उदाहरणार्थ- अस्यवामीय सूक्त में-

यत्र इमा विश्वा भुवना अधि तस्थुः । का अर्थ है- यत्र इमानि विश्वानि भुवनानि अधि तस्थुः । ऐसा मान सकते हैं ।

लेकिन सायणाचार्य ने अपने भाष्य में- अग्निः महिषाणां पशूनां त्रीणि शतानि इन्द्रस्य निमित्त भूतेन क्षिप्रं पपाच । ऐसा दिया है । महिषा से महिषाणाम् । इस प्रकार कैसे हो सकता है ? अग्नि ने तीन सौ (३००) भैंसों का मांस पकाया, इसे क्या आप स्वीकार कर सकते हैं ? यह क्या इन्द्र का कसाईघर था ? कि वहाँ ३०० भैंसों को पका दिया ? यह अर्थ मुझे कतई रुचिकर नहीं लगता है ।

ऋग्वेद के सूक्तों का अध्ययन करने से मालूम पड़ता है कि-ऋग्वेद में पुल्लिग का शक्ति के अत्यन्त बलशाली घटकों के लिये उपयोग हुआ है । स्त्रीलिंग का उपयोग मध्यम शक्ति के और कल्याणमय घटनाओं के लिये किया गया है । इसीलिये प्रत्येक सूक्त का एक निश्चित देवता दिया गया हैं । और नपुंसक लिंग क्षुद्र या कम महत्वपूर्ण घटनाओं के लिये और कल्याणकारी परिश्रम करने वालों के लिये काम में लिया गया है । इसीलिये मैं इधर महिषा = महिषाणि । पर्जन्य समृद्धि के लिये परिश्रम करने वाले छोटे छोटे कृष्णवर्णीया धब्बों के बारे में चर्चा करना चाहता हूँ ।

(२) "इन्द्रः साकं त्रीणि सरांसि सूत सोमं पिबत्" । इन्द्र ने एक साथ तीन सरोवर सुरा पान किया । इस प्रकार का अर्थ पाश्चात्य भाष्यकारों ने दिया है । यह क्या आपको ठीक लगता है ? और आगे भी दिया है, कि इसीलिये ऋग्वेद के सूक्त केवल बक-बक के गीत ही हैं । लेकिन, सोम जल । ऐसा ही एक अर्थ शब्दकोष में भी मिलता है । तो इन्द्र ने एक साथ तीन सरोवर के पानी का वाष्पीभवन किया, ऐसा अर्थ हो सकता है ।

सखा सख्ये अपचत् तूयमग्निरस्य क्रत्वा महिषा त्री शतानि ।
त्रीसाकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद् वृत्रहत्याय सोमम् ॥७.

सखा । सख्ये । अपचत् । तूयम् । अग्निः । अस्य । क्रत्वा । महिषा । त्री । शतानि । त्री । साकम् । इन्द्रः । मनुषः । सरांसि । सुतम् । पिबत् । वृत्र हत्याय । सोमम् ॥७.

अन्वयः-

सखा अग्निः सख्य अस्य, क्रत्वा त्रीणि शतानि महिषाणि तूयं अपचत् ।
मनुषः इन्द्रः साकं त्रीणि रहसि सुतसोमं वृत्रहत्याय पिबत् ॥७.

सखा अग्निः । कल्याणमय घटनाओं की सहायता करने वाला सखा अग्नि सख्ये । पर्जन्य समृद्धि करने वाले इन्द्र के लिये

सख्ये । सख्युः । मित्रभूतस्य अस्य इन्द्रस्य । (सा.भा.)

अस्य क्रत्वा । इस इन्द्र का विद्युत् यज्ञ से कल्याण करने

त्रीणि । तीन अलग-अलग स्थान पर-उच्च स्तर, मध्य स्तर और निम्न स्तर । शतानि । जिनका मापन किये जाने की संभावना है ऐसे सैकड़ों । ऋग्वेद में जिनकी सैकड़ों से गिनती होने की संभावना है उनके लिये शत । शब्द का उपयोग किया गया है ।

महिषानि । महत्वपूर्ण स्थान पर बैठे हुए छोटे-छोटे पर्जन्यमय काले धब्बे ।

महति स्थाने सीदन्, महिषः । (देवराज यज्ञ ३-३)

तूयं अपचत् । बहुत जल्दी ही पूर्ण किये गये । पच् = पूर्ण रूप करना ।

मनुषः इन्द्रः । सब कार्य, मानव के समान अतीव विचारपूर्वक कार्य करने वाला इन्द्र ।

साकं त्रीणि सरांसि । एक साथ तीन बड़े सरोवरों के जल का वाष्पीभवन करके सुत सोमम् । चक्रवात के कारण जो पर्जन्य बूंदें तैयार हुई उनके द्वारा

वृत्र हत्याय पिबत् । पर्जन्य का निषेध करने वाले वृत्रासुर का नाश करने के वास्ते, पान किया ॥७.

त्री यच्छता महिषाणामघो मास्त्री सरांसि मघवा सोम्यापाः ।
कारं न विश्वे अह्वन्त देवा भरमिन्द्राय यदहिं जघान ॥८.

त्री । यत् । शता । महिषाणाम् । अघः । माः । त्री । सरांसि । मघवा । सोम्या । अपाः । कारम् । न । विश्वे । अह्वन्त । देवाः । भरम् । इन्द्राय । यत् । अहिम् । जघान ॥८.

अन्वयः- मघवा यत् त्रीणि शतानि महिषाणां माः अघाः त्रीणि सरांसि सोम्या अपाः । विश्वे देवाः कारं न अह्वन्त, इन्द्राय भरम्, यत् अहिं जघान ।

मघवा यत् । पर्जन्य की बूंदों को समृद्ध करने वाले इन्द्र ने, यह जो आश्चर्य कारक कार्य किया ।

त्रीणि शतानि महिषाणाम् । तीन स्तर में रहने वाले सैकड़ों पर्जन्ययुक्त काले-काले धब्बों का ।

माः अघः । जलकणों से युक्त गर्भ खा डाला । त्रीणि सरांसि । और तीन बड़े-बड़े सरोवरों से वाष्पभूत हुये जल के द्वारा निर्मित । सोम्या अपाः । पर्जन्य बूंदों का भक्षण किया, तब । विश्वे देवाः सब तेजयुक्त घटकों ने कारं न अह्वन्त । यह इन्द्र हमें ही सहायता करने वाला है, जो ऐसा जानकर उसको बुलाया । यत् अहं जघान । और इन गर्जनाओं से ही, सर्प गति से घूमने वाले अहि को मार डाला ॥८.

९वीं ऋचा की प्रथम पंक्ति की देवता के रूप में, इन्द्र के साथ उसका को भी देवता माना है-

उशना यत्सहस्यै३ रयातं गृहमिन्द्र जूजुवानेभिरश्वैः ।

वन्वानो अत्र सरथं ययाथ कुत्सेन देवैरवनोर्ह शुष्णम् ॥९.

उशना । यत् । सहस्यैः । अयातम् । गृहम् । इन्द्र । जूजुवानेभिः । अश्वैः । वन्वानः । अत्र । स रथम् । ययाथ । कुत्सेन । देवैः । अवनोः । ह । शुष्णम् ॥

अन्वयः- हे इन्द्र, उशना यत् सहस्यै गृहं अयातम् । तत् जूजुवानेभिः अश्वैः । अत्र सरथं वन्वानः देवैः कुत्सेन ययाथ । शुष्णं ह अवनोः ॥९.

हे इन्द्र । सभी घटनाओं के निर्मापक, हे इन्द्र ! उशना । सब घटनाओं को शीघ्रगति से पूर्ण करने के लिए जब उशना ने । यत् सहस्यैः । अपने दीप्तिमान् घटकों के साहचर्य से । गृहं अयातम् । स्थान-स्थान पर भ्रमण किया । तत् जूजुवानेभिः अश्वैः । तब वह कार्य, शीघ्र गति से जाने वाले स्थान व्यापकों से ही पूरा कराया गया । अत्र । वहाँ पर ही उसे मालूम पड़ा कि सरथं वन्वानः । वेगवान् रथ में बैठकर पर्जन्य बूंदों का नाश करने वाले बहुत ही इन्द्रशत्रु ऊधम मचाते हैं । देवैः कुत्सेन ययाथ । तब प्रकाशमान् घटक (देव) और तीव्र तडित विद्युत् के साथ आप वहां गये । शुष्णं ह अवनोः और अवर्षण करने वालों को शासित किया ॥९.

प्रान्यच्चक्रमवृहः सूर्यस्य कुत्सायान्यद्वरिवो यातवेऽकः ।

अनासो दस्यूँरमृणो वधेन नि दुर्योण आवृणङ्मृध्रवाचः ॥

प्र । अन्यत् । चक्रम् । अवृहः । सूर्यस्य । कुत्साय । अन्यत् । वरिवः । यातवे । अकरित्यकः । अनासः दस्यून् । अमृणः । वधेन । नि दुर्योणे । अवृणक् । मृध्रवाचः ।

अन्वयः- अन्यत् चक्रं प्र अवृहः । सूर्यस्य कुत्साय अन्यत् । वरिवः यातवे अकः । अनासः दस्यून वधेन अमृणः । मुध्रवा वः दुर्योणे नि अवृणक् ॥१०.

अन्यत् । चक्रम् । पर्जन्य की बूंदों को बड़ी बनवाने वाला कोई दूसरा पर्जन्य चक्र प्र अवृहः । वातों से अलग अलग कर दिया । प्र अवृहः । पृथक् चकर्थ । सा.भा.)

तुमने अलग किया । सूर्यस्य । गतिशील दीप्तिमान् पाटन विद्युत् को सूर्य सर्तेः वा सुवतेःवा । कुत्साय अन्यत् । तडित् विद्युत् के लिए कुछ अन्य प्रकार से अलग कर दिया । वरिवः यातवे अकः । और पर्जन्य यहाँ से वहाँ तक जाने के लिये अपने अपने मार्गों का निर्माण किया ।

अकः । अकार्षीः । (सा. भा.) अनासः दस्यून् । ध्वनि करने के लिये जिसे मुख भी नहीं है, ऐसे इन्द्रशत्रुओं का ।अनासः । आस्य रहितान् । आस्य शब्देन शब्दो लक्ष्यते । अशब्दान् मूकान् । (सा. भा.) वधेन अमृण । तडित् विद्यत्मय वज्र ने विनाश कर दिया । दुर्योणे । जिस स्थान पर घातुक शक्ति की वृद्धि होती थी उस स्थान में जाकर । मृध्रवाचः । अपमानी घातुक ध्वनि का । नि अवृणक् । समूल नाश कर दिया ॥१०

स्तोमासस्त्वा गौरिवीतेरवर्धन्नरन्धयो वैदथिनाय पिप्रुम् ।
आ त्वामृजिश्वा सख्याय चक्रे पचन्पक्तीरपिबः सोममस्य ॥११

स्तोमास । त्वा । गौरिवीते । अवर्धन । अरन्धयः वैदथिनाय ।पिप्रुम् ।आ । त्वाम् । ऋजिश्वा । सख्याय । चक्रे । पचन् । पक्ती । अपिबः । सोमम् । अस्य ॥११

अन्वयः- गौरिवीतेः स्तोमासः त्वा अवर्धन् । वैदथिनाय प्रिपुः अरन्धयः ।ऋजिश्वा त्वाम् सख्याय चक्रे ।पक्ती पचन् ।अपिबः सोमम् ॥११

गौरिवीतेः स्तोमासः पृथक् होकर जाती है चैतन्य शक्तियाँ होने वाली मेघ ध्वनि की मंगलिका से । त्वा अवर्धन तुम्हारी शक्ति की बहुत वृद्धि हुई । वैदथिनाय । जिस स्थान पर निर्मिति धारक शक्तियाँ तथा संरक्षक शक्तियाँ और सहायक शक्तियाँ एकत्र होती हैं जो स्थान के लिये । पिप्रं अरंधयः उन शक्तियों को एकत्रित करने , विरोध करने वाले पिप्रु को शरणागत होना पड़ा । ऋजिश्वा । पर्जन्य बूंदों को निर्मल बनाने वाला त्वां सख्याय आचक्रे । आपके साथ सख्य स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हुआ । पवतीः पचन् । इसी प्रकार आपने बूंदों को पूर्णत्व प्रदान किया । और इन्द्र को शक्तियुक्त करने के लिए । अस्य सोमं अपिबः । उस स्थान पर रहने वाले पर्जन्य बूंदों का पान करा दिया ।

बारहवीं ऋचा में नवग्वासः और दशाग्वासः । ऐसे दो शब्द आये हैं । नवग्वासः नौ नौ से युक्त होने वाले प्रकाश किरण । पर्जन्य युक्त बादल में पर्जन्य तुषार, पर्जन्य बूंद, और बड़ी बूंद ऐसे तीन प्रकार होते हैं । और इनके वाष्पी भवन, द्रवी भवन या हिम गोली भवन,

ऐसे तीन प्रकार होते हैं। और ऐसे ३x३ = ९ प्रकारों से विविध प्रकार से किरण परावर्तित हो जाते हैं। इसीलिए उसको नवग्वासः कहा गया है।

दशग्वासः। और ये नौ प्रकार अष्ट दिशा, ऊपर की दिशा और निम्न दिशा चमकीली बनाते हैं। इसीलिए उसे दशग्वासः बताया है।

नवग्वासः सुतसोमास इन्द्रं दशग्वासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
गव्यं चिदूर्वमपिधानवन्तं तं चिन्नरः शशमाना अप व्रन् ॥१२.

नवग्वासः। सुत सोमासः। इन्द्रम् दशग्वासः। अभि। अर्चन्ति। अर्कैः।गव्यम्। चित्। अर्वम्। अपिधान वन्तम्। तम्। चित्। नरः। शशमानाः। अप। व्रन्। १२.

अन्वयः- सुत सोमासः नवग्वासः इन्द्रम्। दशग्वासः अर्कैः।अभि अर्चन्ति। चित् अर्व गव्यं अपधानवन्तम्। शशमानाः नरः तं चित् अप व्रन्। १२.

सुत सोमासः। चक्रवात से निष्पीड़ित पर्जन्य के बूंद। नवग्वासः। नौ प्रकार के किरणों का प्रक्षेपम करने वाले। इन्द्रम्। इसी प्रकार से इन्द्र की शक्तियाँ बढ़ाते रहते हैं। दशग्वासः। और दस दिशाओं में रहने वाली चकमीली पर्जन्य बूंद। अर्कैः। अपनी अपनी किरणों से। अभि अर्चन्ति। अपने अपने स्थान पर मेघ गर्जना करती रहती हैं और स्व सामर्थ्य के अनुसार प्रकाशमान होती रहती हैं। चित् अर्वम् गव्यम्। वैसे ही एकत्रित हुये किरण समूह को। अर्वम्। समूहम्। सा.भा.) अपिधानवन्तम्। दूर तक फैली हुयी घटनाओं की सुरक्षितता के लिये आवरण डालने वालों को (और) प्रदर्शित करने वाले घटकों को। शशमानाः नरः। अतीव चपल तथा शक्तियुक्त घटकों ने (नृ = शक्तियुक्त घटक) तं चित् अप व्रन्। स्वयं की शक्तियों को भी प्रदर्शित किया ॥१२.

कथो नु ते परि चराणि विद्वान्वीर्या मघवन्या चकर्थ।
या चो नु नव्या कृणवः शविष्ठ प्रेदु ता ते विदथेषु ब्रवाम ॥

कथो इति। नु। ते। परि। चराणि। विद्वान्। वीर्या। मघवन्। या। चकर्थ। या। चो इति। नु। नव्या। कृणवः शविष्ठ। प्र। इत्। ऊ इति। ता। ते। विदथेषु। ब्रवाम ॥१३.

अन्वय : कथो नु परिचराणि विद्वान्। हे मघवन् यानि वीर्याणि चकर्थ।हे यविष्ठ यानि नव्यानि चो कृणवः। तानि ते उदु विदथेषु ब्रवाम ॥१३.

कथो नु ते परि चराणि । कल्याणमय कार्य करने वालों को तुम्हारे सहायकों ने जैसी सहायता दी । विद्वान् । उसकी जानकारी अवश्य ही होनी चाहिये । विद्वान् । जान् । (सा.भा.)

हे मघावन् । पर्जन्य संपत्ति से समृद्ध , हे इन्द्र ! यानि वीर्याणि चकर्थ । तुमने जो कुछ अतीव शौर्ययुक्त कार्य किये, उनकी भी जानकारी जरूर होनी चाहिये । हे यविष्ठ । सबसे अधिक बल संपन्न वाले, हे इन्द्र ! यानि नव्यानि चो नु कृणवः । तुमने नव नवतम ऐसे जो जो कार्य किये हैं । ते तानि उदु । उन तुम्हारे सब कार्यों का परिचय हम निश्चय से । विदथेषु प्र ब्रवाम । विद्वद्रल के समूह में, जरूर-जरूर कर देंगे ॥१३.

एता विश्वा चकृवाँ इन्द्र भूर्यपरीतो जनुषा वीर्येण ।
चा चिन्नु वज्रिन्कृणवो दधृष्वान्न ते वर्ता तविष्या अस्ति तस्याः ।

एता । विश्वा । चकृवान् । इन्द्र । भूरि । अपरि इतः । जनुषा । वीर्येण । या । चित् । नु । वज्रिन । कृणवः । दधृष्वान् । न । ते । वर्ता । तविष्याः । अस्ति । तस्याः ॥

अन्वयः- हे इन्द्र, भूरि अपरीतः एतानि विश्वानि जनुषावीर्येण चकृवान् । यानि चिन्नु, हे वज्रिन दधृष्वान् कृणवः तस्याः तविष्याः ते वर्ता न अस्ति ॥१४.

हे इन्द्र । सब घटनाओं के निर्मितिकर्ता, हे इन्द्र ! भूरि अपरीतः । कोई भी जबरदस्त शत्रु, आपके कार्य में बाधा नहीं डाल सकता । अपरीतः । शत्रुभिः अपरिगतः (सा.भा.) एतानि विश्वानि । इन सब घटनाओं की वीर्येण जनुषा चकृवान् । अतीव शक्तियुक्त वीर्य से और आत्मीयता से तुमने निर्मित की । यानि चिन्नु । और जो कुछ (निर्माण किया)

हे वज्रिन । दोनों हाथ में तडित् विद्युत् धारण करने वाले हे इन्द्र दधृष्वान् कृणवः । तेज चैतन्य के द्वारा तुमने किया

तस्याः तविष्याः । उनकी आतीव बलवान् शक्ति से । ते वर्ता न अस्ति । तुम्हें घात पात करने की शक्ति किसी में भी नहीं रही ।

इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व या ते शविष्ठ नव्या अकर्म ।
वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथं न धीरः स्वपा अतक्षम् ॥

इन्द्र । ब्रह्म । क्रियमाणा । जुषस्व । या । ते शविष्ठ । नव्याः । अकर्म । वस्त्रा इव । भद्रा । सु कृता । वसु युः । रथम् । न । धीरः । सु अपाः । अतक्षम् ॥ १५.

हे शविष्ठ इन्द्र । सबसे अधिक बल संपन्न कार्य करने वाले हे इन्द्र !

ब्रह्म क्रियमाणा । जिस स्थान में तुम्हारी विस्तारित होने वाली घटनाओं की निर्मिति चल रही हैं ।

जुषस्व । उस स्थान में ही खुशी मान ।

यानि । छोटे छोटे घटकों को चेतावनी देने की

ते नव्याः अकर्म । जो तुम्हारे नव नवतम कार्य हैं, उनमें हम प्रसन्नता से भाग लेंगे ।

वस्त्रेण भद्राणि सुकृतानि । बहुमूल्य वस्त्र के समान, अतीव कल्याणमय और आनन्ददायी कार्यों की

वसूयूः । दीप्तिका के हम इच्छार्थी हैं । (वसु दीप्तिमान घटक, यु-इच्छार्थी)

रथं न । तेज चलने वाले वाहन के समान । (रंहण स्वभाव धर्मम् रथः ।)

धीरः । प्रज्ञानयुक्त इन्द्र ने

सु अपाः अतक्षत् । कल्याणमय पर्जन्य के जल को मुक्त कर दिया ॥ १५.

पितृ समीक्षा के आलोक में ऋग्वेदीय पितृसूक्त का अर्थ-विश्लेषण

डॉ. द.बा. क्षीरसागर
सहायक निदेशक,
राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

१. श्रौत तथा स्मार्त पितृ-श्राद्धों के निरूपण में पं. ओझा ने पितृतत्व की समीक्षा का प्रारंभ सृष्टि-प्रक्रिया की चर्चा से किया है। उक्त चर्चा में पितृतत्व की, गई समीक्षा का विचार कर तदनुसार ऋग्वेद- दशम मण्डल के प्रसिद्ध पितृसूक्त के पं. ओझा की दृष्टि से ध्वनित होने वाले अर्थ को प्रतिपादित करना प्रस्तुत शोध पत्र का विषय है।

२. पं. ओझा ने शतपथ ब्राह्मण की निरुक्ति के आधार पर "यजु" शब्द को यत् और जू का संयुक्तरूप स्वीकार किया है- यत् अर्थात् वायु और जू का अर्थ है– आकाश। वायु-आकाश को प्राण और सोम भी कहा गया है– प्राण तो ऋषि है– अग्नि हैं। अग्नि तेजलक्षण है जबकि सोम का स्नेहस्वरूपत्व प्रसिद्ध है– अग्नि का विवर्त प्राण है तो सोम का विवर्त पितर-अग्नि ऊर्ध्वगामी है– इसलिए वह दक्षिण से उत्तर की ओर गतिमान है– सोम– किसी भी द्रव की तरह अर्वाक् गतिमान है- इसलिए सोम की गति उत्तर से दक्षिण की ओर है।

३. अग्नि और सोम-दोनों का ही एक त्रिविध रूप है– यह विभाजन "स्थूल से सूक्ष्म" इस सिद्धान्त पर आधारित है– अग्नि के तीन रूप या तीन अवस्थाएँ– अग्नि, वायु और आदित्य हैं। अग्नि की भाँति-सोम भी त्रिरूपात्मक है-सोम, वायु, तथा आप। अग्नि का विवर्त-शक्तिरूप-आंगिरस है-सोम के विवर्तों को भार्गव कहा गया है– भृगु कवि का अंशरूप कव्य भी सोम का ही एक विवर्त है।

४. प्रत्येक सजीव में अग्नि तथा सोम- अर्थात् क्रिया और इच्छा के अतिरिक्त एक तीसरी शक्ति और है जो इन दोनों का नियमन करती हुई शरीर में क्रिया तथा इच्छा शक्ति का संतुलन बनाये रखती है। वह है यम। अर्थात् अग्नि और सोम के मध्य यम की स्थिती होती है। यम की एक शक्ति के साथ अग्नि की तीन तथा सोमी की तीन शक्तियाँ मिलकर सात पितृशक्तियाँ-सर्जकशक्तियाँ हो जाती हैं- इन्हें ही सप्तविध पितर कहा गया हैं। उत्तरगामी अग्नि का स्थान दक्षिण में, अधोगामी सोम का स्थान उत्तर में तथा इन दोनों के

मध्य यम का स्थान होने से ही संभवतः पितृयज्ञ में अग्नि की आहुतियाँ दक्षिण दिशा में, सोम की उत्तर दिशा में तथा मध्यस्थान में यम के लिये आहुतियाँ दी जाती हैं ।

५. सृष्टि के उत्पादक तत्व के रूप में अमृत के साथ मृत अथवा मृत्यु का भी महत्व कम नहीं है- क्योंकि मृत्यु के बिना तो अमृत कैसे मिलेगा ? पं. ओझा ने अमृत को रस और मृत्यु को उसका बल कहा है- यह बात ज्ञान, इच्छा तथा आवरणात्मक होने से त्रिरूपात्मक है- इन बलों का प्रयोग करते हैं-मन, प्राण तथा वाक् । मनु-अर्थात् मनुष्य के जीवन प्रवाह को संचारित करने वाला तत्व इन बलों की सहायता से मनुष्य रथ हांकता है-उसके सहायक हैं दो चक्र-अग्निषोमात्मक-अर्थात् क्रिया और इच्छा । वे यम की धुरी पर स्थित हैं- जब अग्नि अथवा सोम में से एक का भी सन्तुलन बिगड़ जाता है तब जीवनप्रवाह का संहार करने वाली यम-शक्ति प्रभावशाली हो जाती है-व्यक्ति मृत को छोड़ अमृत के पथ पर अग्रसर होता है ।

६. इन तीन शक्तियों का कार्यक्षेत्र है– पिण्ड या शरीर जिसे उपनिषदों में पंचकोशात्मक कहा गया है-आनन्दमय कोश से अन्नमय कोश तक-इनमें स्थूलरूप अन्नमय कोश सात पदार्थों- शुक्र, मेद, मज्जा, अस्थि आदि से बनता है– इसलिए वह सप्तचितिक है । अन्नरस से निर्माण होने वाले पदार्थों से मनुष्य शरीर में एक ओजपिण्ड का निर्माण होता है । ओझाजी ने यह स्पष्ट किया है कि, २८ दिन के प्रत्येक नक्षत्रमास में एक ओजपिण्ड बनता है-अर्थात् प्रत्येक ओजपिण्ड की २८ कलाएं होती हैं । इस ओजपिंड की तीन गतियाँ होती हैं- अधः, तीर्यक्, तथा ऊर्ध्व । अप-अधः गति से मनुष्य संतान प्राप्त कर अपने पितृऋण को चुकाता है । संयमित रहने वाले गृहस्थों के ओजपिण्ड तिर्यक् गतिशील होते हैं-तिर्यक् गति से उनकी ओजस्विता बढ़ती है । सतत् चिन्तनशील रहने वाले, मनन-निदिध्यास में लगे ब्रह्मचारी योगी और संन्यासियों के ओजपिण्ड ऊर्ध्वगतिमान् होते हैं । पं. ओझा के अनुसार मूलपुरूष के ओजपिण्ड की २८ कलाओं में से क्रमशः कम होती हुई सतावीं पीढ़ी के पुरुष तक कलाओं का अंश रहता है- यही कारण है कि श्राद्ध में पूर्व-पूर्व की सात पीढ़ियों के मृत-पितरों को ही पिण्डदान किया जाता है ।

७. अर्थात् "पितर" समष्टि और व्यष्टि के सर्जक या नियामक तत्व हैं और यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे न्याय से वे शक्तियाँ मनुष्य शरीर में भी रहती हैं । मनुष्य पितृयज्ञ में इन शक्तियों का आह्वान करता है । इस पार्श्व-भूमि पर ऋग्वेद के पितृसूक्त का अर्थप्रतिपादन श्रेयस्कर रहेगा-

ऋग्वेद १०-१-१५

-: १ :-

उत । ईरताम् । अवरे । उत् । परासः । उत् । मध्यमाः । पितरः । सोम्यासः । असुमू । ये । ईयुः । अवृकाः । ऋतऽज्ञाः । ते । नः । अवन्तु । पितरः । हवेषु ॥ १.

अर्थ- उत्तम, मध्यम तथा अवर पितृगण-अर्थात् दिव्य, ऋत तथा प्रेत अथवा आग्नेय, योग्य और सोम्य पितृशक्तियां- हमें प्रेरित करें-ब्रह्म की वाक् के द्वारा होने वाली विकारमय सृष्टि-ऋत को जानने वाली तथा अवृक-मंगलमयी ये शक्तियाँ हमारी रक्षा करें।

-: २ :-

इदम् । पितृभ्यः । नमः । अस्तु । अद्य । ये । पूर्वासः । ये । उपरासः । ईयुः ।ये पार्थिवे । रजसि । आ । निऽसत्ताः । ये । वा नूनम् । सुऽवृजनासु । विक्षु । २.

अर्थ- सुब्रह्मा के साथ संयुक्त जो पूर्व-अर्थात् दिव्य पितर-अग्नि और सोम की विवर्तभूत शक्तियाँ हैं— जिन्होंने पार्थिव सृष्टि का निर्माण किया- तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् उन्हें नमस्कार है।

-: ३ :-

आ । अहम् । पितृनु । सु विदन्नान् । अवित्सि । नपातम् । च । विक्रमणम् । च । विष्णोः । बर्हि सदः । ये । स्वधया । सुतस्य । भजन्त । पित्वः । ते । इह । आ गमिष्ठाः ॥३.

अर्थ- मेरे इच्छा व क्रिया के द्वारा क्रियमाण कार्यों के लिये मैंने इन शक्तियों को प्राप्त किया-ब्रह्म की वाक् के माध्यम से दृश्यमान व्यापनशीलता विष्णुत्व को मैंने समझ लिया है अन्नमयकोश में स्वधा से प्रस्रवित होने वाले रस को सोम की ये शक्तियाँ प्राप्त करती हैं।

-: ४ :-

बर्हिऽसदः । पितरः । ऊती । अर्वाक् । इमा । वः । हव्या । चकृम । जुषध्वम् । ते । आ । गत । अवसा । शम्ऽतमेन । अथ । नः । शम् । योः । अरपः । दधात ॥ ४.

अर्थ- हे सोमपितरों । (अपनी स्वाभाविक निम्नाभिमुखी) गति से आप आते हैं-यज्ञ (सतत् चलने वाली शारीरिक क्रियाओं) में आप इच्छारूपात्मक रहते हुए प्रमुख हैं-आप हमारी रक्षा करें।

-: ५ :-

उप हूताः । पितरः । सोम्यासः । बर्हिण्येषु । नि धिषु । प्रियेषु । ते । आ । गमन्तु । ते । इह । श्रुवन्तु । अधि । ब्रुवन्तु । ते । अवन्तु । अस्मान् ॥५.

अर्थ- हमारे द्वारा आहूत की गयीं सोम की इच्छारूपी ये शक्तियाँ प्रियनिधि- अन्नमय कोश में उत्पन्न होने वाले रसमय ओज को प्राप्त करें- उस ओज से हमारी मनस्विता बढ़ें- हमारी अभिव्यक्ति इनके अनुरूप मंगल हो ।

-: ६ :-

आऽअच्य । जानु । दक्षिणतः । निऽसद्य । इमम् । यज्ञम् । अभि । गृणीत । विश्वे । मा । हिंसिष्ट । पितरः । केन । चित् । नः । यत् । वः । आगः । पुरुषता । कराम ॥६.

अर्थ- हे आग्नेय पितरों । शरीर में सतत चलने वाले यज्ञ में आप दक्षिण दिशा में रहें— अर्थात् नित्य संतुलित रहें— तथा शरीर में शक्ति-सन्तुलन से चलने वाले यज्ञ की प्रशंसा करें-अर्थात् उसे असन्तुलित न होने दें— शरीररूपी पुरी में शयन करने वाले पुरुष द्वारा किये जाने वाले अवांछनीय कार्य पर आप क्रोध न करें-अर्थात् क्रिया-इच्छा का सन्तुलन बराबर बना रहे ।

-: ७ :-

आसीनासः । अरुणीनाम् । उपस्थे । रयिम । धत्त । दाशुषे । मर्त्याय । पुत्रेभ्यः । पितरः । तस्य । वस्वः । प्र । यच्छत । ते । इह । ऊर्जम् । दधात ॥७.

अर्थ- प्रकाशमान-अर्थात् अग्नितत्व से संबंधित-हे शक्तियों-तुम्हें सतत हवि देने वाले-अन्नकोश की सप्तचितिक अवस्था बनाये रखने वाले यजमान और उसके पुत्रों को तुम ओजरूपी श्रेष्ठ धन प्रदान करो ।

-: ८ :-

ये । नः । पूर्वे । पितरः । सोम्यासः । अनुऽऊहिरे । सोमऽपीथम । वसिष्ठाः । तेभिः । यमः । सम्ऽरराणः । हवीषि । उशन् । उशत्ऽभिः । प्रतिऽकामम् । अत्तु ॥८.

अर्थ-देवशक्तियों केसाथ सोमपान करने वाली अर्थात् अभिव्यक्त होने वाली हमारी मंगल कामनाओं-तुम्हारे साथ रममाण होता हुआ यम-अर्थात् याम्यशक्तियों का अधिष्ठाता भी अन्नमयकोश में दी गयी हवि को स्वीकार करे ॥८.

-: ९ :-

ये । ततृषु । देव त्रा । जेहमानाः । होत्रा विदः । स्तोम तष्टासः । अर्कः । आ । अग्ने । याहि । सु विदत्रेभिः । अर्वाङ् । सत्यैः । कव्यैः । पितृ भिः । धर्मसत् भिः ॥९.

अर्थ- देवशक्तियाँ-दिव्य पितरों की शक्तियों के साथ जुड़ी यज्ञ (अग्नि और सोम का साहचर्य) कर्म जानने वाली, अर्कों-अर्थात् प्राणशक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्ति करने वाली हमारी जो पितृशक्तियाँ (अग्नि, यम, सोम) हैं- वे तृप्त रहें - हे अग्नि - ऐसे सुविदत्र सर्जनकारी कल्याणकार्य में संलग्न- सत्य प्राणयुक्त आत्मा की "धर्मसद्" सतत् क्रियाशील- कव्य स्नेहयुक्त प्राणशक्तियों के साथ तुम आना ।

-: १० :-

ये । सत्यासः । हविः अदः । हविः पाः । इन्द्रेण । देवैः । स रथम् । दधानाः । आ । अग्ने । याहि । सहस्रम् । देव वन्दैः । परैः । पूर्वैः । पितृ भिः । धर्मसत् भिः ॥ १०.

अर्थ- हे अग्नि ! अग्नीषोमात्मक इन्द्र के साथ रहने वाली हवि (रस) का उपभोग करने वाली, प्राणयुक्त आत्मा की जो दिव्य शक्तियाँ हैं– ऐसे पर-पूर्व-पितर-दिव्य और मध्यम शक्तियाँ जो देवशक्तियों (देवपितरों के द्वारा शरीर धारण करने) से प्रसन्न हैं, तुम उनके साथ आना ।

-: ११ :-

अग्नि स्वात्ताः । पितरः । आ । इह । गच्छत । सदः सदः । सदत । सु प्रनीतयः । अत्त । हवींषि ।प्र यतानि । बर्हिषि । अथ । रयिम् सर्व वीरम् । दधातन ॥११.

अर्थ-अग्नि के द्वारा आहूत- हे सोमशक्तियों- आप आयें अर्थात् अपने मूल संतुलित स्थान को प्राप्त करें-तत्पश्चात् हमारी (रसमय) हवि को स्वीकार करें-तथा सर्ववीर रयि-सभी धनों में श्रेष्ठ धन-ओज-हमें प्रदान करें ।

-: १२ :-

त्वम् । अग्ने । ईलितः । जातवेदः । अवाट् । हव्यानि । सुरभीणि । कृत्वीं । प्रं । अदाः । पितृ भ्यः । स्वधया । ते । अक्षन् । अद्धि त्वम् । देव । प्र यता । हवींषि ॥ १२.

अर्थ- हे जातवेद (अग्नीषोमात्मक होने से समस्त सृष्टि-कर्म को जानने वाले हमारे द्वारा प्रार्थना करने पर तुम हवि को सुरभित बनाकर (अपाच्यादि अन्नकोश में अनुपयुक्त

सामग्री को छोड़) अन्य पितरों जनक शक्तियों तक ले जाओ- वे शक्तियाँ हवि स्वीकार करें– तुम स्वधा को स्वीकार करो।

-: १३ :-

ये। च। इह। पितरः। ये च। न। इह । यान। च। विद्म (यान्) ऊँ इति। च। न। प्र विदम्। त्वम्। वेत्थ यति। ते। जात वेदः। स्वधाभिः। यज्ञम्। सु कृतम्। जुषस्व ॥१३.

अर्थ- जिन पितृशक्तियों को हम जानते हैं-उन बर्हिषद तथा अग्निष्वात्त (८६,००० + ६४,०००) पितरों तथा जिन्हें हम नहीं जानते हैं, ऐसे सोमसद पितरों को तुम प्रसन्न करो।

-: १४ :-

ये। अग्नि। दग्धाः। ये। अनग्नि। दग्धाः। मध्ये। दिवः। स्वधया। मादयन्ते। त्रेभिः। स्व राट्। असु नीतिम्। एताम्। यथा वशम्। तन्वम्। कल्पयस्व ॥१४.

अर्थ- अग्निसात् होने वाली सोम की शक्तियाँ तथा अग्निसात् न होने वाली यमरूपी जनशक्तियाँ मनोमयकोश के मध्य में हमारे द्वारा दी गयी खधा(अन्न) रस से आनंदित हो- हे अग्नि, तुम (ब्रह्माण्ड में व्याप्त प्राण व इच्छारूपी शक्तियों के मध्य) उन शक्तियों के साथ इस शरीर की प्राणसोमात्मक शक्तियों को एकीकृत करो।

वेदों में अग्नीषोमीय मंत्रों का विवेचन

डॉ. गोविन्दराम चरौरा
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर

पण्डित मधुसूदन ओझा की व्याख्या के अनुसार अग्निविद्या का सम्बन्ध ऋग्वेद से और सोमविद्या का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य है। अग्नि और सोम दोनों ही प्राणरूप हैं। समस्त असंज्ञ, अचेतन, जड़, अन्तःसंज्ञ वनस्पत्यादि एवं संसज्ञ कृमिकीटादि जीवसर्ग अग्नि का विस्तार है किन्तु यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, ऐन्द्र, प्राजापत्य, पैत्र तथा ब्राह्म सोम की सृष्टि हैं। अग्नि तथा सोम के दो रूप हैं- सत्य तथा ऋत। सत्याग्नि तथा सत्यसोम अविकारी बने रहते हैं किन्तु ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति से जो यज्ञ होता है उसी से ऋतु उत्पन्न होती हैं। अग्नि उष्ण तत्व है, सोम शीततत्व। इन दोनों के क्रमिक उतारचढाव से ऋतुपरिवर्तन होता है। मनुष्य के दक्षिण-भाग में अग्नि की प्रधानता होने से उतनी सक्रियता नहीं होती। दाम्पत्य जीवन में पुरूष में अग्नि प्रधान है स्त्री में सोम प्रधान है। अग्नि और सोम सदा साथ साथ रहते हैं। इस प्रकार प्रकृति में ऋतु-परिवर्तन, चेतनप्रकृति में दाम्पत्यभाव और सृष्टि के विकास में समस्त जीवसर्ग अग्नि और सोम का ही विकास है, जिसको लक्ष्य में रखकर "अग्नीषोमात्मकं जगत्" कहा गया है। पण्डित मधुसूदन ओझा द्वारा व्याख्यात तथा पण्डित मोतीलाल शास्त्री द्वारा विशदीकृत "अग्नीषोमात्मकं जगत्" सूत्र की जो संक्षिप्त व्याख्या ऊपर की गई है। उसी के आलोक में हम वेदों के उक्त सूक्तों के कतिपय मंत्रों पर प्रस्तुत निबन्ध में विचार करेंगे जिन सूक्तों में अग्नीषोम देवताद्वन्द्व की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में ऐसा सूक्त पहले मण्डल का तिरानवें वां है। यजुर्वेद में दूसरे अध्याय के पन्द्रहवें मंत्र में अग्नीषोम की स्तुति की गई हैं। अथर्ववेद में ८/९/१४, तथा १८/२/५३ में भी अग्नीषोम की स्तुति है। इसी प्रकार के अन्य स्थल भी ढूंढे जा सकते हैं।

इन मन्त्रों में स्वयं सायणाचार्य ने अग्नि और सोम को प्राण अपान रूप कहा है। ऋग्वेद १/९३/४ की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य कहते हैं-

प्राणापानरूपयोर्युवयोर्वृत्तेऽनवस्थानात्स मरणं प्राप्तः"।

अपनी इस व्याख्या के समर्थन में सायणाचार्य तैत्तिरीय संहिता उद्धृत करते हैं-

तस्माज्जंजभ्यमानादग्नीषोमौ निस्क्रामतां प्राणापानौ वा एनं तदजहिताम्"।

सायणाचार्य द्वारा अग्नि और सोम को तैत्तिरीय संहिता के प्रमाणपुरस्सर प्राण और अपान बताना इस बात का सूचक है कि वे अग्नीषोम के प्राण रूप से परिचित थे तथा ये मानते थे कि अग्नीषोम ही जीवन है। यह व्याख्या पण्डित मधुसूदन ओझा की व्याख्या का पूर्वरूप कही जा सकती है।

इससे अगली ऋचा १/९३/५ में अग्नीषोम का तारामण्डलों से सम्बन्ध स्थापित करते हुए सायणाचार्य कहते हैं- "युवां रोचनानि रोचमानाहि दीप्यमानान्येतान्यस्माभिर्निशि दृश्यमानानि ताराग्रहादीनि ज्योर्तींषि दिवि द्युलोके धृतं। स्पष्ट है कि सायण को अग्नीषोम के ऋतुओं के सम्बन्ध का ज्ञान था। इसी प्रकार इससे अगली ऋचा- १/९३/६ सायणाचार्य ने अग्नि का संबंध भृगु से जोड़ा है, इससे यह ध्वनित होता है कि सोम का सम्बन्ध आंगीरस से है। यदि यह मान लिया जाय तो अग्नि और सोम क्रमशः भृगु और आंगीरस से जुड़ जायेगे। ओझा जी के विवेचन में जिस प्रकार अग्नि और सोम का युगल महत्वपूर्ण है उसी प्रकार भृगु और आंगीरस का युगल भी महत्वपूर्ण है।

इसी ऋचा में सायणाचार्य ने आज्यभाग आहुति के अग्निदेवता सम्बन्धी मन्त्रद्वारा उत्तर में तथा सोम सम्बन्धी मन्त्र द्वारा दक्षिण में आहुति देने का उल्लेख किया है। कर्मकाण्ड के आधार पर सायण द्वारा दिये गये इस संकेत की व्याख्या ही पण्डित मधुसूदन ओझा तथा उनके शिष्य पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री ने इस रूप में कर दी कि अग्नि हमारा दाहिना भाग है और सोम बाँया भाग। क्योंकि शेष सभी आहुतियाँ उत्तर और दक्षिण के बीच में दी जाती हैं, इसीलिए तैत्तिरीय श्रुति कहती है– "राजानौ वा एतौ देवानां यदग्नीषोमावन्तरा देवता इज्येते"।

जिस प्रकार सायणाचार्य के भाष्य में पण्डित मधुसूदन ओझा की व्याख्या पद्धति के बीज मिलते हैं उसी प्रकार स्वामी दयानन्द की व्याख्या में भी अथर्ववेद की ८/९/१४ की व्याख्या के समय अग्नीषोम का अर्थ सूर्य और चन्द्रमा किया गया है। सूर्य उष्णता और चन्द्रमा शैत्य का प्रतीक है। यह व्याख्या भी ओझा जी के बहुत निकट है। यजुर्वेद २/१५ की व्याख्या करते समय स्वामी दयानन्द ने अग्नि का अर्थ अग्नि और सोम का अर्थ चन्द्रलोक किया है। यह अर्थ भी पण्डित मधुसूदन ओझा के बहुत निकट आता है।

हमारे इस लघुकाय निबन्ध लिखने का प्रयोजन, यह प्रदर्शित करना है कि पण्डित मधुसूदन ओझा की वेदव्याख्या पद्धति सम्प्रदाय विरुद्ध नहीं है। उनके द्वारा किये गये वेदमंत्रों की व्याख्या का मूल सायण प्रभृति भाष्यकारों में खोजा-जा सकता है। इसीलिए

पण्डित मधुसूदन ओझा यह कहा करते थे कि वे किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना नहीं कर रहे। पण्डित मधुसूदन ओझा ने केवल इतना किया कि जो अर्थ परम्परा में वीज रूप में प्रच्छिन्न थे उन्हें विस्तार से खोलकर रख दिया। वे अपने मन्तव्य के समर्थन में अधिकतर श्रुति उद्धृत करते हैं उन श्रुतियों से सायण जैसा विद्वान् भाष्यकार परिचित न हो यह सम्भव नहीं है। जैसा कि हमनें ऊपर सायणभाष्य के सन्दर्भ में देखा। सायणाचार्य ने भी अपने समर्थन में श्रुति उद्धृत की हैं। जहाँ जहाँ सायणाचार्य ने अपने भाष्य में ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत किये हैं उन स्थलों का यदि एकत्र संकलन किया जाय तो सायणाचार्य और पण्डित मधुसूदन ओझा की वेद सम्बन्धी दृष्टि की समानता का आसानी से पता लग सकेगा।

अन्य भाष्यकारों के साथ मधुसूदन ओझा की तुलना करते समय यह भी ध्यान देने योग्य है कि दूसरे भाष्यकार वेद की क्रमबद्ध व्याख्या कर रहे थे जबकि पण्डित मधुसूदन ओझा नासदीय सूक्त जैसे कुछ सूक्तों की क्रमबद्ध व्याख्या कर पाये। उनकी व्याख्या पद्धति को लेकर वेद के किन्ही सूक्तों की क्रमबद्ध व्याख्या का प्रयत्न अभी भी नहीं हुआ है। अभी ऐसा कर पाना संभव भी नहीं दिखता। उदाहरणतः प्रस्तुत अग्नीषोमीय मंत्रों को ही लें तो इन मंत्रों में वैसी ही स्तुति की गई है जैसी अन्य किसी देवता के सूक्त में रहती है, अर्थात् शत्रु पर विजय की कामना, धन, यश और समृद्धि की कामना। ऐसी स्थिति में उस पूरे सूक्त का कोई सम्बन्ध उस अवधारणा से नहीं जुड़ पाता जो अवधारणा पण्डित ओझा ने अगनीषोम की बनाई है। ऐसी स्थिति में वेद के विद्यार्थी को पण्डित ओझा जी की पद्धति के अनुसार वेद के मंत्रों का अर्थ करने में बहुत कठिनाई होती है।

पण्डित ओझा जी का साहित्य विशाल है। हमें उसके २२८ ग्रन्थों में से ३३ ग्रन्थ ही मिल पाये हैं। हो सकता है यदि उनके शेष ग्रन्थ भी उपलब्ध हो जायें तो उस कठिनाई का समाधान भी हो सके जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक तो ओझा जी की पद्धति के अनुसार वेदमंत्रों की आंशिक व्याख्या ही हो पायेगी।

॥ इति शुभम् ॥

SYMBOLISM IN RGVEDA IV, 58

R.T. VYAS

The prevalent view about the contents of the nucleus of the Rgveda is that there are Sacrificial litanies and propitiatory prayrs of the priests addressed to personified powers of Nature together with certain myths regarding the deities and poet-seers. It is only in the later hymns, that, in the hymns contained in the firsrt and the tenth *Mandalas* that we come accross the initial attempts at formulation of philosophical and moral concepts, borrowed from the hostile Dravidians. The object of the present paper is to show that in the vey nucleus, Philosophical and psychological theories are propounded. For instance, in the last hymn of the fourth *Mandala* there is a profound symoblic presentation of the typical process of the search of the immortal spirit in the innermost recesses of human hearts and the attainment of abiding bliss. This is held to be the highest value. attainable in human life. In fact, the life in India is organized around this central objective. It invloves the intitive perception of the Ultimate Reality, later in the Upanishads called the self within the depth of one's mind. as the very basis of human psyche. The process is experiential and repeatable and therefore bears the stamp of authenticity.

This fact adequately explains why the Vedas have been traditionally held in high esteem as the source of authority in the domein of a great variety of philosophical thought, religious observance, social organization and cultural paradigmas that flourished in India for the last five millennia. They are reverd as the genesis and standard of all that is authorsitative in the whole Vedic literature, Purana, Tantra in the theories

of great metaphysical systems, philosophical schools and in the teachings of sages and seers of all ages.[1] In short, the Vedas are revered since they contain the statement of the highest spiritual truth cherished in India, in symbolical language.

The fifty-eighth hymn of the fourth *Mandala* is a typical hymn illustrating the aforesaid fact. It is an attempt at presenting symbolically the liberating message that the immortal and blissful sprit, the highest divinity that entered the human beings, could be found in the subtle recesses of one's own heart. The symbolism, is sacrificial as prevaling in those times. It is fortunately transparent as the cluts to the objects for which the different symobls stand are clearly mentioned in the text itself

समुद्रादूर्मिर्मधुमां उदार सममृतत्वमानट् ।
घृतत्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥१ ॥

" Forth from the ocean sprang the wave of sweetness together with the stalk it turned to Amrta. That which is holy oil's mysterious title; but the God's tongue is truly Amrta's centre."

व्यं नाम प्रब्रवामा घृतस्यास्मिन्यसे धारयामा नमोभिः ।
उपब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गो वसीद् गौर एतत् ॥२ ॥

"Let us delcare aloud the name of *ghrita* at this sacrifice, we celebrate it with adoration: may Brahma listen to its being glorfied: the four-horned, fair-complexioned deity (Agni) has emitted it."

चत्वांरि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीषे सप्तहस्तासौ अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभौ रोखीति
महो देवो मत्यां आविवेश ॥३ ॥

" Four are his horns, three are his feet, his heads are two, his hands are seven, the triple bound showeer of fruits of action roars aloud, the great Deity that entered the mortals."

त्रिधा बद्धं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो व्यृतमन्यवविन्दन् ।
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान येनादेकं निष्टलक्षुः ॥४ ॥

The gods discoverd the *ghrita*_concealed by the panis placed three fold in the cow, Indra generated one (portion – Surya another, the (other god's) manifested one from the

resplendent (Agni) with his innate power, (All cow, Tridhe milk, curd, butter.

एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे ।

घृतस्य धारा अभिचारुशीमि हिरण्ययो वेतसी मध्य आसाम् ॥५ ॥

These hundred-channeled streams emit from the ocean, the heart, unobsered by the hostile (panis) I look upon these streams of ghtria and behold the golden stalk, (flame of) (Agni) in their midst.

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा भनसा पूयमानाः ।

एते अर्धन्त्यूर्मथो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः ॥६ ॥

"They flow uninterrruptedly like pleasing rivers, purified by the heart and mind within them these streams of *ghrtia* descend (upon the Agni) like deer running away from the hunter."

(Mahidhara ; santah-Vachh speech, hymns, freed from error by heart's awareness and mind's alertness.)

सिन्धोरिव प्राध्वने शूधनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः ।

घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठाभइन्दभूमिर्मभिः ॥६ ॥

"The copious steams of ghee (speech) emit, inspired by vital breath, rapid as waters of river down a declivity, breaking, throgh the confining banks and hurrying on with their waves, like a high-spirited steed.

अभि प्रवन्त समनेव पोषाः कल्याण्यः स्मथमानासो अग्निम् ।

घृतस्य धारा समिधो नसन्त ता जुषाणो र्ह्यति जातवेदाः ॥८ ॥

" The streams of ghrita incline to Agni as devoted wives, auspicious and smiling, to a husband, they feed its flame like fuel, and Jatavedas, propitiated accepts them."

कन्या इव वहतुमेतवा उ अ ज्य जाना अभिचाकशीमि ।

यत्र सोमः सूयते यत्र य५ो घृतश्य धारा अभि तत्पवन्ते ॥.९ ॥

" I behold these strams of ghrta as they flow from where soma is emitted. where the sacirfice (is solemnized) as maidens decorating themeselves with unguents to go to the bridegroom."

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमांजिमस्नासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्स्वन्ते ॥१०॥

" (Preasts) address the pious praise, (the source) of herds cattle; bestow upon us auspicious riches convery our sacrifice to gods where the streams of ghee with sweetness descend."

धामं ते विश्वं भुवनमधिश्रितमन्तः समुद्रे हृद्यरायुषि।
अपामनीके समिथे ये आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ॥११॥

"The whole world finds an asylum in your effulgence, manifest in the inner ocean of the heart, in the life (of beings), we enjoy your honeyed wave that is brought about at the confluence of waters, or at the war (of gods and demons).

The aforestated translation of the eleven *mantras* is based on the commentaries of Sayana, Mahidhara, Uvvata and of Griffith, Wilson, Grasmann and Ludwig. According to them *samudra* means sacrifical fire, or the celestial fire or firmament,. or the udder of cow. *Urmi,* wave, accordingly may mean reward of action, rain and butter respecitvely. Ludwig thinks that ghrita stands for the life-giving essence which is obtained from the world-ocean and turns into Soma in the Moon. According to Griffith it stands for the tongune of gods, especially Agni from which *amri ta* proceeds and to which it returns.

All such interpretations are evidently based on the primary meaning of the terms used in the text. But since the major objects mentioned in it, such as *Samudra, Urmi, Ghrita, amrita Agni, Saritah, gauh Vrasabhah,* and others are, in fact, images which symbolically stand for unconscious or subconscient which according to Jung is limitless, the divine ecstacy, speech, the spirit, the light of pure awareness, surging aspiration, divine light and the supreme self. These symbolical images are employed by the seer-poet Vamadeva, because the hymn purports to convey the spiritual experience of the immortal and blissful spirit, ensconsed in the innermost recesses of of one's heart. The words *antahsamudre hrdi antah ayusi* in the inner ocean of the heart and life and *urmih madhuman,* honeyed wave, arising in that ocean, suffciently make it clear beyond an iota

of doubt that the seer speaks of the *anandalahari* that arises within one's heart when one withdraws one's senses from the sense-objects and is freed from the three bonds with which his personal consciousness is tied down to the physical, vital and mental levels of existence and thus succeeds in perceiving his devout aspirations reaching the supreme DIVINTIY the inmost self, such an inner journey ends up in the liquidation of the finite ego and the realization of all pervading divine principle, generating in that are the incessant waves of sweet bliss.

Agni has triple existence that is in the earth, in the firmament as lighting and in the heavens as the Sun.

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः ।

"Three are three places of birth for the god Agni that are great, true and beautiful."

The sun that illumines the world is the traditional symbol of the self as the latter is self-luminous and at the same time illumines all the levels of consciousness and reveals all objects;

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

"The sun is the self of all that moves and that moves not."

Similarly terrestrial fire is also the symbol of the self-luminous spirit, the highest God, Mahodevo, that has entered the mortals. This explains his epithet Jatavedas, knowing every being that takes birth, because he is fixed as the spirtit in all beings.

जन्मन्जन्मन् निहितो जातवेदा विश्वामित्रेभिरिध्यते अजस्रः ।

"The Agni that is kindled by the Visvamitras constantly is palced in every birth."

The metaphor given in the third verse, therefore, can be interpreted in the following manner, apart from the traditional interpretation with regard to the sacrificial fire. The four horns, are the four inner organs, namely Manas, budhi, citta and ahamkara. The three feet are the three psychic states of waking, dream and deep sleep. Two heads represent the finite being and the infinite being, Seven hands stand for five

cognitive senses, *Prana* and *manas*. Triple bondage again is in the three levels of existence. physiclal, vital and mental. Rgveda, Ist, 146 1 speaks of Agni as having three heads seven rays, *timurdhanam saptrasmim.* At another place Agni, as the immortal spirit, is stated to have been placed among gods, and men;

यो मत्येष्वमृत ऋृतावा देवो देवेष्वरसिर्निधाय ।

After this triple bondage is loosened, the sweet streems of ghee representing upward aspirations are freed from the concealing agencies called *Panis*, and they start flowing towards the self (Agni) who accepts them iovingly. When this happens, one expericnes the effulgent, sweet and blissful waves arising from the inner ocean of the heart which encompass the entire universe.

This very spiritual experience is narrated by the seer-poet Visvamitra with the same symbols substituting the inner ocean for the inner guha, cave;

बृहन्त इद्धानवो भा ऋृंजीकमग्निं सचन्त विद्युतो न शुक्राः ।
गृहेव वृद्धं सदिसि स्वे अन्तरपार ऊर्वे अमृतं दुहानाः ॥

"Like brilliant lightenings, mighty luminaries reach the light diffusing Agni, Increaded as if, in the cave, in his own inner infinite dwelling (heart), he milks out immortality."

The sacrificial overtone in the symbolism signifies the gradual development of the tendency to renunciation. It beings with the objects of libation to be offered into the outer fire, but has to develop in the realization of the existence of inner fire of which the outer one is merely a symbol. Into this inner fire, the total objective world is to be offered as the penulitinate libation, the ulitmate one being one's own mind, together with its vagrant thoughts;-

यं देवासोऽजनयन्ताग्निं यस्मिन्नाजुहवुर्भुवनानि विश्वा ।
सो अर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा ॥

"That Agni whom the gods generated and in whom offered all the worlds, radiates by his greatness the earth and heavens, in accord with the course of truth, through his pervading rays."

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागन्वीतिहोत्रा ऋतावृधः ।

" I offer all mental modifications (into the inner fire) together with mind as melted butter, so as the truth-abiding, fire-worshipping gods may arrive hither".

This is how the external *Agnihotra* leads to inner *pranagni- hotra,* the *purnahuti* or ultimate offeringt in this inner sacrifice being the *ghrita* of mind. The last hymn of the *fourth Mandala* contains the *Purnahutimantras*, which necessarily require to be symbolical, because they describe the psychological process of integration of the unconscious with the conscious mind, resulting in the manifestation of the superconscious principle, the self. This perception of self is said to be individuation by Jung, involving total awareness of one's whole being. The process of individuation is a heroic task and is most difficult, as it invokes the loss of ego into a greater dimension of being. As a result of integration of conscious and unconscious, the ego enters the divine realm, where it participates in the functions of gods. According to Jung the self is not mere concept or logical postutate, but the psychic reality of which a small part is conscious, while the greater portion embraces the unconscious and is therefore inconceivable except in the form of symbols.[2]

The hymn under discussion delineated the process of the archetypal life of the sage who has effected the inner transformation through the perception of the self, in symbolical images, because it involves the events in his conscious life as well as in the life that transcends cosciousness.

Upalaksana – a bridge between traditional and symbolistic interpretation of the Vedas

DIPAK BHATTA CHARYA
Visva Bharati, Santiniketan, W.B.

The type of the Vedic interpretation which has become most popular in modern India can be designated, if one likes to use a single generic term, symbolistic interpretation. One after another modern interpreter of the Vedas Ram Mohan Roy, Dayanand Sarasvati, Madhusudan Ojha, Aurobindo and Coomaraswamy, to name a few-has proposed some kind of symbolistic interpretation, though it cannot be claimed that they all viewed the Vedas in the same light. The methods adopted by the said interpreters have one basic feature in common in that Vedic figures like gods, seers and things are not taken in the literal sense of the terms used but as standing for notions of some esoteric explanation.

One may take Madhusudan Ojha's (Maharsikul-avaibhavam) explanation of Bhrigu and Angirasas for example. Here a theory of creation is first stated along with a theory of existence. Whatever Bhrigu and Angiras stand for, fit into the built up system. The built up system may differ from thinker to thinker, but the approach and methodology are the same or very similar with Aurobindo, Coomaraswamy and others.

At least two common assumptions are basis to all these interpretations :

(i) There is a general theory of existence-a world outlook in the Vedas.

(ii) The Vedic descriptions have an external and one or more internal meanings-the latter pertaining to the said world out took, I term this theory of internal meaning of words, conforming to some estoteric explantion of the Vedas, the symbolistic theory

It needs no argument to prove that the later medieval perfection of the theories of laksana (लक्षणा) and vyanjana

(व्यंजना) profoundly influenced the growth of the modern symbolistic interpretation of the Vedas. However, one has to note that although the said Indian theory of meaning extensively developed before the modern age, a total symbolistic aproach is modern phenomenon and is not to be found in the writings of the medieval or ancient commentators. The purpose of the present paper is to focus on some important facts of the various stages of development through which the idea of symbolism grew in Vedic interpretation.

YÃSKA : Yaska had a theology, but he did not take aid of any kind of symbolism to establish the theology. Yaska clearly states his theology : *mahabhagyad devataya eko atma bahudha stuyate* (N. 7.4). But his method is etymology which stands in stark contrast to symbolism. In etymology the inner sense of a word is arrived at through one or more supposed verb-roots. But in symbolism the word and the thing (*padartha*) are themselves explored to arrive at the suggested sense.

To take an example, *Keshin* is an adjective for Aditya (RV. 10.136.1). The equation can easily be explained by the rays of the sun imagined as hairs. In the 14th century Sayana actually says so : *kesa-sthaniya rashmayah*.

But Yaska has quite a different method. He forsakes the conventional meaning of Kesa 'hair', asserts that this means rays and tries to prove that through an absurd etymology : *Kesa rashmaya : tais tadvan bhavati, kashanad va prakashnad vã* (N. 12.25). There are some other such examples.

It is not that Yaska had no idea of metaphor. He assets (N. 2.16) that the Indra-vritra myth is a metaphorical description in single words is ignored. Obviously Yaska had no theory of laksana before him as Sayana had. This is also evidenced by the fact that he uses the term *upamarthena* to mean 'metaphorically'.

So, for Yaska there is no symbolism, no laksana in words which express senses directly from inferable verb-roots concealed in them. It is no wonder that while Yaska is successful in showing how the deity is variously

praised (*bahudha stuyate*), the unity is hardly established through interpretation.

The brihaddevata uses the verb upa/laks (1.45.8.79) in the sense of using a word for indicating the sense of something (*dravya* for *bhava*). This could not be so without some understaning about gauni vrtti. But the idea is not extended to Vedic interpretation in the BD.

Patanjali interprets RV.4.58.3 and 8.69.12 symbolistically. He also speaks of *arthasraya gaunatva* 'secondariness regarding sense' (P.1.1.15, 6.3.46, 8.3.82) in a different context. Patanjali was quite competent to apply symbolism to Vedic interpretation, but his scope was limited as he could not take up Vedic verses without relevance to his discussion.

Coming to the Mimamsa Sutras one finds that the concept of laksana is well developed in Sabara'a commentary. While MI.SO.1.2.46 advises that an absurd statement in the Vedas should be viewed as arthavada, Sabara relates this to *catvari sringa trayo asya pada* etc (RV.4.58.3) stating 'the thing spoken of here has no existence, but the words could be taken in an indirect sense'. He thus presents this as a case of Mukhyarthabadha. Sabara has clearly analysed *laksanika* prayogas and has shown the Vyanjana too. He knows the term laksana (1.2.22). His explanation of *osadhe trayasvainam* (TS.1.2.1. and M.SO.1.2.46) includes the purpose of laksana--*yajnashraddhaye sadhananam cetanasadrishyam upabadayitukamah amantranashabdena laksayati* osadhe trayasvainam iti 'The words of address 'O herbs, please protect' are used to suggest that towards the accomplishment of the sacrifice the accessories are as efficient as intelligent beings'. This is a statement of the vyangyartha. This show how Sabara could efficiently bring out secondary and suggested sense. Still he is far behind Anandavardhana or any late medieval philosopher of language. This is so because Shabara has no theory of lakshana and vyanjana, his statements are only empirical. What he did was the creation of the ground on which later philogists of medieval India could build up their theories of vyanjana and lakshana, Sabaro himself did not state the

theories, though his analysis as shown above could lead any one to the formulation of such theories.

However, in the light of the above facts it is difficult to see how the root upa/laks could mean' to mention' in the M : SO (3.2.29, 10.4.5 etc) as is commonly believed.

It is true that this sense of the word is noted in the Kalpasutras. But the Brihaddevata has a different sense. So has Sayana later. Hence it may not be unwise to reexamine the case. As far as it appeared to me, a different translation of the verb, conforming to shabara's idea of secondary sense could be possible.

Comparing shabara with Yaska one may state that while Yaska has an esoteric understanding of the Vedas without much esoteric interpretation through symbolism. Shabara practically explained a few verses symbolically, but had no esoteric understanding of the Vedas as a whole, had only ritualism as opposed to theology conforming to higher religion, and hence did not feel any necessity to apply symbolism to the Vedas as a whole. He has given us only ad hoc interpretations in aid of ritualism. The four horns stand for the four hotrs and so on. So far as Kumarila is concerned it will not be proper to make a final and comprehensive judgment here. It may be said that so far as the already noted cases are concerned, Kumarila does not seem to have a different position. He understand RV.4.58.3 as a rupaka, though in the Alankarashastra rupaka means a kind of alankara and not a laksanika use-*catvari shringeti rupakadvarena yagstutih*. This reminds one of Yaska's words on the metaphorical nature of the Indra Vritra fight-*tatropamarthena yuddhavarna bhavanti* (2.16). This may only indicate the absence of the development of a strong theoretical basis for the idea of lakshana and vyanjana. But I am not sure. And unfortunately no sholar has as yet made a comprehensive firsthand analysis of Kumarila's theories of meaning.

Shankara (Brahmsutrabhashya 1.1.22-31) shows interesting. He has a theology - theism-and interprets the Upanishads in that light. The problem of esoteric meaning is dealt with in no less than nine sutras as indicated above. The sutras refer to passages where Brahman is equated with

akasa, prana, jyotih and Gayatri. Shankara's own words on the significance of jyotih is as follows :

> 'It has been argued that the words 'light shines' conventionally refer to physical light. This is no fault. For, since the sense of Brahman fits into the context the two words cannot be restricted to the particular (sense of physical light). Thus it is possible to mean Brahman too by mentioning (*upalakshite*) shining physical light.'

This is invoking the authority of the Vedas whose consistency, it is implied, should not be challenged. But Shankara tries to establish this through independent logic, Showing a few exmples of the word jyotih meaning illuminator, Shankara concludes :

> 'Hence, whatever illuminates somthing is called light. This being so, since Brahman too as consciousness illuminates the whole world, the word light is appropriate (here). Many modern symbolistic interpreters must have been indebted to these clear statements of Shankara. However, two things should be noted with interest. Firstly, Shankara actually uses the term *upalakshita* in the sense of 'uttered to mean something else! Secondly, he too, apparently, shows no acquitence with the theory of lakshana and vyanjana'.

After shankara the thory of Lakshana and Vyanjana had been assiduously pursued and developed by Anandavardhana, the Naiyayikas and later Alankarikas. By Sayana's time the word *Upalakshana* had found recognition as a technical term meaning a word having a kind of metaphorical sense (Sahityadarpana 10). Sayana uses the word upalakshana in the sesne of symbol. Some examples are RV.10.121.7,8,8; 125.7,8. Hence Agni, Yajna, dyaus etc are explained as standing for (upalakshana) jagat-the created world. But, though Sayana found a fully developed symbolistic theory of signification in contemporary philology, the way in which Shankara, after the Brahasutras, explained a number of Upanishadic passages is missed by Sayana Sayana is eclectic and even sometimes slips back into the ancient etymological method.

The ground for the modern symbolistic approach, thus, had been prepared by the Mimamsakas, Shankara and the Alankarikas through the ages. The extensive use of this ground for Vedic interpretation in the modern age should not ignore the agelong preparation of the said ground by our predecessors. At the same time it will be pertinent to enquire why the comprehensive symbolistic approach became so popular in the modern age. Perhaps the cause for this is the advent of science and rationalism. It is not difficult to say why, unlike our ancestors, a modern enlightened Hindu will try to discover a *mukhyarthabadha,* an absurd equation, whenever there is a remote chance of discovering irrationalism in the Vedas. The consummation of his rich inheritance gives rise to the modern symbolistic approach as he tries to establish, justifiably so, that there is a rational underlying the apparent absurdities of the vedic mythology.

The Concept of Sapindya

A.S. Ramanathan,
8, Pushpaka Nagar,
Srirangam,
Trichy 620006

We have seen in an earlier paper that the Vedic seers used many features of rainfall and snowfall in formulating their concepts on the origin and sustaina of human beings and events concerned with the soul after death. Since these are relevant to their concept of Sapindya, it will be useful to put them down again here.

During the summer, water from the reservior lakes and sea evaporate and is stored in the atmosphere as water vapour. During the rainy season, when the winds become favourabel clouds form and rian fall takes palce. While the rain water falling in forests and mountainous areas has to undergo lot of tortures like passing throgh dense forests, bushy and thorny regions and steep and rocky slopes before it reaches the plains and gives birth to life, the water directly falling on the plains has a comparatively easy course before it joins the main rivers and feeds life wherever it flows.

During the winter precipitation occuring the form of snow in the high ranges of hills in the Himalayas and accumulates at the top of the mountains. Part of the snow in the very high slopes becomes glaciers in course of time which present more or less a permanent pattern at the higher altitudes. When the summer sets in, the snow in the lower ranges melts and the melted water passes throgh bushy regions, dense forests and rocky slopes undergoing lot of torture as it were, before it reaches the plains giving rise to or feeding life forms of all kinds. While there is a cycle of events causing accumulation and depletion of snowfall in the lower hilly regions, the snow on the tops of high nountains remain more or less unperturbed and is not subject to the tortures undergone by the snow of the lower reaches.

It is not difficult to understand what would happen if cycles of snowfall and rain fall do not occur in an orderly way. When there is not enough snowfall, melt–water becomes scanty causing hardship to life in the plains. When it is far in excess for a number of years calamities occur again destroying life. Thus regulated depletion and restoration of snow is provided in Nature which in turn ensures prosperity for life forms of all kinds on earth.

Each one of the above features of rainfall and snowfall should have been carefully observed and understood by the vedic seers who made intelligent use of them to frame their concepts pertaining to adhyatmika and adhidavika levels.

The Vedic seers, as we have seen eariler, in order to explain maithuni snsti postulated the Pitri–Prama which has its origin in the aptatva of the parameshthi region and which gets established in the S'ukar (procreative fluid) of every man. In other words the creative process that go towards the making of a child with all its details are contributed by forces that operate from the heaven and it is very necessary, that the processes are always in perfect condition for ensuring ideal and healthy species on earth.

It will be useful at this Statge to note here the corraspondence of snow reservoir at the adhibhauti level to the store house of aptatva (Paramesthive apah) at the adhidvaik level and the store house of S'ukra in man at the adhyatmic level.,

According to the Vedic seers all occurrences in Nature which go towards the well being and prosperity of mankind should be protected by us and nothing should be done which has adverse effect on them while a certain amount of conservation takes place automatically, it was the velief of the Vedic see that man by his good acts can also contribute sustantiall to all the good aspects of nature. For example, the Yajnas were prescribed for keeping the deva pranas healthy for constructive creation processes. The offerings made in Agni were supposed to go up and compensate for the loss of creative power of Prajapati who engages himself in the process of creation throgh devaprans. The real idea is that processes like rainfall which are essential for the prosperity of

mankind get weakend in course of time and it is necessary that they are replinished by some upward feeding like what takes place during the Yajnas, That is why Manu says;

> " Agnau prastahulit samyak adityamupatisthate.
> adityajjayaa vrstih vrsterannam tatah prajah.
>
> An offering made properly in Agni reaches the sun.From the sun rain takes place. From rain food is produced and from food the living beings come into existence.
>
> Manu actually seems to suggest here that unless upward feeding throgh Yajnas is there, rain may not take place.

What applies to devapranas applied to Pitri-Pranas as well. We have already seen in a previous paper that the apah of the Parameshthi region forms the reta (Shukra) which has two forms viz. bhrigu and angira. Bhrigu is snehatatva and angiras is tejas tata (heat). Angiras forms the Yoni (womb) and bhrign the retas. as a reshti of this ahuti (deposition) the sun (Hiranyagrabha) is born which constitues deva srsti. It is throght the sun rain takes place and as a result food is produced. Food taken by man prodces his rates and when sexual food is produced. Food taken by man produces his ratas and when sexual union takes place, the child is borm, Thus it is the parmeshthy pitri tatvi that is responsible for prajah (living leings) on earth.

The concept of atman in Vedic literaute is fairly difficult to grasp. We get conficting statements in literature regarding its definition. A genrral definition found in the Brihadranay Kopanisat says ' sa va esa atama vangmayah, pranamayah, manomayah The real meaning of this statement is perhaps that the atman represents the principle of co-ordinated functioning of mind (manas), life (prana) and body (vak). Because three entities are involved the atman has various facets. In other words the vedic seers believad in the multiplicity of atmans. of these the atman which is linked to the Paramesthya tatva and is established in the S'ukra of the man is called 'mahanatma. It is also called yajnatama and is responsible for man's procreative activity and his generall well being. It forms out of the Chandra soma part of the food

taken by the man. It is useful to note here that the vedic seers considered the moon as a replica of paramesthi soma. Karmatma is that atman which is responsible for the physical activity. That which guides the intellect and which ows its existence to the sun is vijnanatma. In our exposition on the Sapindya principle we will be mainly concerned with the mahanatma or yajnatma.

The Vedic seers were well aware of the fact that Nature works on the conservation principle and they made intelligent use of this principle in thair concepts. Just like for the smooth operation of the snowfall cyle the amount of snow depletion during the summer should be raplenished by falls of equal amount in the hill ranges during winter, the Vedic seers imagined that for the production of healthy human species on earth the portions of mahanatma (pitritatva) which come down for the creative processes should be restore back in full. If the process of restoration is left incomplete, there is always an adverse effect on the quality of the species.

Since the moon is always taken as the repository of soms, the Chandra mahanatma is established in 'Chandra Shukra. The pritri prana is the soumya prana that is associated with the mahanatma.

However because the pitrs are of three categories viz,, soumya, Yamya (vayavya) and agneya, three qualities viz., satva, rajas and tamas and three bhavs (attitudes) ahankriti, prakriti and akrti are attributed to mahanatma.

The Parameshthya mahan is all embracing, Creation through yajna, maithuni srishti, the sustenance of deva pranas, the creation and functions of the three types of pitri pranas etc. are all his manifestations. It is the oozed out portion (pravargya) of this mahanatma that gets established in every man's Shukara as his adhyatma samstha. When the man dies, this mahanatma goes to Chandraloka along with Karmatma assuming subtle form (Sukshma Sharira) This is borne out by Brahamstura 3/1/1 and the statement in Kaushitaki Upanishat viz.

> " Ye vai kecasmatlokat prayanti c andramesameva te sarve gacchanit."

After reaching the Chandraloka the Karmatma gets separated from the mahanatma and goes to various lokas to enjoy the fruits of its karma. After that it again takes birth on the earth as indicated by the statement in chhandogyopanisat.

> " Iti tu panc' mayamahutavapah purusa vac'aso bhavanti".
>
> " In the fifth ahuti the waters (retas) are responsible for the birth of purusha."

The mahantam which reached the Chandraloka gets merged with the other mahanatmas of the family and attains sapindya bhava. The Shraddha ceremony which we shall deal with later is intended only for the mahanatma.

The vedic seers imagined that it takes one lunar year (the time taken by the moon to go once round the sun and be back in the same position with respect to the sun and the stars) for the soul (mahanatama and karmatma) to reach the Chandraloka. Having reached there the mahanatma merges with the pitris of the family. This merging of the pinds (pitriatva) of the deceased with pindas (pitriatva) of the forefathers of the family which have already been deposited there is called 'sapindya bhava'. The ceremony performed by the son for the deceased father towards fulfilment of this state is called 'Sapindikarma'.

The vedic seers believed that the food that is produced throgh rain contains some which has it's origin in the Chandraloka. In fact they believed that it is soma that is converted into food throgh the rains. (It should be remembered that the moon was always taken as the repository of soma) The Chandra soma rasa has three components viz., retas, Shraddha and yash'as and these get into the food (anna)_which is formed out of soma rasa. Shukra, ojas and manas in the adhyatmik system are connected with the above three components. Retas forms the base for Shukra, the procreative fluid, yash's forms the base for ojas (personality) and shraddha forms the base for manas. Here we are mainly concerned with retas which has its origin in the Chandra rasa which establishes the Chandra pitritalva in the Shukar. It is this tatva that constitutes

mahanatma. It is this that goes back to Chandraloka when the man dies and attains sapindya bhava. The Chandra rasa that is established in the Shukra is called pinda and hence the words Sapindya, sapindikarma etc.

The pitri prana that is established in the Shukra is called saha. The influence of the C'andra rasa on the Shukra of the individual goes on continuously and is more during the night that during the day. Corresponding to the 28 nakshatras throgh which the moon moves, 28 fold monthly pinda is acquired by the S'ukra every month. This is called masika pinda. Thus during a lunar year thirteen masika Pindas are established in the Shukra. Actually in addition to these, two ayana pindas and one samvatsarika pinda are also formed. But for all practical puposes we may take that the 28 fold masika pinda is the main pinda which goes on getting wasted or transferred to generation below and is constantly replenished from above. It is because of the Saha tatva in the Shukra that man has sahasa i.e. capacity to achieved the desired object and it bestows on the man a general impressive personality. When the saha tatva is weak, the man's general performance is poor and his procreative activity also is poor. In other words it is the presance of this saha tatva that is responsible for the full blossom of the mahanatma in the man. Its main function is to enable the man to keep the family chain (prajatantu) unbroken throgh procreative activity.

The vedic seers believed that when a man is born he inherits from his father a certain portion of the genetic characteristics which were described by them as certain portion of his mahanatma or sahatava. Part of what he inherits in transferred to his son. This goes on till the seventh generation at which stage the transferred portion of the first generation man is so little that no further transfer is possible. In other words the eighth generation man does not inherit any characteristics of the first generation man. That is, Sapindya ceases at the seventh generation. The vedic seers however defined two more terms 'Sodaka' and 'Sagota' Sodaka pitritva extends upto 14th generation and sagotra pitritatva extends upto 21st generation. It is very interesting to note that these names again have i an analogy with the origin of snow melt water or rain water. One can imagine three

situations viz., water coming from a particular limited region (Sapinda), water from a particular rivulet collecting water from a few regions (sodaka) and water from a mountain having a number of rivulets (sagotra). It should be noted that gotra means a mountain. It is easy to see why sagotra embraces more ganerations than sapinda or sodaka.

We have already said that when a man gets a son, only a portion of his charactertistics (saha tatva) are transferred to the son. The rest are retained by him. His son transfers only a part of what he inherits from his father to his son and this goes on. In other words every man retains a certain portion of what he inherits, with himself. When he dies, that portion of saha tatlva which he retains is returned back to Chandraloka but what he transferred to his son remains distributed upto the seventh generation. As people die in the family, the distributed portion of the Saha tatva (mahanatma) goes on getting deposited back in the Chandraloka. This pratyarpana karma (the act of returning back) goes on in Nature. When the seventh generation man dies in the family the entire characteristics of the first generation man are back in the Chandraloka. This would mean that the mahanatma of the first ganeration man in Chandraloka is complete in all respects. It is no longer bound to the earth. It is free to move and get merged with Paramesthi region which is the origin of Pitri prana. This according to vedic seers is the mukta of the mahanatma.

In the opinion of the vedic seers unless the above pratyarpnana of the pitri tatva takes place conservation of all the potentialities of mahanatma which along will ensure the birth of healthy species on the earth is not possible. It should be noted here that when the seventh generation man dies, the return process is complete only for the first generation man dies, the return process is complete only for the first ganeration man or the mula purush. All the other man of six generations who have die have only part of their mahanatma restored to Chandraloka, the amount restored being maximum for the second generation man and decreasing steadily for the later generations. Because of the incomplete restorations their souls (mahanatma) are turned towards the earth and are always on the look out for their remaining portions which are distributed in the living persons in the

family. The vedic seers believed that these souls remain hungry and if not appeased, eat away the procreative potentialities of the living persons. They therefore prescribed the S'raddha ceremony in which food in the form of pindas (balls) are offered with great sincerity (Shraddha) by the living persons to the six forefathers (pitris). They believed that these offerings keep the pitris satisfied and they in turn bless the family with healthy children.

Actually, of the six generations for whom the Shraddha ceremony is donel. the three generations immediately preceding the person performing the Shraddha are called pindabhajas and the other three generations lepabhajas. That is why actually pindas are offferd in practice to the three preceding generations in the Shraddha and the other three derive their food throgh lepa (wipings of the hand).

Nature is so designed that every activity has a feed back arrangement. Because there is a celestial component in the birth of children on the earth, there should be a constant feed back in order that it is maintained. According to the Vedic seers the feed back is throgh the souls of man who successively restore back what is spent in the downward direction. For keeping this process in operation, the chain of birth in the family should not be broken and therefore the Vedic seers considered prajotpadana as a sacred duty. For avoiding any break in the family, they prescribed various ways of adopting a son.

It is clear from what we have discussed above that the Shraddha ceremony is done for those pitris whose portions of mahanatma still lie distributed in the family members. In other words Shraddha karma is intended for satisfying the hungry pitris who are still looking forward towards liberation form earthy bond. The Vedic seers considered the rituals for the pitris more important than the rituals for the devas. (Devakaryad dvijatinam pitrikaryam vish'isyate'.) Shraddha or sincera devotion is an important aspect of all Vedic rituals and therefore we shall see some details of these rituals with special reference to the significance of Shraddha.

The yajnas done by man closely follow what takes place in Nature. The ahavaniyagni represents the sun and the Garhapatyagni represents Prithivi. The ahutis are offered in

ahavaniyagni. While the material part of the ahuti (oblation) remains here, the prana part goes up and feeds the devas who in turn feed the adhyatmika preana devatas of the yajemana and at the same time keep the forces of Nature favorable to him.

The parthiva pranagni is called angiras. This agni rises up from the earth and goes towards dyuloka. The saurapranagni which is named aditya comes down to the earth. After reflection on the earth it moves upwards. The agniras agni mixes with adityagni. The Vasus, Indras (Rudras) and the Adityas who are devatas form out of this mixture of sauragni and angiras agni. In other words a stratification of the agni takes place. The vasus are at the lowest level the Euras in the middle level and the Adityas are at the upper level. It is the Angiras agni that carries the prana part of the ahutis offered by the yajamana and feeds the devas who in turn bless the earth with plenty of rain and thereby food. This is the meaning of Manu's statements.

Just like the Shraddha Sutra associated with the angiras tatva which is tejomaya (heart) serves as the medium for conveying the ahuti to dyuloka and feeds the devatas, the Shraddha sutra associated with bhrigu which is snehamaya (oily) serves as the medium for carrying the pinda (food) to the pitris and satisfied them. The Shraddha tatva has its origin in food and gets established in the manas.

We have already seen that Shrddha is one of the attribute of moon. This Shraddha which is in the form of waters (apah) is converted into soma by adityagni. When soma combines with parjanyagni, rain is producted which in turn falls on parthivagni and produces food. The food consumed by the purusha becomes his Shukra and when shukra is deposited into the womb (yosidagni) life is produced. This is pancagnividya as detailed in Chhandogyo panisat.

To summarise the Parmesthya Shraddhatatva has two streams (dhara) viz. sneha (oily) and tejas (hot) or bhrigu and angiras. The sneha stream is connected with Chandramandala and the tejas stream is connectad with sauramandala. The latter is connected with buddhi while the former is connected with manas. Saura Shraddha Sutra

activated devayajna and Chandra Shraddha sutra activated pitriyajna. The word Shrat represents satya tatva and the sutra. Carrying Shrat is Shraddha and is of satva type. The man's mind gets completely drenched with Shraddha and becomes one with it. It is the shraddha sutra which binds the sons with their forefathers and protects the sapaindya bhava.

The Shraddha sutra associated with chandra rasa exhibits increase and decrease in strength. During the Shukla paksha the saura prana devatas eat away the soma and therefore the soma dhara towards the earth is weak. On the other hand during the krishna paksa the somadhara towards the earth is strong. Particularly on the amavasya day it is strongest. The pitri pranas are believed to reside on the upper side of the moon. On the amavasya day they are directly exposed to the sun and are consumed by the sauragni. They badly need replenishment and such a replenishment is maximum when food is offered on amavasya day when the Shraddha sutra is strong. On the purnima day the side of the moon towards the earth is illuminated by the sun and therefore exposed to saura devatas and therefore the somadhara towards the earth decreases in strenght. Pitris on the other side remain unaffected and Shraddha sutra is weakest on this day. that is why the Vedic seers believed that Shraddha done on amavasya day satisfied the pitria who in turn bless their descendent on earth. That is why prajapati told (see Shatapatha brahmana) the pitris when they apporshached him " Masi masi vo ash' anam-you will have food every mouth.

Mahalaya is another occasion when shraddha is recommended. The word mahalaya only means Chandramandala which is the residence (avasabhumi) of pitris. During the krishna paksha of asvina (15 days) the pitri pranas remain weak. It should be noted that during the mahalays paksha the depletion of snow in the Himalayan ranges is maximum and at the same time the flow in the rivulets will also be maximum. The snow represents the pitri and the flow in the rivulest the shraddha sutra.

Thus it will be seen from what we have seen above the shraddha done at the time of death of a person or the

shraddha done on every amavasya or annually or during the mahalaya paksha all have a single purpose viz. to satisfy the souls and their mahatpinda which is in the Chandraloka and feed it whenever it gets weakened. Shraddha need not be done when the mahatpinda gets back all its portions and becomes free from earthly bond.

There is practice among Hindus to visit Gaya aand offers pinda (food) to the deceased. This shraddha is also for the six pitris whose portions of mahanatma lie distributed among the living family members.

We have already seen that the mahanatma and karmatma assume a sublte form and reach the Chandraloka. The vijnanatma reaches the sun and merges with it. After reaching the candraloka the karmatma gets separated and goes to other worlds for enjoying the fruits of its Karma. For this purpose it also takes with it a subtle form of mahanatma. This tamprarily attached mahatprana is called 'gaya'. This prana enables the 'Karmatma to go throgh the various experineces it is destined to enjoy or suffer in the other worlds. We shall deal more about these experiences when we deal with atmagati elsewhere for the karmatma to be freed from 'the mahatprana, so that is attains mukti, 'Gaya Shraddha' is performed by the sons of the deceased person. By this both the karmatma and mahanatma are completely freed. The person performing the shraddha also gets prosperity in his family.

The place Gaya is chosen for the performance of this Shraddha. The river phalgu flows here and it takes its name after phalguni nakshatra. The prana associated with this nakshatra is believed to make the stones porous and soft. The sands also are believed to be loose on account of this prana.

References

Sapindya vijnanopanishat; motilal Shastri Jaipum, All vedic, Brahmanic and Upanisadic references are found in this book.

श्राद्ध - विज्ञान

सुरजनदास स्वामी
अजमेर

दिव्यपितर, ऋतुपितर तथा प्रेतपितर भेद से पितर तीन प्रकार के हैं। इनमें श्राद्ध का सम्बन्ध प्रेतपितरों से है। दिव्यपितर और ऋतुपितर मनुष्यशरीर को उत्पन्न करते हुए कर्मभोग लोकों में भोग भोग कर लौटे हुए कर्मात्मा रूप भूतात्मा की मूर्तियोनि महान् आत्मा को उत्पन्न करते हैं। क्योंकि महानात्मा भूतात्मा से सम्बद्ध है। जैसा कि भगवान् मनु ने कहा हैः

तावुभौ भूतसम्पृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥इति ॥

भूतात्मा से सम्बद्ध तथा उस पर अनुग्रह कर्ता यह महानात्मा मानव शरीर का परित्याग करने के बाद चान्द्रमस अर्थात् चन्द्रमा से सम्बन्धित होने के कारण चन्द्रमा में जाता है जैसा कि कौषीतकि श्रुति में कहा है-

ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।
तत इतो लोकात् प्रयन्तीति प्रेता उच्यन्ते ॥इति ॥

अर्थात् जो मानव शरीरत्याग के बाद अन्य लोक में जाते है, वे चन्द्रमा में ही जाते हैं। इस मर्त्यलोक से प्रयाण करने के कारण "प्र इताः" इस व्युत्पत्ति से प्रेत कहलाते हैं। वे शरीर छोड़ने के समय जो चन्द्रमा की स्थिति है उसके अनुसार ऊपर प्रयाण करते हुए तेरह नाक्षत्र मासों की पूर्ति होने पर चन्द्रमा में पहुंच जाते हैं। जिस ऋतु में मनुष्य की मृत्यु होती है वही ऋतु उसका चन्द्रलोक में स्वरूप बनता है। यदि बसन्त ऋतु में मरता है तो वह बसन्त ऋतु होता है और ग्रीष्म ऋतु में शरीर त्याग करता है तो वह ग्रीष्मरूप हो जाता है। सापिण्ड्य रूप से ज्ञात अर्थात् ७ प्रकार के सपिण्ड मनुष्य पितर गान्धर्वशरीर धारण करके प्रेतपितर कहलाते हैं।

ये प्रेत पितर पर, अवर भेद से दो प्रकार के हैं— पिण्डभाक् व लेपभाक्। पिण्डभाक् अवर पितर हैं ये अश्रुमुख हैं और लेपभाक् पर पितर हैं ये नान्दीमुख अर्थात् प्रसन्नमुख होते हैं। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं

"लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः।

पिण्डदः सप्तमस्त्वेषां साँपिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥"

अर्थात् सात पितरों में पिता, पितामह, प्रपितामह — ये तीन पितर पिण्डभाक् हैं तथा वृद्ध प्रपितामह, अतिवृद्ध प्रपितामह, वृद्धातिवृद्ध पितामह — ये तीन लेपभाक् हैं। क्योंकि सन्तान में पितरों से प्राप्त होने वाली ५६ कलाओं में से, पिता से २१ कलायें, पितामह से १५ कलायें, प्रपितामाह से १० कलायें प्राप्त होती हैं। अतः इन तीनों पितरों से प्राप्त होने वाली कलाओं में सहोद्रव्य का आधिक्य है अतः सन्तान जब इन पितरों को श्राद्धान्न प्रदान करती है तब अधिक श्राद्धान्न वाला पिण्ड प्रदान करती है और वृद्ध प्रपितामाह से सन्तान पुरुष में ७कलायें अतिवृद्धप्रपितामह से ३ कलायें और वृद्धातिवृद्धपितामह से १ कला प्राप्त होती है। अतः इन पितरों से प्राप्त होने वाली कलाओं में सहोद्रव्य कम है। अतः इनकों जब सन्तान पुरुष श्राद्धान्न प्रदान करताहै, वह द्रव्य पिण्ड नहीं अपितु लेपमात्र है। श्राद्धान्न के आधिक्य में पिण्डशब्द तथा उसकी कमी में लेपशब्द का प्रयोग होता है। ये ५६ कलायें सन्तान को शरीरोत्पत्ति में काम आती हैं, अतः इन्हें उत्पत्तिशिष्ट कहा जाता है, तथा सन्तान की उत्पत्ति के बाद एक नाक्षत्रमास में चन्द्रमा से सन्तान के शुक्र में २८ कलायें और प्राप्त होती हैं, वे २८ कलायें या २८ कलात्मक सहःपिण्ड उत्पन्नशिष्ट कहलाता है। इस तरह ८४ सोम कलायें प्रतिपुरुष में रहती हैं। क्योंकि प्रत्येक पुरुष किसी का पुत्र भी है और किसी का वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र भी है। यही ८४ कलावाला महानात्मा है।

चन्द्रमा से एक नाक्षत्रमास में उत्पन्न होने वाला २८ कलात्मक पितृपिण्ड स्त्री की असृगाग्नि में आहुत होकर पितृस्तोम यज्ञ के द्वारा सन्तानों में सन्तानित होता है। जिस प्रकार ज्योतिष्टोमयज्ञ अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम उक्थ्यस्तोम, षोडशोस्तोम, अतिरात्रस्तोम वाजपेयस्तोम, आप्तार्यामस्तोम भेद से सप्त संस्थाओं में विभक्त है, उसी प्रकार पितृस्तोम यज्ञ भी पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, वृद्ध प्रपौत्र, अतिवृद्ध— प्रपौत्र, वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र भेद से सात संस्थाओं में विभक्त है। यह २८ कलात्मक पितृपिण्ड जायाग्नि में सुत होता है, यह एक प्रकार से पिता का स्वरूप (आत्मा) ही है। इसीलिए — "आत्मा वै जायते पुत्रः" यह श्रुति पुत्र को पिता का आत्मा (स्वरूप) बतला रही है। किन्तु यदि कृत्स्न २८ कलात्मक पितृपिण्ड का जायाग्नि में पुत्रोत्पत्ति के लिए आवाप हो जाता तो पिता स्वस्वरूप को नष्ट कर देता, वह मर जाता , जीवित नहीं रहता और यदि जायाग्नि में पितृपिण्ड का सवन न करता तो सन्तानोत्पत्ति न होती। इसलिए २८ कलात्मक पितृ पिण्ड के दो विभाग होते हैं— पितर और सूनु। पिता के २८ कलात्मक आत्मपिण्ड का सप्तकलात्मक चतुर्थ भाग पिता स्वात्मस्थिति के लिए रख लेता है। यह भाग पितर कहलाताहै तथा २१ कलात्मक आत्मपिण्ड को सन्तानोत्पत्ति के लिए जायाग्नि में सुत कर देता है। सन्तानोत्पत्यर्थ

जायाग्नि में सुत आत्मपिण्ड भाग ही सूनु कहलाता है। यह बीजी पुरुष के २१ कलात्मक आत्मपिण्ड का प्रथम आवाप है।

पुत्र के शरीर में स्थित बीजी पुरुष के २१ कलात्मक सूनुपिण्ड के भी दो भाग हो जाते हैं— पितर और सूनु। २१ कलात्मक आत्मपिण्ड का ६ कलात्मक भाग स्वरूप स्थिति के लिये पुत्र में रहता है और १५ कलात्मक पिण्डभाग का वह पौत्र शरीरोत्पत्यर्थ आगे आवाप कर देता है। यह बीजी पुरुष के पुत्र शरीरस्थ आत्मपिण्ड का द्वितीय आवाप है।

बीजी पुरुष पिता के पौत्र. शरीरस्थ १५ कलात्मक आत्मपिण्ड के भी दो विभाग होते हैं— पितर व सूनु। बीजी पिता के पौत्र शरीरस्थ १५ कलात्मक आत्मपिण्ड का पंचकलात्मक भाग स्वरूप स्थित्यर्थ पौत्र में रह जाता है। यही पितर है और बीजी पिता के १० कलात्मक आत्मपिण्ड का वह प्रपौत्रशरीर की उत्पत्ति के लिए आगे आवाप कर देता है। यह सूनु भाग है।यही तृतीय आवाप है।

बीजी पुरुष का प्रपौत्र शरीरस्थ आत्मपिण्ड भी पितर व सूनु इन दो भागों में विभक्त होता है। इसमें चतुष्कलात्मक भाग प्रपौत्र में स्वरूपस्थिति के लिए रहता है, यही पितृभाग है। तथा षट्कलात्मक भाग को वह वृद्धप्रपौत्र के शरीर को उत्पत्ति के लिए आगे आवाप कर देता है, यह सूनु भाग है। यही बीजी पुरुष के आत्मपिण्ड का चतुर्थ आवाप है।

वृद्ध प्रपौत्र में स्थित बीजी पुरुष के षट्कलात्मक आत्मपिण्ड के भी पितर व सूनु — ये दो विभाग होते हैं। उनमें ३ कलात्मक भाग वृद्ध प्रपौत्र की स्वरूप-स्थिति के लिए वृद्ध प्रपौत्र में रह जाता है, वह पितृभाग है और तीन कलात्मक, बीजी पुरुष के, आत्मपिण्ड का वह अति वृद्ध प्रपौत्र के शरीर की उत्पत्ति के लिए आगे आवाप कर देता है। यह सुनु भाग है। यही पंचम आवाप है। बीजी पुरुष के अतिवृद्ध प्रपौत्र शरीरस्थ ३ कलात्मक आत्मण्डि का भी पितर और सूनु इन दो भागों में विभक्त हो जाता है। कलाद्वयात्मक भाग अतिवृद्धर्ध प्रपौत्र की स्वरूपस्थिति के लिए उसमें रहता है, वह पितृभाग है तथा एक कलात्मक, बीजी पुरुष के, आत्मपिण्ड का वह वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र के शरीर की उत्पत्ति के लिए आगे आवाप कर देता है, वह सूनु भाग है। यही बीजी पुरुष के आत्मपिण्ड का षष्ठ आवाप है।

बीजी पुरुष का एक कलात्मक, आत्मपिण्ड वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र की स्वरूप स्थिति के लिए रह जाता है। यहाँ आकर बीजी पुरुष का २८ कलात्मक आत्मपिण्ड सर्वथा उच्छिन्न हो जाता है। आगे आवाप करने के लिए कोई कला शेष नहीं रही है। अतः यहाँ पितृभाग

ही वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र में है। सूनु भाग का सर्वथा अभाव है। अतः यहाँ आकर बीजी पुरुष के आत्मपिण्ड की परम्परा समाप्त हो जाती है। इस सप्तम आवाप में पिण्ड सन्तान की निवृत्ति हो जाती है। उसका सन्तनन आगे नहीं होता है। यह उत्पन्नशिष्ट अर्थात् शरीरोत्पत्ति के बाद एक नाक्षत्रमास में चन्द्रमा से पुरुष के शुक्र में आने वाले २८ कलात्मक सहःपिण्ड का निरूपण किया। इसे ही उत्तरभावित बीजपिण्ड कहते हैं। किन्तु दूसरा ५६ कलात्मक पितृ-कर्मागत पित्र्य आवापपिण्ड इस २८ कलात्मक सहःपिण्ड से भिन्न है। यह शरीरोत्पत्तिकाल में ही पितरों से प्राप्त होता है और इसी आवापपिण्ड के कारण मनुष्य शरीर अर्थात् सन्तान का शरीर उत्पन्न होता है। उत्पत्तिशिष्ट इस पित्र्यआवापपिण्ड के बिना सन्तान का शरीर ही उत्पन्न नहीं हो सकता। और जन्म न होने से उसमें जन्मोत्तर उत्पन्न होने वाला उत्पन्नशिष्ट २८ कलात्मक बीज-पिण्ड भी इसे प्राप्त नहीं हो सकता। अतः इस पित्र्य आवापपिण्ड से जन्म धारण करने वाला सन्तान-पुरुष इन पितरों का ऋणी है। जैसा कि निम्नांकित श्रुति बतला रही है—

"एष वै जायमानस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते -
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।
एष वा अनृणी यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी च इति॥"

अर्थात् पैदा होने वाला पुरुष तीन ऋणों से ऋणी ही पैदा होता है, ब्रह्मचर्य के कारण ऋषियों का, यज्ञ के द्वारा देवताओं का तथा प्रजा के द्वारा पितरों का। वह ऋणी पुरुष ब्रह्मचारी, यजनशील तथा पुत्रवान् होने पर ऋणमुक्त हो जाता है। वेदाध्ययनार्थ ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर ऋषियों के ऋण से, यज्ञ करके देवताओं के ऋणों तथा सन्तान उत्पन्न कर पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है। क्योंकि जन्म लेने वाले पुरुष के जन्म धारण करने के लिए पितरों से ५६ सोमरस कलायें प्राप्त की हैं। उनका क्रम यह है—

२१ कलायें पिता से, १५ कलायें पितामह से, १० कलायें प्रपितामह से, ६ कलायें वृद्धप्रपितामह से, ३ कलायें अतिवृद्ध प्रपितामह से तथा एक कला वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह से प्राप्त की हैं। इस प्रकार ५६ कलायें पितृ-क्रमागत हैं और पित्र्य कहलाती हैं। तथा २८ कलायें बीजी पुरुष की स्वमुपार्जित हैं जो कि एक नाक्षत्रर्मास में चन्द्रमा से बीजी पुरुष के शुक्र में उत्पत्ति के १६ वर्ष बाद प्रतिष्ठित होती हैं। इस रीति से पुरुष का महानात्मा २८ +५६ =८४ कलाओं का होता है। यह महानात्मा प्रतिपुरुष ८४ कलात्मक होता है। इनमें बीजी पुरुष की आत्मनीन (आत्मसम्बन्धी) २८ कलायें हैं, इनका दो भागों में विभाजन होता है — पितर तथा सूनु। इनं २८ कलाओं में से बीजी पुरुष ७ कलायें अपने महानात्मा की स्वरूप-रक्षार्थ अपने पास रख लेता है। इन्हें आत्मधन या आत्मधेय कलायें कहते हैं। यह

पितर भाग है तथा २१ कलाओं का पुत्रशरीरजननार्थ आगे पुत्र में आवाप कर देता है। इनका पुत्रशरीरोत्पत्ति के लिए जायाग्नि में सवन या आहुति दे देता है। अतः २८ कलाओं में से २१ कलात्मक भाग सूनु कहलाता है। इस प्रकार पित्र्य कलाओं का आगे वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र तक ७-२१, ६-१५, ५-१०, ४-६, ३-३, २-१ इस प्रकार से आवाप होता रहता है। वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र से आगे आवाप नहीं हो सकता, क्योंकि एक कला तो उसकी आत्मप्रतिष्ठा के लिए रहती है और इससे अधिक कला नहीं है जिसका आगे आवाप किया जाय। अतः सप्तम आवाप तक जाकर आवाप-क्रम समाप्त हो जाता है। इसका प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है।

इसी प्रकार बीजी पुरुष में जो ५६ कलायें वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह से आरम्भ कर पिता तक के पितरों से १, ३, ६, १०, १५, २१ इस क्रम से प्राप्त होती हैं, उनके दो भाग होते हैं— आत्मधन तथा पित्र्यधन। २१ कलायें बीजी पुरुष का आत्मधन होता है, वह उसी में रहता है तथा शेष ३५ कलायें पुत्रादि की उत्पत्ति में उपयुक्त होती हैं। उनका क्रम १५, १०, ६, ३, १ है। यह पित्र्य धन है। पित्र्यधन ऋण है। बीजी पुरुष की स्वोपार्जित २८ कलाओं में से २१ कलाओं का वह उपर्युक्त क्रम से पुत्रादिशरीर की उत्पत्ति के लिए आवाप कर देता है। उसमें आत्मधन ७ कला ही बचता है किन्तु ५६ कलात्मक पित्र्य धन में से वह २१ कलायें अपने में आत्मधनरूप से रख लेता है। शेष ३५ कलात्मक धन को वह पुत्रादि की उत्पत्ति के लिए विनियुक्त कर देता है। इस प्रकार सप्त कलात्मक आत्मनीन धन तथा २१ कलात्मक पित्र्य धन को अपने में रखकर २८ कलात्मक बन जाता है। और उसका महानात्मा २८ कला वाला बन जाता है।

बीजी पुरुष के २८ कलात्मक आत्मनीन (अपने सहःपिण्ड में) उप्त षट्पुरुषीय (पिता, पितामह, प्रपितामह, वृद्धप्रपितामह, अतिवृद्ध-प्रपितामह, वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह, इन ६ पुरुषों) पित्र्य आवाप जो कि क्रमशः २१, १५, १०, ६, ३, १, इस क्रम से ५६ कलात्मक हैं। बीजी पुरुष की जीवन यात्रा के लिए हैं। इस ५६ कलात्मक पित्र्य आवाप के बिना बीजी पुरुष का जन्म ही नहीं हो सकता और जन्म के बिना चन्द्रमा से एक नाक्षत्र मास में २८ कलात्मक सहःपिण्ड रूप जो धन प्राप्त होता है वह प्राप्त नहीं हो सकता। यह ५६ कलात्मक पित्र्यधन बीजी पुरुष पर ऋण है जो कि उसे पितरों को लौटाना है। इस ५६ कलात्मक पित्र्यधन के भी २८ कलात्मक आत्मधन (बीजी पुरुष के अपने धन) की तरह आत्मधन व पित्र्यधन रूप दो भाग होते हैं। ५६ कलाओं में से २१ कलात्मक आत्मधन है जिसे बीजी पुरुष अपने पास रखता है। इसीलिए इसे आत्मधन कहा जाता है।

इस प्रकार बीजी पुरुष में २१ कलात्मक धन जो कि वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह, अतिवृद्धप्रपितामह, वृद्धप्रपितामह, प्रपितामह, पितामह, पिता इन छः पुरुषों से १, २, ३, ४, ५, ६ इस क्रम से प्राप्त होने के कारण पित्र्य धनरूपी आत्मधेय भाग है। तथा शरीर-धारणानन्तर एक नाक्षत्र मास में चन्द्रमा से प्राप्त स्वोपार्जित २८ कलात्मक सहः पिण्ड में से २१ कलात्मक धन का आगे पुत्रादिशरीर की उत्पत्ति में उपयोग होकर स्वस्वरूपरक्षार्थ जो सप्त कलात्मक आत्मधन बचा है वह बीजी पुरुष का अपना आत्मधेय भाग है। इस प्रकार बीजी पुरुष के आत्मधेय भाग में १, २, ३, ४, ५, ६, ७ इस क्रम से सप्तग्रहात्मक सप्त धन बच जाते हैं। ये ही सप्तग्रहात्मक सप्तधन बीजी पुरुष के जीवनयात्रा के निर्वाहक चान्द्ररस के ग्रहण के लिए बीजी पुरुष के महानात्मा के स्वरूप के आरम्भिक सप्त धातु हैं।इस प्रकार २१ कलात्मक पित्र्य आत्मधेय भाग तथा ७ कलात्मक आत्मीय आत्मधेय भाग के मिलाने २८ कलात्मक आत्मधेय धन है जो कि बीजी पुरुष के २८ कलात्मक महानात्मा के स्वरूप का निष्पादक है। वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह से लेकर पिता तक २१ कलात्मक भाग तो बीजी पुरुष के महानात्मा के स्वरूप - निष्पादक होने से बीजी पुरुष में रह जाता है। ५६ कलात्मक धन में अवशिष्ट ३५ कलात्मक तन्य पित्र्य धन का आगे, पुत्र पौत्र, प्रपौत्र, वृद्ध प्रपौत्र, अतिवृद्ध प्रपौत्र इन सन्तानों के शरीर की उत्पत्ति में १५, १०, ६, ३, १ इस क्रम से काम आता है। उस ३५ कलात्मक पित्र्यधन को आगे सन्तानोत्पत्ति में तनन के कारण तन्य कहा जाता है। इस प्रकार ५६ कलात्मक धन जो बीजी पुरुष को पितरों से प्राप्त हुआ है, उस ऋण को चुकाना है। इस ऋण से आनृण्य प्राप्त करने के लिये चार उपाय हैं— १. प्रजोत्पादन, २. सपिण्डीकरण, ३. श्राद्ध तथा ४. गयापिण्डदान।

(1) गोत्रसन्तान (प्रजोत्पादन)

बीजी पुरुष ने २८ कलात्मक आत्मधन में से २१ कलाओं का पुत्रादि की उत्पत्ति के लिए क्रमशः आगे आवाप कर दिया है। उनमें से पुत्र में ६ कलायें रहती हैं। पौत्र में ५ कलायें, प्रपौत्र में ४ कलायें, वृद्ध प्रपौत्र में ३ कलायें, अति-वृद्ध प्रपौत्र में २ कलायें तथा वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र में १ कला रहती है।इस प्रकार २१ कलाओं का वह पुत्रादि की उत्पत्ति में विनियोग कर चुका। अब बीजी पुरुष में २८ कलाओं में ७ कलायें अवशिष्ट रहती हैं। इस तरह पुत्रादि की उत्पत्ति में २१ कलाओं का आवाप कर देने पर बीजी पुरुष में केवल ७ कलाओं के ही अवशिष्ट रहने से अष्टाविंशतिकल महानात्मा का स्वरूप उत्पन्न नहीं होता, किन्तु अष्टाविंशति कलात्मक आत्मनीन धन में से पुत्रादि में आवाप की हुई २१ कलाओं के स्थान में ५६ कलात्मक पित्र्यधन में से २१ कलायें और प्राप्त हो जाती है। अतः उसके २८

कलात्मक महानात्मा का स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है। बीजी पुरुष में ५६ कलात्मक पित्र्यधन में से ३५ कलाओं का उपयोग पुत्रादि ५ सन्तानों की उत्पत्ति में हो चुका। ये पितृभाग कालक्रम प्रकृतिवशात पुनः उसको प्राप्त हो जाते हैं। ३५ कलात्मक पित्र्यधन का जब बीजी पुरुष पुत्रादि की उत्पत्ति में विनियोग कर देता हैं तब वह बीजी पुरुष उनके ऋण से मुक्त हो जाता है और वे पुत्रादि के शरीर त्याग के बाद इन पितरों को यथा- क्रम मिल जाती हैं। ५६ कलारूप जो पितरों का ऋण है, उसमें ३५ कलाओं के ऋ़ण से तो वह पुत्रादि-प्रजोत्पादन के द्वारा मुक्त हो चुका, किन्तु ५६ कलाओं में से जो ऋण उसने आत्मधनरूप से अपने में रख लिया था उस ऋण की मुक्ति के लिये दूसरा उपाय सपिण्डीकरण है।

(२) सपिण्डीकरणः

बीजी पुरुष में ५६ पित्र्य कलाओं में २१ अपने पास आत्मधनरूप से रखी हैं जिन से अपनी २८ कलाओं में से पुत्रादि ६ सन्तानों में ६, ५, ४, ३, २, १ इस क्रम से आवाप करने के बाद स्वयं सप्तकल रहकर २८ कला वाला बना है। उन २१ कलाओं का ऋण बीजी पुरुष में है। उस ऋण का विमोचन वह सपिण्डीकरण उपाय से करता है। अर्थात् वह शरीर का परित्याग कर चन्द्रलोक में जाता है तब चन्द्रलोकस्थ पितरों में जिससे जितनी कलायें ग्रहण की थीं, उनका प्रत्यर्पण कर देता है। उस बीजी पुरुष ने वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह से १ कला ग्रहण की थी। शरीर त्यागानन्तर चन्द्रलोक में जाकर चन्द्रलोकस्थ वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह की १ कला का प्रत्यर्पण कर देता है। अतिवृद्ध प्रपितामह से २ कलायें प्राप्त की थीं उन दो कलाओं का अतिवृद्ध प्रपितामह में, वृद्ध प्रपितामह से प्राप्त तीन कलाओं का वृद्ध प्रपितामह में, प्रपितामाह से प्राप्त ४ कलाओं का प्रपितामह में, पितामह से प्राप्त ५ कलाओं का पितामह में, पिता से प्राप्त ६ कलाओं का चन्द्रलोकस्थ पिता में प्रत्यर्पण कर देता है। इस प्रकार पितरों से प्राप्त २१ कलाओं का पितरों में प्रत्यर्पण कर २१ पित्र्य कलाओं के ऋण से भी विमुक्त हो जाता है। अब केवल इसमें ७ कलायें ही रहती हैं। उसकी २१ कलाओं का उसके पुत्र पौत्रादि छः सन्तानों में आवाप हो चुका है। उनकी प्राप्ति क्रमशः पुत्र से लेकर वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र तक की सन्तानों के शरीर त्यागान्तर चन्द्रलोक में जाकर उन कलाओं का प्रत्यर्पण कर देने पर ही उसके अष्टाविंशतिकल महानात्मा की पूर्ति होगी। इसे सपिण्डीकरण क्रम इसलिए कहते हैं कि बीजी पुरुष की २१ कलाओं का पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, वृद्ध प्रपौत्र, अतिवृद्ध प्रपौत्र, वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र में ६,५,४,३,२.१ इस क्रम से आवाप कर देने पर सांत कलायें अपने में रख लेने पर २८ कला वाले पिण्ड का जो भेद हो गया था वह प्रत्यर्पणकर्म द्वारा प्राप्त होने पर अष्टाविंशतिकल एक पिण्ड बन जाता है। प्रत्यर्पण द्वारा पुत्रादि में विभक्त कलाओं के सप्तकल बीजी पुरुष के महानात्मा में मिलकर

२८ कलावाला एक पिण्ड बन जाता है। किन्तु वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र के शरीर-त्यागानन्तर चन्द्रलोक में जाकर एक कला का प्रत्यर्पण कर देने पर वृद्धाति-वृद्ध प्रपितामह की विभक्त कलायें एक होकर सपिण्ड बन जाती हैं। २८ कलाओं की पूर्ति होते ही वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह का महानात्मा पृथिवीस्थ सन्तानों के बन्धन से मुक्त होकर चन्द्रलोक में विलीन हो जाता है। इसलिए उसे सिद्धकृत्स्नपिण्ड कहते हैं क्योंकि उसके अष्टाविंशकलकृत्स्नपिण्ड की पूर्ति हो चुकी है। अन्य अतिवृद्ध प्रपितामह और इससे पूर्व के पितरों के कृत्स्न पिण्ड की पूर्ति नहीं हुई है।अतिवृद्ध प्रपितामहादि पांचों पितरों की अर्थात् अतिवृद्धपितामह, वृद्धपितामह, प्रपितामह, पितामह व पिता की १, ३, ६, १०, १५ कलायें वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र से आगे उत्पन्न होने वाली सन्तानों में क्रमशः न्युप्त हैं। अतः जब तक वे सन्तानें शरीर त्याग कर चन्द्रलोक में जाकर अपने पितरों में उनका प्रत्यर्पण नहीं करतीं तब तक मर्त्यलोकस्थ सन्तानों से बद्ध रहती हैं। उनका मर्त्यलोकस्थ सन्तानों से बन्धन नष्ट नहीं होता। वे मुक्त होकर चन्द्रमा में विलीन नहीं होते, क्योंकि उनके २८ कलात्मक सहःपिण्ड की पूर्ति नहीं होती। उनमें अतिवृद्ध प्रपितामह की एक कला अवशिष्ट है जो कि वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र की सन्तान के चन्द्रलोक में जाकर प्रत्यर्पण करने से प्राप्त होगी। अतः वह २७ कलाओं से ही युक्त हुआ है। वृद्ध प्रपितामह २५ कलाओं से, प्रपितामह २२ कलाओं से, पितामह १८ कलाओं से तथा पिता १३ कलाओं से युक्त हुआ है। और पिण्डद बीजी पुरुष में केवल ७ कलायें ही हैं। इस प्रकार उनके सहःपिण्ड का कुछ कलाओं की प्राप्ति संस्कार मात्र हुआ है, कलाओं की पूर्णता नहीं है। अतः ये पितर सिद्धपिण्डसंस्कार कहलाते हैं। ये छहों पितर कृष्णपक्ष में अमावस्या के दिन क्षीण होकर अपनी मर्त्यलोकस्थ सन्तान से अपना आप्यायन (परिपोषण) चाहते हैं। क्योंकि उनका इन मर्त्यलोकस्थ सन्तानों पर ऋण है। इसी ऋण के मोचन के लिए श्राद्धरूपी तृतीय उपाय है।

(३) श्राद्ध

श्राद्ध पितरों के ऋण का मोचन करने का तीसरा उपाय है।श्राद्ध शब्द श्राद्ध से सम्बन्ध रखता है। अतः सर्वप्रथम श्रद्धा का विवेचन आवश्यक है।

श्रद्धा-विवेचन— चन्द्रमा में रेतस् (वीर्य), श्रद्धा, यशस— ये तीन मनोतारूप तत्व रहते हैं, जिनकी पुरुषों के मन से सम्बद्ध होने के कारण मनोता शब्द से कहा जाता है। इनमें अप् तत्व का नाम श्रद्धा है। वे श्रद्धारूप अप्तत्व आदित्याग्नि के परिताप से सोमरूप में परिणत हो जाते हैं। जैसा कि पंचाग्निविद्या में वर्णन किया गया है—

"असौ वाव आदित्योऽग्निः तस्याऽऽदिव्य एवं समित्।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति।

तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति।" इति।

अर्थात् द्युलोक ही अग्नि है। उस अग्नि को प्रदीप्त करने वाला (समिन्धनत्व) आदित्य है। इस द्युलोकाग्नि में देवता श्रद्धारूप अप्तत्त्व की आहुति देते हैं। उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है। इस प्रकार सोम को उत्पन्न करने वाला अप्तत्त्व श्रद्धा है। यह सिद्ध होता है। "श्रतो धानं श्रद्धा" यह श्रद्धाशब्द की व्युत्पत्ति है। श्रत् का अर्थ सत्य है। किसी विद्यमान वस्तु में उसके आश्रित होकर रहने वाली सदाश्रित वस्तु "श्रयते इतिश्रत्" इस व्युत्पत्ति से श्रत् कहलाती है। किन्तु जिस रस से बद्ध होकर आश्रित वस्तु अन्य वस्तु में रहती है उस आपोरूप रस को श्रद्धा कहा जाता है। जैसे सोम (चन्द्रमा) से उत्पन्न होने वाला यह मन जिस वस्तु पर श्रद्धा करता है उस वस्तु में वह मन अभेदरूप से संलग्न होकर दृढ़ता से बंध जाता है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" इति।

अर्थात् यह मन श्रद्धामय है। जिस पर वह श्रद्धा करता है वह तद्रूप ही बन जाता है। परस्पर सम्बन्धी दो वस्तुओं में अर्थात् सम्बन्ध के प्रतियोगी और अनुयोगी वस्तुओं में कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ता है, जिसके कारण वे वस्तुएँ परस्पर सम्बद्ध रहती हैं। वह सम्बद्ध दोनों सम्बन्धियों में रहने वाला तथा उन दोनों वस्तुओं से भिन्न होता है। जैसे हस्त तथा पुस्तक में रहने वाला संयोग सम्बन्ध हस्त व पुस्तकरूप दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है तथा हस्त व पुस्तक दोनों सम्बन्धियों में रहने वाला है। इसी प्रकार श्रद्धासूत्र भी एक सम्बन्ध है। क्योंकि वह आपोरूप होने से मेध्य (संगमनीय) तत्व है। अतः वह दो वस्तुओं का सम्बन्ध कराने वाला है। अतः श्रद्धारूप सम्बन्ध दोनों प्रतियोगी व अनुयोगी पदार्थों से भिन्न है तथा श्रद्धा-सम्बन्धी पुत्रादिरूप प्रतियोगी पदार्थ तथा चन्द्रलोकस्थपितररूप अनुयोगी में रहने वाला है।

अपिच, पुत्रादिसन्तान के शरीर का उत्पादक सोमरसमय 28 कलात्मक सहःपिण्ड का आधा भाग चन्द्रमा अर्थात् चन्द्र-लोकस्थ पितरों में तथा आधा भाग पृथिवी में अर्थात् पृथिवी लोकस्थ सन्तानों में रहता है। 28 कलात्मक सहःपिण्ड के दोनों भाग कभी असम्बद्ध नहीं रह सकते। अतः इन दोनों खण्डों में कोई सम्बन्ध मानना पड़ता है। इन दोनों खण्डों में सम्बन्ध कराने वाला तत्व श्रद्धा ही है।

सामान्य (अवैज्ञानिक) पुरुष इसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते किन्तु वैज्ञानिक लोग इसका प्रत्यक्ष करते हैं। साधारण प्राणियों में भी यह विशेषता प्राणिविशेष में दृष्टिगोचर होती है। जैसे साधारण मनुष्यों से भी प्रत्यक्ष न की जाने योग्य गन्धमात्रा का मक्षिका व पिपीलिका (चींटी) आदि घ्राण से प्रत्यक्ष कर लेती है। जैसे मार्ग में जाने वाले प्राणियों के

शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न पृथिवी के गन्धविशेष का अतिनिपुण पुरुषों को भी ज्ञान नहीं होता किन्तु सरमावंशोत्पन्न सारमेय (कुत्ता) अतिदीर्घकाल के बाद भी सूंघ लेता है। वैसे ही पृथिवीस्थ सन्तान तथा चन्द्रलोकस्थ पितरों में वर्तमान सहःपिण्ड के दोनों खण्डों का सम्बन्ध कराने वाले श्रद्धासूत्र को यद्यपि साधारण पुरुष देखने में असमर्थ है क्योंकि वह साधारण पुरुषों के चक्षुरिन्द्रिय से अतीत है तथा पिण्ड योगविद्या के प्रभाव से संभूत योगजदृष्टि से योगी लोग उसका प्रत्यक्ष कर लेते हैं। ऐसे बहुत से अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। जिनको अयोगी अर्थात् योगियों से भिन्न साधारण मनुष्य नहीं देख सकते किन्तु एतावता ऐसे पदार्थों की असत्ता स्वीकार करा अवैज्ञानिक (विज्ञान दृष्टि से शून्य) पुरुषों का प्रलाप मात्र है। इसीलिए सम्पराय (परलोक) विद्या के प्रसंग में वैज्ञानिकों ने कहा है—

"श्रवणायाऽपि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विधुः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यः ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥
न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणोरणीयान् हि अतर्क्यमणुप्रमाणात्॥" इति॥

अर्थात् जो आत्मतत्त्व बहुतों को सुनने को भी नहीं मिलता। सुनकर भी जिसे बहुत से पुरुष समझ नहीं सकते। ऐसे इस आत्मतत्त्व का वक्ता दुर्लभ है तथा आत्मज्ञान कुशल पुरुष के द्वारा उपदेश करने पर भी इसको जानने वाला कुशल पुरुष संसार में दुर्लभ है।

अवर अर्थात् आत्मज्ञानरहित पुरुष इसको बतला नहीं सकता किन्तु अतिशय चिन्तन करने पर यह अच्छी प्रकार से जाना जा सकता है। जब तक आत्मज्ञान-कुशल पुरुष इसे नहीं बतलाता तब तक उस आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता। किन्तु आत्मज्ञानी पुरुष के द्वारा बतलाने पर इसका अच्छी प्रकार से ज्ञान हो जाता है। आत्मा सूक्ष्मतम वस्तु है। वह तर्क का विषय नहीं है।

उपर्युक्त कठोपनिषत् श्रुति में "बहुधा चिन्त्यमानः सुविज्ञेयः" इस उक्ति से सिद्ध होता है कि साधारण पुरुषों से अज्ञेय सूक्ष्म अर्थ भी अनेक प्रकार से चिन्तन करने पर सुविज्ञेय बन जाता है। अतः यह श्रद्धा सूत्ररूप अर्थ भी अनेक प्रकार से चिन्तन करने वाले चिन्तकों के लिए ज्ञेय बन जाता है। उन्होंने इस सूक्ष्मतम श्रद्धासूत्रों को भी जान लिया है। किन्तु जो पुरुष कुशल नहीं हैं, जो वैज्ञानिक दृष्टि से शून्य हैं उनको इस श्रद्धासूत्र का ज्ञान नहीं होता है।

यहाँ तक यह बतला दिया गया कि चन्द्रलोकस्थ पितरों के ५६ कलात्मक सहःपिण्ड की ३५ कलायें जो कि बीजी पुरुष की सन्तानों के शरीर-निर्माण में उपयुक्त होती

हैं और पृथिवीस्थ सन्तानों में रहती हैं, उन कलाओं के द्वारा चन्द्रलोकस्थ पितरों तथा पृथिवीस्थ सन्तानों का परस्पर सम्बन्ध बना हुआ है। वहां इन दोनों का सन्धायक सम्बन्ध सूत्र श्रद्धा ही है।

चन्द्रोलकस्थ पितरों तथा पृथिवीस्थ सन्तानों से सम्बन्ध न रखने वाली वस्तुओं से इस श्रद्धासूत्र का कभी संघर्ष नहीं होता और न विच्छेद होता है। किन्तु जिस सन्तान की अपने पितरों में श्रद्धा नहीं है उसका यह श्रद्धासूत्र अवश्य विच्छित्र हो जाता है और न उस सन्तान के द्वारा दिया हुआ पिण्डदान ही पितरों को पहुंचता है। क्योंकि अतिवाहिक सूत्र के मार्ग का भ्रंश होने से वह अन्न पितरों तक नहीं पहुंचता।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि प्रत्येक पदार्थ में भूतभाग व प्राण, दो भाग होते है। उनमें भूतभाग का तो प्रत्यक्ष होता है किन्तु प्राण का नहीं। प्राण निराकार वस्तु है फिर भी पदार्थ में प्राण की सत्ता अवश्य स्वीकारनी पड़ती है, क्योंकि प्राण के बिना भूतभाग की स्थिति नहीं हो सकती। प्राण के नष्ट होते ही भूतभाग निर्जीव हो जाता है जैसे लकवे में प्राणरहित शरीर का भाग। पितरों को भी अन्न पिण्ड दान दिया जाता है उसका निराकार प्राणभाग ही निराकर श्रद्धासूत्र द्वारा चन्द्रलोक में पहुंचकर चन्द्रलोकस्थ पितरों की तृप्ति का कारण बनता है। भूतभाग यहीं पड़ा रहता है। जैसे यज्ञ में अग्नि में आहुत आहुतिद्रव्य का प्राणभाग ही प्राण देवताओं की तृप्ति का जनक है। भूतभाग तो अग्नि में जल कर नष्ट हो जाता है।

सोममय अर्थात् चान्द्रसमय सन्तानों में रहने वाला यह श्रद्धासूत्र चन्द्रस्थिति के तारतम्य से कृश व परिपुष्ट होता रहता है। पूर्णिमा में प्रकाश-रूप देवताओं द्वारा पृथिवी की ओर का चन्द्रमा का रस भुक्त हो जाता है क्योंकि सोम (चन्द्रमा) देवताओं का अन्न है। जैसा कि 'एतद्वै सोमो देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः" यह श्रुति बतला रही है। अतः सन्तान में रहने वाला चान्द्रश्रद्धासूत्र सोमरस की न्यूनता से कृश हो जाता है। किन्तु अमावास्या तिथि के दिन चन्द्रमा के ऊर्ध्वभोग से प्रकाशी देवप्राणरूप सौररश्मियों का सम्बन्ध होता है अतः वही भाग देवताओं का अन्न बनता है न कि पृथिवी की ओर का चन्द्रमा के अधोभाग का रस। अधोभागस्थ चन्द्रमा का रस श्रद्धासूत्र में आने से अमावास्या में श्रद्धासूत्र परिपुष्ट रहता है। अतः अमावास्या के पितरों के लिए पार्वण श्राद्ध किया जाता है।

दूसरी बात यह है कि "विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति" इस वचन के अनुसार चन्द्रमा के ऊर्ध्वभाग अर्थात् सूर्यसंमुख भाग में पितरों की सत्ता है। अतः अमावास्या के दिन प्रकाशी सौररश्मिरूप देव चन्द्रमा के रस का भक्षण कर लेते हैं। इसलिए अमावास्या तिथि में पितर चान्द्ररस के अभाव से कृशकाय रहते हैं। उन्हें बुभुक्षा (अशनाया) सताती है।

अतः अपने परिपोष के लिए अपनी सन्तान से अन्न की इच्छा रखते हैं और पृथिवीस्थ सन्तानों में विद्यमान श्रद्धासूत्र चान्द्ररस के परिपूर्ण रूप से प्राप्त होने से बलवान् है। पृथिवीस्थ औषधियों में चन्द्रमा के अधोभाग के रस के आने से पितरों को दिया जाने वाला औषधिरूप अन्न भी परिपुष्ट है। अमावास्या में पृथिवी सन्तानों के द्वारा दिया हुआ, परिपुष्ट — श्रद्धासूत्र के द्वारा चन्द्रलोक में पहुंचाया गया अन्न पिण्डदान का प्राणभाग पितरों की तृप्ति का जनक होता है। इसलिए अमावास्या में ही पितरों के लिए पार्वण श्राद्ध का विधान है।

चन्द्र-लोकस्थ पितरों को सन्तान के द्वारा दत्त तथा सन्धायक श्रद्धासूत्र द्वारा संहित अन्न का प्राणभाग प्रकृति-सिद्ध चार उपायों से आकृष्ट होकर चन्द्रलोकस्थ पितरों में पहुंच जाता है। ये प्रकृति-सिद्ध चार उपाय निम्नलिखित हैं—

(१) पृथिवीस्थ अपत्य सन्तान पित्रसहोभागों से उत्पन्न होने के कारण सौम्य है तथा सन्तानों का मन भी चन्द्रमा से उत्पन्न होने के कारण सौम्य है। उनके मन में जो श्रद्धा है वह भी चन्द्रमा की वस्तु होने से सौम्य है। इस प्रकार सम्बन्ध की प्रतियोगी सभी वस्तुएं सौम्य हैं। सन्तान का सौम्य सहोभागों के द्वारा पितरों से जो सम्बन्ध है उसका प्रतियोगी अपत्यसन्तान है तथा अनुयोगी पितर हैं। जहां से सम्बन्ध का प्रारम्भ होता है वह प्रतियोगी कहलाता है और जहां उसकी समाप्ति होती है वह अनुयोगी कहलाता है। श्रद्धा-सूत्ररूप सम्बन्ध सन्तान से शुरू होता है। अतः सन्तान उस सम्बन्ध का प्रतियोगी है और इस श्रद्धारूप सम्बन्ध की समाप्ति पितरों में होती है, अतः वे उसके अनुयोगी हैं।

(२) सन्तान द्वारा दिया गया औषधिरूप अन्न सौम्य है। क्योंकि अमा के दिन औषधियों में चान्द्र रस आता है। औषधियों की उत्पत्ति में सोम की प्रधानता व अग्नि की गौणता है। अग्निगर्भित सोम रस से ही औषधियों की उत्पत्ति मानी है। सौम्य औषधियों से उत्पन्न व निर्मित अन्न-पिण्ड भी सौम्य है। अन्न-पिण्ड से उद्धृत वायु से उपनीत चन्द्ररश्मियों में पहुंचा हुआ अन्नपिण्ड का रसरूप प्राण भी सौम्य है। इस तरह जिन पदार्थों का पितरों में निवाय होता है वे पदार्थ भी सब सौम्य हैं।

(३) अमा तिथि सौम्या है। क्योंकि अमावास्या के दिन चन्द्रमा के ऊर्ध्वभाग में सूर्यरश्मियों का योग होने से पृथिवी की तरफ का

चान्द्रभाग अप्रकाशित रहता है। अतः वह प्रकाशी देव प्राणों द्वारा भुक्त नहीं है। चन्द्रमा के अधोभाग से पृथिवी पर आती हुई चान्द्ररश्मियाँ भी सौम्य हैं। पृथिवी के गायत्र प्राण के साथ ऊपर की ओर अर्थात् चन्द्रलोकस्थ पितरों की ओर जाती हुई चन्द्ररश्मियां भी सौम्य हैं। इस प्रकार आतिवाहिक सारी सामग्री भी सौम्य है जिसके द्वारा अन्नरस का पितरों की ओर अतिवहन (गमन) होता है।

(४) चन्द्रलोकस्थ पितर सौम्य हैं क्योंकि चन्द्रमा के रस से उत्पन्न चतुरशीतिकल (८४ कलात्मक) महानात्मा के कलांशरूप पितर हैं। २८ कला वाला पितृपिण्ड भी सौम्य है क्योंकि वह चन्द्रमा के रस से ही बना है। शरद ऋतु भी सौम्य है। इस प्रकार सभी अनुयोगी भी सौम्य हैं।

यद्यपि प्रतियोगी निवाय, आतिवाहिक तथा अनुयोगी सभी पदार्थ सौम्य हैं तथापि इन चारों का सोमरसरूप श्रद्धासूत्र में सम्बन्ध होने पर ही सन्तान द्वारा दत्त अन्नरसरूप भाग चन्द्रपृष्ठस्थ (चन्द्रमा के ऊर्ध्वभाग में स्थित) पितरों में जाता है। अतः श्रद्धाप्राधान्य के कारण इस ऋणमोचन कर्म को श्राद्धशब्द से व्यवहृत किया है। पार्वण श्राद्ध से भिन्न एकोद्दिष्टादि श्राद्ध-भेदों का भी इसी में अन्तर्भाव है।

(४) गयापिण्डदान

ऋणोद्धार का चतुर्थ उपाय गयापिण्डदान है। यह उपाय उपर्युक्त सब उपायों से श्रेष्ठ है। उपर्युक्त तीन उपायों से महानात्मा का ऋणोद्धार पूर्ण होने पर पृथिवी में किसी सन्तान में उसकी कला का अवशेष न होने से महानात्मा चन्द्रमा में लीन हो जाता है तथा महानात्मा के बन्धन से मुक्त होकर भूतात्मा पुण्यपापफलभोगार्थ चन्द्रलोक का त्याग कर देवयान या पितृयान मार्ग की ओर चला जाता है। कर्मगति को प्राप्त हुए कर्मात्मरूप भूतात्मा के उद्धार के लिए गयापिण्डदान किया जाता है। क्योंकि यह कर्मात्मकरूप भूतात्मा महानात्मा के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। जैसा कि भगवान् मनु ने कहा है—

"तावुभौ भूतसम्पृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः॥"

अतः शरीर परित्याग के बाद भूतात्मा के पूर्वशरीर का क्षेत्रज्ञ अपने प्रभव सूर्य में तथा भूतात्मा के पूर्वशरीर का महानात्मा का अपने प्रभाव चन्द्रमा में विलय हो जाने पर

अपूर्ण क्षेत्रज्ञ सूर्य से तथा अपूर्व महानात्मा चन्द्रमा से उत्पन्न होता है। भूतात्मा के आशयभूत इस अपूर्व उत्पन्न महानात्मा के उद्धार के लिए गयापिण्डदान उपाय का अवलम्बन किया जाता है। गयापिण्डदान के द्वारा अपूर्वोत्पन्न महानात्मा की मुक्ति हो जाने पर निराश्रय भूतात्मा महानात्मा के बन्धन का परित्याग कर मुक्त हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि गयापिण्डदान से अक्षय-कर्माश्वत्थसम्बन्धी कर्मपिण्ड निःशेषरूप से क्षीण हो जाता है। कर्मपिण्ड (कर्मसमूह) के क्षीण हो जाने से कर्मात्मा कर्मों से मुक्त हो जाता है।

"प्राण वै गयाः, तत् प्राणांस्तत्रे"

इस बृहदारण्यक-श्रुति-प्रतिपादित गायत्रीविद्या से यह सिद्ध होता है कि गयाप्राण असंग जाति के हैं। ये प्राणविशेष कर्मात्मा के कर्मसम्बन्ध को नष्ट कर देते हैं सारे ही संचितकर्म उपभुक्त होकर क्षणमात्र में ही कर्मात्मा से इस प्रकार अलग हो जाता है जिस तरह सर्प की काँचली सर्पशरीर से अलग हो जाती है और प्रारब्ध कर्मों के भाग के बाद उसके कर्म निःशेषतया हट जाते हैं और कर्मों के पूर्णतया निवृत्त होने पर वह कर्मात्मा कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है। यह गयापिण्डदान पितरों के ऋण का मोचन करने वाले पहिले उपायों की अपेक्षा भिन्न है। इसलिए अभियुक्तों ने कहा है—

"एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेघेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्॥"

यह गयापिण्डदान भूतात्मा के आश्रय अपूर्व महानात्मा के उद्धार द्वारा कर्मात्मा का संस्कार करता है तथा पूर्व के प्रजोत्पादन, श्राद्ध व सपिण्डीकरण ये तीन उपाय पूर्वोत्पन्न महानात्मा के संस्कारक हैं। अतः भिन्न-भिन्न आत्माओं के संस्कारक होने से श्राद्धादि उपायों तथा गयापिण्डदान दोनों की आवश्यकता है। इसलिए गयाश्राद्ध करने वालों को श्राद्धकर्म का परित्याग नहीं करना चाहिये।क्योंकि चन्द्रलोकस्थ महानात्मारूप पितरों के पिण्ड की पूर्ति सप्तम पुरुष को उत्पन्न करने से पूर्व नहीं होती और अपूर्णपिण्डवाले पितरों के पृथिवीस्थ सन्तानों के साथ बद्ध होने से महानात्मा तथा उससे बद्ध कर्मात्मा की मुक्ति नहीं हो सकती। अतः अभियुक्तों ने कहा है—

"अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नतः।
पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नामसंकीर्तनाय च॥" इति।

AN APPRAISAL OF REINTERPRETATION OF THE VAIŚESIKA DOCTRINES BY PT. MADHUSUDNAA OJHA

Dr. G.L. SUTHAR
DIRECTOR PT. M.S. OJHA RESEARCH CELL
DEPARTMENT OF SANSKRIT
UNIVERSITY OF JODHPUR

Having availed myself of the auspicious opportunity to express my views in this All. India seminar on the Vedic Vijñána propounded by the great seer Pt. Madhusudana ojha, I feel overwhelmed with joy. But before I dare disuss the topic chosen, I am reminded of Udayanacarya's invocation, which he offered to goddess Sarasvati at the commencement of his commentary on the Tatparyatika of Vacaspati Misra. I quote

"मातः सरस्वति पुनः पुनरेष नत्वा
बद्धाञ्जलिः किनपि विज्ञपयाम्यवैहि ।
वाक्चेतसोर्मम तथा भव सावधान
वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो थैते ॥"[1]

Here I need not replace the word 'Vacaspati', because it may also be taken as short form of the title 'Vidyavacaspati'.

Pandit ojha was a Vedic Philosopher par excellence. The whole subject matter of the Vedas was for the first time scientifically classified by him in four topics- Brahmavijnana, Yajnavijnana, Itihasapurana and Stotra[2]. He indicated the peculiarity of his Brahmavijna as follows—

"यत्र प्रदश्या विषयाः पुरातना यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने ।
यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तयस्तद् ब्रह्मविज्ञानमिदं विमृश्यताम् ॥"[3]

In his works relating to Brahmavinana, he shed flood of light in the field of Indian philosophy couched in the Vedas, the Upanisads, the Gita and the Brahmasasutra. It was he who on the basis of the Nasadiya Sukta of the Rgveda formulated and propunded for the first time the tan different

cosmogonic doctrines, which existed in the Vedic times before the different schools of Indian philosophy came into existence. They formed the subject matter of ten expositional works by Pt. Ojha. He made an innovative attempt to reclassify the systems of Indian Philosophy and reoriented the Advaita Vedanta propounded by Sankara synthesizing it in the relevant Samkhya and Vaisesika doctrines in the light of the Vedic Brahmanical and Upanisadic evidence. The characteristic arguments advanced by him to eliminate the seeming opposition of Samkhya and Vaisesika are an eye-opener. The works such as Brahmasiddhanta, Sarirakavijana and Sarirakavimarasa are rare specimens of modern Indian scholarship and are creditable monuments to the late Pt. ojha.

It is very interesting to note that Pt. Madhusudana ojha has in Viksepadhikarana of his Brahmasiddhanta scientifically reinterpreted the doctrines propounded in fifth chapter of the Vaisesikasutra advancing the characteristic arguments in conformity with the Upanisads. Despite the fact that he propounded the Advaita Vedanta (Brahmamimasasa) in his charcteristic style, he has evinced a reconciliatory approach by assigning the Vaisesika process of the origiation of Karma (action) its due place in it. Hence the old saying "काणादं सर्वशास्त्रोपकारकम्" stands reaffirmed. It is astonishing that he has designated only the Samkhy and Vaisesika as two Darsanas.[4]

Before I discuss his innovative elaboration of the Vaisesika process of Karma (motion or action), it is essential to build up in a nutshell its context and consistency in the said philosophical treatise. Brahman and its primal functioning power have been preferably designated by Pt. Ojha as Rasa and Bala respectively. Bala cannot subsit without its substratum, Rasa.[5] Rasa and Bala are also synoymous with Amrta and Mrtyu respecively.[6] By the union of the predominating Bala with Rasa is produced Maya, which is also designated as Prakrti and Sakti in spite of there being conceptual difference. The Bala. dominated Sakti had three froms—Asanaya, Vikasepa and Avarana, Verily these three are sattva, Rajas and Tamas respectively in the Vedic science. The whole universe is produced by the three forms of the Sakti. How the Sakti transforms itself into Kriya (action)

is explicitly discussed under the topic of viksepa. By upholding Viksepa or Rajas as the latent stage of action, the samkhya doctrine accepting actions as products of Rajas has also been justified. Thus Pt. ojha's attempt at reconciliating the samkhya and Vaisesika doctrines with that of the Vedanta is highly remarkable.

Pt. ojha has madeit clear that the Viksepa, of action, encompasses the animate and non-aninate both. Besides this, the five airs-Prana, Apana etc. are also common. Resorting to the evidence of the Chandogyopanisad, he further maintains that there are also five additional causes for the actions of the animate. They are Dhrti, Sraddha, Sukhasanaya, Jnanasanaya and Arthacayasanaya.

In the illuminating commentary 'Siddhantaprakasa' Pt. Giridhara sharma Chaturvedi, one of the wothiest disciples of Pt. ojha, has entered into a detailed discussion on the concept of the aforesiad five causes of actions. Refraining myself from elaboration of them, I would, however, like to make a passing observation on Dhrti with a view to comparing it with Prayatna (effort) propounded in the Vaisesika System. According to Vaisesika doctrine, actions of the living have Prayatna (effort), produced throgh the conjuunction of actman and respective limb of the body, as one of the efficient causes. Prayatna is synonymouse with Samrambha and Utasaha and has two kinds- (1) that proceeding from mere living and (2) proceeding from desire and aversion.[8] The Prayatna propounded by the Vaisesikas can be identified with Dhrti which Pt. Ojha has discussed at length in the following verses:—

"तत्कर्मयोनिः खलु पञ्चधा स्याद्विशेषतो जन्तुषु चेतनेषु ।
धृतिश्च श्रद्धा च सुखाशनाया ज्ञानाशनायार्थचयाशनाया ॥
धृतिं विना नो लभते बलं क्वचिद् धृतिं बिना नैष बलं प्रयोजयेत् ॥
धृतिं विना वा न बलेन युज्यते धृतिर्हि विक्षेपणयोनिरिष्यते ॥
प्राणं ह्यपानं च निरुध्य मध्ये व्यानो यदा तिष्ठति निश्चलः सन् ।
तदा प्रसादेन परेण धृत्या जीवो लभेतात्मबलं यदिच्छेत् ॥
तत्रैव यत्र प्रणिधीयते बलं प्राज्ञेन तच्चेद्विधृतं भवेदलम् ।
तर्त्हि विक्षेपबलेन युज्यते न चाधृते वस्तुनि कर्म कल्पते ॥

या त्वात्मनः स्याद्विधृतिर्धृतेऽर्थे तामेव निष्ठामिति नारदाय ।

ताण्डश्रुतौ प्राह सनत्कुमारः श्रद्धा हि निस्तिष्ठत एव भाति ॥"[9]

Having reviewed the concept of those five causes, Pt. ojha opined that the Bhavas such as Dhrti, "Sraddha etc. are not restricted to the animate alone, but are common to the inanimate too. Those are not apprehended in the nonsentient in lack of sense-organs.[10] This view is not consonant with the Vaisesiktencta which holds that actions of the insentient, not guided by the soul, are not produced by Prayatna.[11] Pt. Ojha further upholds that conciousness equally belongs to all and, therefore, all actions excepting prajnakarma i.e. action produced throught the organs aided by Manas, are produced in all.[12]

Having discussed the aforesadi five causes of actions, Pt. Ojha had indicated five kinds of the Viksepa, pre-stage of action. They are- Pranoda, Gati, Vega, Vrtti and Bhava.[13] Actions produced by these Viksepa-balas are often apprehended in the world. Pranoda, which is also designated as Nodana and Samskara, is five fold because of the following five causes- Ghata, Anaghatayuti, Adrsta, Prakkarma and Arthantaraparyaya,[14] which are not refered to in the Vaisesika treatises. However, the first two kinds of Pranoda have been mentioned as abhighata Samyoga (striking) and Nodana Sanyog (impulsion) respectively, the definitions[15] of which conform to those given in the Vaisesika system. Strangely enough, the Pranoda poduced by Arthantaraparyaya had been left undefined. Nor has the Commentator attempted to explain its nature. Ahitaghata16 has been mentioned as a particular kind of Abhighata (striking), but it is not referred to in Vaisesika treatieses.

Though Pt. Ojha has reinterpreted many a Sutra of V chapter of Vaisesikasutra in comfomity with the traditional acceptance, like the radical Naiyayika Bhasarvajna of 10th Century A, D, he has also brought abour many innovations in the Vaisesika doctrines. According to him, Gurutva (gravity) is not quality (Guna) as accepted in the Nyayavaisesika, but it is a Bala of the earth imparted to a thing or object.[17] The commentator Pt. Chaturvedi dismisses the view that the theory of gravitation force in the earth was first dicoverd by

Newton, because it was already propunded in our scriptures. Furthermore, Vega (impetus or intertia) according to Pt. Ojha, is an accumulation of similar Balas (forces). The radical Naiyaika Bhasarvajna has also rejected Vega (impetus) as a quality. "कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" V.S. 1.1.11 has been dismissed by him with a view to reducing Vega to motion.

In consonance with the Viasesikasutras -"कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" (V.S. 1.1.11) and "नोदनाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारदुत्तरं तथोत्तरमुतस्च", (V.S. 5.1.17) Pandit ojha has in the following verses of Brahmasiddhtnata propunded that the subsequent actions are caused by Samskara (faculty or dipositional tendency) i.e., Vega (impetus)

"या नोदना क्वापि कृता तदादौ प्रदृश्यते यः पुरुषप्रयत्नः ।

तमन्तरेणैव यदुत्तरं स्यात् सान्तानिकं कर्म च कर्मजं तत् ॥

संस्कार एव प्रथमेन कर्मणा भवत्यतस्तूत्तरमुत्तरं क्रमात् ।

"संस्कारजं कर्म भवत्यतो विर्दुन न कर्मसाध्यं किल कर्म विद्यते ।"[18]

"तथाद्यकर्मेतदिषोः प्रणोदनात् संस्कारतोऽन्यानि तु कर्मकारितात् ॥"[19]

Sridhara, the celebrated Vaisesika Philosopher, has in Nyayakandali also upheld impulsion and striking as caused of subsequent motions in addtion to inertia. Despite accepting Vega and Pranoda as Samskara, Pt. Ojha has not given general definition of Samskara. The best definition of Samskara is given by Tarkikarakas "यज्जातीयसमुत्पाद्यस्तज्जातीयस्य कारणम् । स्वयं यस्तिद्विजातीयः संस्कारः स गुणो मतः ॥"

On the evidence of the verse-

"संघात एवं विलयश्च तेजोविशेषसंयोगवशादयां स्यात् ।

विस्फूर्जथुः स्पष्टमिहास्ति लिङ्गं महर्षय रचापि तथा वदेन्ति ॥[20]

Pandit Chaturvedi, the Commentator, has brought about that Pt. Ojha seems to have rejected the traditional Vaisesika view that the fludity of water is natural and the cognition of its solidness is a misapprehension. It is noteworthy that pandit Chaturvedi, quoting almost all the Sutras pertaining to water, has dealt with the dilemma as to wether the fliudity of water is natural or due to extraneous. The arguments advance by him seem to be covincing and conclusive.

Furthermore, the Vaïsesikas have discussed in detail the dilemma as to why walking, flowing, dripping, blazing upward and zigzag motion have not been accepted as seperate actions like throwing upward and throwing downward etc. and why the first four kinds of action heva also not been reduced to motion (gamana) as is the case with walking, flowing, dripping blazing upwards and zigzag motion. The great Vaisesikacarya Prasatapad is also puzzled in a doubt whether motion (gamana) is synonymousw with Karma (action) or a kind of action like throwing upward and throwing dfownward etc. like some other problems pertaining to the Vaisesika doctrines. this one also has not escaped the notice of Pt. Ojha. According to his characteristic reinterpretation of the SutraKara view regarding kinds of action, Gati is two-fold.

(1) Ansiki or Avayavagati and

(2) Samudayagati.

The First four kinds of action are included under Ansiki gati, while the Samudayiki gati, designated as gamana by the Sutrakaral, covers all the remaining actions such as walking and flowing etc. This characteristic recalssification of actions has been further elabortaed by Pt. Chaturvedi.

After the dicussion of Pandit Ojha's reinterpretation of the Vaisesika doctrines, the first objection may atise as to why he had digressed from the traditional path of Advita Philosophers like Sankara and his follwers, who are in violent oppostion to the tenets of the Nyaya-Vaisesika. To repudiate this objection, I would like to quot Pandit Chaturvedi's explanatory statement verbatim-

"यद्यप्ययं परमाणु वादो ग्रन्थकृतो नाभिमतः, अत्र रसबलयोरेव जगन्मूलत्वनिस्पणात्, तथापि वैशेषिक प्रक्रियाया अनुवादे प्रसङादिदमयि व्याख्तम् ।पि अथवा अग्रे क्षरादात्मनो जगदुयत्ति प्रकियायां निरून्पयामाणायां स्थूलपदार्थेभ्यः पूर्व सूक्ष्माणामपूना मूत्पत्तिरत्राप्यम्युपगन्तव्या भवत्येवेति तन्मसि निधायैवाणुकर्मणोऽयत्र चर्चा कृता । धर्माधर्मरूपमदृष्टं च सर्वैरवास्तिकैर्जगदुत्पत्तौ कारणतयाभ्युपगम्यत एवेति न कोऽपि प्रबलो विरोधः । अस्यां ग्रन्थोक्तप्रक्रियायां च प्रलये सुप्तस्य बलस्य जागरणे अदृष्टस्य हेतुता बोद् धव्येत्यपि संकेतितम । अग्रे तु वेगादिभिः संस्कारैरणुषु कर्मपरम्परो प्रवर्तत एवेति.।" 21

The second objection may arise as to what is the concern of Atman, which is transce dental and actionless,

with this complicated process of production of actions. The objection is not viable, because it is crystal clear from the close examination of Pandit ojha's view that he has discussed the process of production of actions keeping in view the empirilcal soul. (क्षेत्रज्ञनामा पुरुषोऽस्ति जीवः स षोडशी चान्द्रमसो निरुक्तः । प्रज्ञामयः प्राज्ञ इहास्ति चान्द्री प्रज्ञा ससत्याऽन्यगता हि श्रद्धा ॥)[22]

The five particular causes – धृति, श्रद्धा, सुखाशनाया, ज्ञानाशनार्य ह् अर्थचयाशनाया- which stimulate the empirical soul for actions in mind and body, have been wisely devised by Pt. Ojha. Though the aforesaid five causes are not found mentioned collectively in this characteristic form in Vaisesika treatises, there is no difficulty in including these under quality (Guna) of the Vaisesika. Dhrti has already been identified with Prayatna. Srddha is a special kind of cognition (Buddhi). The remaining three are nothing, but particular kinds of desire (Iccha) propunded in the Vaisesika Darsana.

References-

1. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धी १.१.१

2. यज्ञश्च विज्ञानमथेतिहासः स्तोत्रं तदित्यं विषया विभक्ताः ।
वेदे चतुर्धा त इमे चतुर्भिर्ग्रन्थैः पृथक्कृत्य निरूपणीयाः ॥

Brahmasiddhanta, B. H. U.
Varanasi, 1961, p.1

3. Brahmasiddhanta, P.3

4. वैशेषिकं च सांख्यं दर्शनमेतद्द्वयं मन्ये ।
तत्र जगत्कारणताणूनां प्रकृतेश्च दर्श्यते स्वैरम् ॥

–B.S.,p.6

5. ब्रह्म श्रुतौ तद् रस इत्युदीरितं परास्य शक्तिर्बलमित्युच्यते ।
बलं रसाद् भिन्नमिदं न गण्यते न श्रौतमद्वैतमसौ विरुध्यते ॥

–B.S.,p.6

6. रसोऽमृतं नाम बलन्तु मृत्युर्बलं न चेत्स्याद रस एक किं स्यात् ।
रसो न चेत्स्यात् क्व बलं नु तिष्ठेत् तस्मादिमौ नित्ययुतौ हि धर्म्मौ ॥

–B.S. p. 17

7. Brahmasiddhanta, p. 139

8. Prasastapadabhasya, S.S. university, Varanasi, 1977, p. 638

9. Brahmasiddhanata, p. 173'

10. Ibid., p. 176

11. Prasastapadabhasya, p. 725

12. Brahmasiddhanta, P. 177

13. Ibid,

14. Ibid.,

15. Ibid. pp. 177-178

16. Ibid., p. 178

17. Brahmasiddhanta, p. 179

18. Ibid.,

19. Ibid., p. 182

20. Ibid., p.183

21. Ibid., p. 185

22. Ibid., p. 174

जगद्गुरु-वैभव अथवा महामहिम मानव-ब्रह्मा

देवीदत्त चतुर्वेदी,
सिरे डयौढी बाजार, जयपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

समीक्षाचक्रवर्ती परमगुरु श्री ब्रह्मलीन ओझाजी ऋषिकल्प थे। यह मान्यता अतिशयोक्ति में नहीं आ सकती। महाराज माधवसिंह के अन्तरंग राजपंडित पद पर रहते हुए भोग-सामग्री यद्यपि उनका खुला आह्वान कर रही थी तथापि 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' इस धीरत्व का निर्वाह करते हुए जिनने सारा जीवन वेद समुद्र के अवगाहन में लगाकर, शताब्दियों से विस्मृत एवं विद्वत् वर्ग की ओर से सर्वथा उपेक्षित "वेदविज्ञान" प्रक्रिया को संहिता पठित वेदमंत्रों के तथा ब्राह्मण ग्रन्थोक्त वेद वचनों के आधार पर ही संसार के समक्ष उपस्थित कर दिया तथा विज्ञान, यज्ञ, दर्शन, इतिहास आदि पर शतशः ग्रंथों का निर्माण कर दिया, ऋषिकल्प व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है। विद्यावाचस्पतिजी की स्पष्ट उक्ति थी कि हमने कहीं कुछ भी अपनी तरफ से नया नहीं लिखा है, ब्राह्मण तथा आरण्यक आदि ग्रंथों के अनुसार अर्थावगमन की विचार शैली नवीन अवश्य लगती है- क्योंकि उस परम्परा से विचार करने की शैली को विद्वानों ने अर्थवाद कहकर उपेक्षित कर दिया, अतः भुला दिया। विज्ञान की मूल आधार उपपत्ति है और उपपत्ति अर्थवाद नाम से कहकर उपेक्षा किये वेद भागों में पूर्णतया निहित है। उन उपपत्तियों के आधार पर इस अति प्राचीन "वेद-विज्ञान" को पाया जा सका है। ऐसी श्री ओझाजी की मान्यता थी। प्रकृत निबन्ध से सम्बन्धित समीक्षा—चक्रवर्तीजी का यह ग्रंथ अति प्राचीन इतिहास को प्रकट करता है। जगत् के गुरु का वैभव अर्थात् मनुष्य रूप ब्रह्मा जो सारे जगत् के गुरु तथा परम सम्माननीय माने गये थे- उनका वैभव। इस ग्रंथ में मानव ब्रह्मा की उत्पत्ति का काल उनके द्वारा वेदों का ग्रंथात्मक निर्माण, सुसभ्य समाज की स्थापना, भू-स्वर्ग की स्थापना आदि का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

श्री ओझाजी के लेखानुसार आधुनिक इतिहास तो अत्यन्त अर्वाचीन इतिवृत्त है। ये इतिहास-मुद्रा शिलालेख- दानपत्र- प्रशंसा ग्रन्थ आदि को आधार मानकर लिखे गये हैं, वे सब केवल गत चार हजार वर्ष के अन्तराल के हैं-उससे प्राचीन नही हैं। इतिहास अन्वेक्षकों की दृष्टि गत चार हजार वर्ष से और पूर्व में जा ही नहीं रही है और तो और वे तो छह हजार वर्ष से पूर्व जगत् की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। ऐसे अवैज्ञानिक विचार वाले

उस गौरवमय अति प्राचीन इतिहास को क्या जानें ? ऐसा ही एक अन्य विचार है कि भारत में पहले अनार्य रहते थे-उत्तर से कुछ आर्यगण आये, उन्होंने अनार्यों को मारकर भारत पर अधिकार कर लिया। यह मान्यता भी निःसार है क्योंकि इसका कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। महाभारत युद्ध का काल पांच हजार वर्ष पूर्व का प्रमाणित होता है।महाभारत से इधर का काल आधुनिक युग है। महाभारत से पूर्व का काल जो देवयुग नाम से विख्यात था, उसका इतिहास अति गौरवपूर्ण रहा है। उस समय विद्या में, बल में, धन में भारतीयों से विश्व में कोई भी प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाता था। वेद के वर्णन के अनुसार तो उन आर्यों पर दस्यु अनार्यों ने उत्तर से आक्रमण किया था, जो देवासुर युद्ध के नाम से जाना जाता है। इस युद्ध में इन्द्र की प्रधानता में जो दस्युओं पर आर्यों ने विजय पाई थी, उसका कथन वेद में हुआ है। वह युद्ध भू देव रूप मनुष्य देहधारी देवताओं का ही था। मानव ब्रह्मा द्वारा ही इस भूतल पर स्वर्ग की रचना हुई थी, इन्द्र आदि आठों लोकपाल मनुष्य ही पृथक्-पृथक् दिशाओं में नियुक्त थे। महाभारत काल पर्यन्त उस भू स्वर्ग का न केवल वर्णन मिलता है अपितु ऋषि मुनियों का तथा अर्जुन आदि वीरों का वहां का आवागमन रूप परस्पर का व्यवहार भी वर्णित है। महाभारत के अनन्तर उस देवयुग संबंधी भू-स्वर्ग का संहार हो गया। आगे चलकर वह भू प्रदेश म्लेच्छ तथा तुरुष्कों के अधिकार में चला गया। यह इस ग्रंथ का ही उल्लेख है। विद्यावाचस्पति जी ने लिखा है कि वेदशास्त्र के अनुशीलन से तो ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल से चलते हुए सृष्टि-क्रम में महाभारत युद्ध से आठ हजार वर्ष पूर्व का भारत का इतिहास बड़ा समुज्ज्वल था। उस समय का वाणिज्य, बल, वीर्य, विद्या, कला, शिल्प विधान आदि अत्यन्त समुन्नत था और सत्य घटनाओं से परिपूर्ण था। उस काल का परम्परानुगत इतिहास भी था। अतः स्पष्ट सिद्ध होता हैं कि भारत में ही सर्वप्रथम मानवी सभ्यता का विकास हुआ था और ये भारत के सभ्ययुग का अति पुरातन युग था, तत्कालीन समाज की सभ्यता के आधार पर ही भारत सारे जगत् का गुरु माना जाता था। एकमात्र देव को ही भारत की अर्वाचीन युग की पतन अवस्था का कारण कहा जा सकता है। श्री ओझाजी लिखते हैं कि-सबसे अधिक आश्चर्य तो यह है कि विचारशील सम्मानीय अग्रणीय विद्वद्गण भी उन इतिहास लेखों पर विश्वास करते हैं जो प्रायः मिथ्या है, तथा क्षुद्र राजनीति से ग्रस्त हैं। वास्तव में तो चार हजार वर्ष से पूर्व का इतिहास परम्वैज्ञानिक, धार्मिक तथा परम्नैतिक समाज का इतिहास है- जो परम् श्रद्धेय है, उस पर भी दृष्टिपात करने का प्रयत्न कीजिये।

उस युग में महामहिम मानव ब्रह्मा वेदविज्ञान के गुरु थे, शासन के सूत्रधार मनु थे, सामाजिक नीति के पालक पृथु महाराज थे। इनकी महामहिमा व्याप्त हो गई थी। तपः समाधि द्वारा ब्रह्मा ने सूर्यलोकगत देवताओं के प्राकृतिक यज्ञ विज्ञान को अवगत करके

भूमिगत मानव समाज में प्रचलित किया था। वह विज्ञान आज भी यहाँ चल रहा है। मनु के द्वारा प्रचलित धर्म का स्वरूप भी यथावत् प्रवृत्त है। इसी प्रकार पृथ्वी के शासन की पद्धति जो महाराज पृथु के द्वारा प्रचलित हुई थी कुछ हेर फेर से ही सही किन्तु आज भी प्रचलित हैं। ये तीनों भारतीय सभ्यता के मूल कर्णधार यहाँ हुये थे। सिन्धु नद की पश्चिम दिशा में पुरुकर प्रदेश में जिसे आज (बलख बुखारा) कहते हैं यहां मानव ब्रह्मा का जन्म हुआ था और स्वर्णशिखर मय उस पर्वत पर इनका निवास था जिसे आज पामीर कहा जाता है। स्वयंभू मनु ब्रह्म विष्टप नाम से कहे जाने वाले काकेशस पर्वत पर रहते थे। इनके अतिरिक्त एक अन्य मनु भी थे जिन्होंने अयोध्यापुरी का निर्माण करके भारत में ही निवास किया था। महाभारत से पुरातन देवयुग का इतिवृत्त वेद और पुराणों में निहित है विद्वानों को उसका अनुशीलन करना चाहिये।

विज्ञान संबंधी विचारणा में लोक के इतिवृत्त की अपेक्षा रहती है। वह इतिवृत्त पुराण और इतिहास के भेद से दो प्रकार का होता है। जो अति पुरातन इस विश्व की सृष्टि का इतिहास है वह पुराण कहा जाता है और चेतनजगत् में जो महामहिम मनुष्यों का चरित्र वर्णन किया जाता है, वह इतिहास कहा जाता है। यहां प्रथम पुराणोक्त विज्ञान-प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण करने के अनन्तर इतिहास का परिचय दिया जावेगा।

सृष्टि जो अब तक हो चुकी है, हो रही है अथवा भविष्य में होगी उस सबके स्त्रष्टा ब्रह्मा ही हैं किन्तु वे प्राण रूप हैं- अक्षर पुरुष संस्था में देवता रूप में उनका परिगणन हैं। वैदिक विज्ञान में प्राण को मुख्य तत्व मानां गया है। जैसे आधुनिक भौतिक विज्ञान में विद्युत शक्ति को प्रधान माना जाता है। वह प्राण तत्व अति गहन है, इसके रहस्य को जानने के लिये बड़े-बड़े ऋषियों समाधि रूप प्रयास अपने जीवन काल में करके अंश रूप में ही प्राणतत्व का परिचय प्राप्त किया था संपूर्ण भाव से परिचय तो कुछ परिगणित प्रधान ऋषि भी नहीं पा सके थे। अंश भावों के परिचय के संकेत ही "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः" "श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः" "मनो वै भारद्वाज ऋषिः" आदि ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्यों में देखे जा सकते हैं। प्राण तत्व की गहनता का हेतु विशेष यह है कि प्राण -स्थूल रूप में, सूक्ष्म रूप में, अति सूक्ष्म रूप में तथा सृष्टि की सर्वादि अवस्था में नीरूपता में भी सत्तावान् रहता है। स्थूल अवस्था में प्राण श्वास-प्रश्वास, नाड़ी स्पन्दन, हृदय स्थान की गति आदि अवस्थाओं में सर्वत्र चेतन जगत् में व्याप्त हो रहा है। सूक्ष्मरूप में प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान आदि अवस्थाओं में सर्वगत हो रहा है, केवल योगाभ्यासी ही उन अवस्थाओं को अंशभाव में जान सके हैं। यह ही प्राण सृष्टि संचालन प्रक्रिया में अतिसूक्ष्म अक्षरपुरुष के रूप में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम अवस्था में योगगम्य भी नहीं हो पाता। भक्तिरूप आत्मसमर्पण द्वारा इनको प्रसन्न करके इनकी कृपा से ही इनका दर्शन हो पाता

है । यह बात "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इस वेदवचन में कही गई है । वैदिक दर्शन में इस अक्षर रूप प्राण संस्था को "सेतु" कहा गया है, अर्थात् योग-कर्मयोग-जप-तप-समाधि भक्ति आदि साधनों के सहारे मानव अति प्रयास के अनन्तर भी अक्षर पुरुष संस्था तक ही पहुंच सकता है । अव्यय पुरुष जो "आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्" रूपेण श्रुति में निर्दिष्ट हुआ है, उसमें मानव की साक्षात् गति संभव नहीं मानी गई है अपितु अव्यय में प्रवेश पाने के लिये ब्रह्मा-विष्णु आदि की कृपा को ही हेतु माना गया है-अतः यह अक्षर पुरुष संस्था ज्ञान सीमा की सेतु रूप मानी गई है ।

यद्यपि अव्ययपुरुष भी प्राणात्मक ही है तथापि यह नीरूप है, आनन्द विज्ञान आदि की सत्तात्मक अनुभूति तो होती है किन्तु उनका कोई रूप नहीं होता, अतः "अनुभवरसिको विजानीते" ऐसे वाक्य ही अतदर्थ प्रयुक्त हुये हैं । यद्यपि वाक् का ही रूपभाव सर्वत्र माना गया है किन्तु क्षर पुरुषगता वाक् का ही वह रूपभाव होता है-अव्ययगता वाक् का नहीं । वह आदिकालीन वाक् तो अन्तगर्भित नीरूपभाव में ही अक्षर संस्था के उद्भव में कारण बनती है और प्रतिशरीर गत अक्षर-प्राण-क्षर संस्थागता वाक् को उत्पन्न करता है, वह वाक् की रूपिणी होती है । "सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे" इस मंत्र भाग के द्वारा क्षर रूपिणी वाक् का संकेत किया गया है । वह अव्यय पुरुष रूप मुख्य प्राणी ही सारी सृष्टि का मूलाधार है ।

नासदीय सूक्त के "आनीदवात स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास" इस मंत्र भाग के द्वारा "आनीत्" इस पद से उस मुख्य प्राण का ही संकेत किया गया हैं । यह सारे विश्व का आत्मा बना हुआ ब्रह्मभाव का मुख्य प्राण सीमा शून्य रहता हुआ सर्वत्र व्याप्त रहता है । सीमाभाव में आये बिना प्राणन क्रिया कैसे संभव होती है ? इसका समाधान "स्वधया" पद के द्वारा किया गया है अर्थात् स्वधा नाम की मायाशक्ति अथवा बल के द्वारा उस व्यापक प्राण का आगे सीमाभाव में प्राणन होने लगता है, किन्तु वह अति सूक्ष्म वायु रूप भी नहीं है यह संकेत "अवातम्" पद के द्वारा कर दिया है-उससे नीरूपता स्वतः सिद्ध हो जाती है-क्योंकि वायु स्वयं नीरूप है, तो जो वायुभाव में भी नहीं आता वह तो नीरूप होगा ही । अन्यत्र श्वेताश्वतर उपनिषत् में इस मूल तत्व के निरूपण में कहा गया है-

न तस्य कार्य करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

नासदीय मन्त्रभाग में ज्ञान-बल-क्रिया रूपेणी इस शक्ति को ही स्वधा पद से कहा गया हैं । श्री ऋषिकल्प ओझाजी ने "ब्रह्मसिद्धान्त" नाम के अपने ग्रंथ में इस सारे विषय की स्पष्ट विवेचना की है ।

सृष्टि विचार परंपरा में भारतीय विद्वान् 'आध्यात्मिक-आधिदैविक तथा आधिभौतिक'- इन तीनों भावों को परस्पर संबद्ध मानकर विचार करते रहे हैं। इनमें केवल आधिभौतिक संस्था जो पंचभूतों की समष्टि रूप में बनती है- वह ही इन्द्रियगोचर होती हुई दृष्टिपथ में आती है। अध्यात्म भाव और अधिदैव भाव अदृष्ट ही रहते हैं किन्तु दृश्य रूप अधिभूत के वे ही मुख्य अवलम्बन बनते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अदृष्ट भाव ही दृष्ट जगत् का संचालक हो रहा है। अधिदैव नाम की यह अदृश्य संस्था वैदिक दर्शन में प्राण नाम से निरूपित हुई है जिसे देवता कहा जाता है। यह देव वर्ग प्रति शरीर में तत्तत् स्थानों में विराजमान होकर जगत् चक्र को चलाता है।

इन प्राणमय देवताओं में प्रधान स्रष्टा प्राण को ब्रह्मा प्राण अथवा ब्रह्माग्नि कहा गया है। जगद्गुरुवैभव ग्रंथ के लेखानुसार ये प्राणरूप देवता ब्रह्मा अधिदैव संस्था में मानसी, स्थानवत् और मैथुनी तीन प्रकार की देवसृष्टि करते हैं। एक ही बिन्दुमय शरीर में बहुत से तत्व जहाँ साथ-साथ रहें- वह मानव सृष्टि होती है जैसे पंचभूतों के गुण साथ-साथ रहते हैं।

एकमात्र खाली अवकाश रूप आकाश की कोई विशेषस्थान वाली परिस्थिति नहीं होती उस रिक्त अवकाशभाव का अपसरण हो जाने पर विशेष परिस्थिति बन जाती है। उस रिक्त आकाश को विशेष स्थिति में लाने वाला पदार्थ उस स्थान का अभिमानी कहा जाता है- जैसे पृथ्वी, जल, वायु आदि। यह स्थानवती सृष्टि है। स्थानवती इस सृष्टि में आकाश की संज्ञा व्योम हो जाती है।

दो के योग होने पर दोनों के संघर्ष से दोनों के उपमर्दन के अनन्तर जो तीसरा कोई तत्व उत्पन्न हो जाता है- वह मैथुनी सृष्टि कही जाती है। जैसे योनि से उत्पन्न होने वाले मनुष्य आदि।

प्राणमय देव ब्रह्मा की तात्विक सृष्टि चार प्रकार की निरूपित हुई है सर्वप्रथम आत्मारूप सृष्टि होती है, यह स्वयं तीन प्रकार की है। इसमें ब्रह्मवीर्य, क्षत्रवीर्य, विड्वीर्य रूप से एक एक वीर्य का आधिक्य होकर तद्रूप ही आत्मा होता है। जैसे ब्रह्मवीर्य ब्रह्मा अव्ययात्मा है-इनका स्वयं कोई शरीर नहीं होता। क्षत्रवीर्य ब्रह्मा अक्षरात्मा है, एवं विड् (वैश्य) वीर्य ब्रह्मा क्षर आत्मा है। ब्रह्मा के तीन रूप स्वयंभू, विराट् और वैराज नाम से वेद में श्रुत हैं- उनमें स्वयंभू ब्रह्मा आधिदैविक ब्रह्मा है, विराट ब्रह्मा आध्यात्मिक ब्रह्मा है और वैराज नाम के ब्रह्मा आधिभौतिक ब्रह्मा है।

आत्मासृष्टि क्रम में मूलतः परमेश्वर ईश्वर और जीव यह तीन विधा होती हैं, इनमें परमेश्वर तो शरीर रहित है। ईश्वर शासक होने से शरीरधारी होता है, इसके शरीर ज्योतिर्मय होते हैं। यह स्वज्योति-परज्योति-अज्योति भाव से त्रिविध शरीरी होता है स्वज्योति-सूर्य है, परज्योति चन्द्र, तारा, नक्षत्र आदि हैं अज्योति, प्रस्तर मूर्तिमय है। जीव के शरीर सचेतन, अन्तश्चेतन और अस्फुट चेतन रूप से तीन प्रकार के होते हैं। वास्तव में एक ही आत्मा का त्रिपुरुष भाव बनता है। एक आत्मा का स्वयं कोई शरीर नहीं होता, त्रिपुरुष भाव होने पर आत्मा शरीर वाला बन जाता है। पुर नाम शरीर का है और पुर में शयन करने वाले को पुरुष कहा जाता है।

अक्षर पुरुष की पांच कलाओं में अग्नि और सोम ये दो कला भी प्राण रूप हैं, ये दो कला ही सृष्टि की साक्षात् आधारभूत होती हैं- अतएव "अग्नीषोमात्मकं जगत्" यह दार्शनिकों की घोषणा हुई है। घोषणा तो हुई किन्तु अग्नि और सोम के समन्वय की प्रक्रियात्मक रचना से जगत् का निर्माण किस प्रकार होता है ? यह जिज्ञासा समाधान नहीं पा सकी।

समीक्षा चक्रवर्ती जी के वेदविज्ञान से संबंधित ग्रंथों में अग्नि-सोम-समन्वय प्रक्रिया का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण हुआ है और वह बुद्धिगम्य भी होता है।

एकमात्र ब्रह्मतत्व ही विश्वरूप में विकसित हो रहा है, यह वैदिक दर्शन की मान्यता है। बृंहणशील को ब्रह्म कहा जाता है। समुद्र की तरह उफन कर फैलते रहने की प्रक्रिया को बृंहण कहा जाता है। ब्रह्म का यह विकासात्मक विस्तार "वितान वेद" नाम से कहा गया है, अर्थात् वेदों के रूप में ब्रह्म का वितान हो रहा है। वह वितान ऋक्-साम-यजु रूप सीमा भाव में बद्ध होकर जगत् रूप में आता है। प्राणमय ब्रह्म भाव का यह वितान ही रहस्यमय वेद विज्ञान है, यह ही सात्विक वेद है, यह अपौरुषेय हैं ये ऋक-साम-यजु ग्रन्थरूप वेद नहीं है। वितान भाव में ऋक् या ऋचा मूर्तपिण्ड रूप आकार का नाम है, उस आकार की परिधि अथवा सीमा को सामवेद रूप विज्ञान कहा जाता है और मूर्तिभाव से आरंभ होकर सीमा की अवधि तक संचरित होने वाले प्राणात्मक अग्नि को यजुः अग्नि अथवा यजुर्वेद कहा जाता है। यत् और जूः इन दो शब्दों से बना हुआ यह वास्तव में यज्जू था, जो कि अब यजुः कहा जा रहा है। यत् से गतिशीलता और जूः से स्थिर भाव बताया गया है। इसके कारण ही प्रत्येक इन्द्रिय अपने स्थान पर स्थित रहकर भी बाहरी पदार्थों से सम्बन्ध कर पाती है। श्री ओझाजी ने लिखा है कि कोई भी पदार्थ जिस स्थान पर रहता है-उस स्थान पर पहुँच कर नेत्र उस पदार्थ की वास्तविक सत्ता को ग्रहण नहीं करते हैं- अपितु उस पदार्थ का फैलने वाला ऋचा मण्डल चक्षु पटल की ओर आता है उसे यत् भाव

में चक्षु ग्रहण किया करता है । इस यजु में अग्नि और सोम दोनों समन्वित रहते हैं । पदार्थ को नाभि अथवा केन्द्र से उठकर सीमा की अवधि तक जाने वाला अग्नि और सीमान्त अवधि से नाभि तक आने वाला सोम होता है । सोम रस रूप आपोमय होता है- वह ज्वलनात्मक भृगु और अंगार रूप अंगिरा का समन्वित तत्व है । सोम सम्बन्धी वेद अथर्ववेद है । ऋक्-यजुः-साम अग्नि वेद त्रयी है, उस अग्निमयी वेदत्रयी में सोम आश्रय पा रहा है । अर्थात् गौण भाव में अग्नि का सहचारी बन रहा है । सोम के इस आश्रय भाव का मूल मंत्र में संकेत है- (ऋग्वेद मं. १ अ.-२२, सू.-१६४)

"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥"

ऋक् और साम का मंत्र में यजुरूप मुख्य अग्नि से सापेक्ष भाव दिखाया गया और न्योका पद से सोम का अप्रधान रहते हुए सखि भाव प्रार्थित हुआ है ।

इस अग्नि-सोमसमन्वय से भूतों की और उनके आत्मा रूप देवताओं की सृष्टि हुई है । देव स्वरूप प्राणात्मक ब्रह्मा की तात्विक विज्ञानमय वेद की यह दूसरी सृष्टि हुई है । ये तात्विक वेद सृष्टि अपौरुषेयी है-ईश्वरीय है, प्राकृतिक यज्ञ से आधारित है। अग्नि-सोमसमन्वय रूप इस प्राकृतिक यज्ञ से पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष लोक, और द्युलोक इस त्रिलोकी की सृष्टि हुई है, यह देवब्रह्मा की तृतीय सृष्टि है ।

चतुर्थ प्रजा रूप सृष्टि में अक्षर और क्षर सृष्टि है । पृथक्-पृथक् नामों वाली यह प्रजासृष्टि भिन्न प्रतीत होती हुई भी परस्पर आबद्ध है, जैसा कि श्री ओझाजी ने लिखा है-

तत्र क्षरः सोऽक्षरतः कृतात्माक्षरोऽक्षरं न व्यतिरिच्य तिष्ठेत् ।
एषोऽक्षरोऽप्यव्ययतः कृतात्मा विनाऽव्ययं नाक्षर एव भायात् ॥

यद्यपि अव्यय जो आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाङ्मय है- वह शरीरवान् नहीं है तथापि तात्विक भाव में वह सारे विश्व से अनुगत रहती ही है, यह सुस्पष्ट कहा गया है ।

देव कोटि में सर्वादि और सब देवताओं में प्रधान यह प्राणमय ब्रह्मा अक्षाग्नि भाव से ध्रुवबिन्दु के नीचे के धरातल में पृथ्वी के मध्य गर्भ रूप केन्द्र बिन्दु से विराजमान होकर पृथ्वी और द्युलोक को परस्पर आबद्ध रखता है ।

मानव ब्रह्मा का इतिहास

ध्रुव का स्थान तो यद्यपि स्थिर माना जाता है किंतु यह स्थिरता आपेक्षिक स्थिरता ही है अर्थात् अन्य ताराओं की अपेक्षा यह ध्रुव है । वास्तव में परम् ध्रुव तो इस संसार का

कोई प्रदेश नहीं है-अतः ध्रुव प्रदेश का भ्रमण भाव भी होता है, जिस काल में जो ध्रुव प्रदेश हो उसके नीचे का धरातल सुमेरु कहलाता है। भिन्न-भिन्न नक्षत्र इस ध्रुव प्रदेश पर परिवर्तित होते हैं, इस क्रम में जब आकाश का अभिजित् नाम का तारा ध्रुव प्रदेश माना जाता था, इसके नीचे का भू-प्रदेश मेरु था, जिसका आधुनिक नाम पामीर है- इसके समीप पुष्कर क्षेत्र में कान्तिपुरी नाम की नगरी में पूर्वोक्त देवता ब्रह्म का मानव ब्रह्मा के रूप में प्राकट्य हुआ है। वह काल तेरह हजार वर्ष पहले का था। जयपुर के सुप्रसिद्ध ज्योतिष यंत्रालय के अध्यक्ष स्व. श्री केदारनाथ जी ज्योतिर्विद ने इस ग्रंथ की भूमिका लिखी है। वे श्री ओझाजी के नियत शिष्यों में रहे थे। शिष्यगण सहित समीक्षा चक्रवर्ती जी के एक छायाचित्र (फोटो) में उनका भी चित्र है। उन्होंने गणित द्वारा मानव ब्रह्मा के प्राकट्य का कथित समय लिखा है- वह इस ग्रंथ के अनुसार ही लिखा है। गणित के अनुसार भूमध्य रेखा की सीध आकाश के किसी नक्षत्र की सीध पर १००० वर्ष तक रहती है। अभिजित् का नक्षत्र जिस काल में ध्रुव था उस समय भूमध्य रेखा पर हस्त नक्षत्र था और यह अश्विनी से तेरहवीं है-अतः मानवब्रह्मा का प्रादुर्भाव १३००० वर्ष पूर्व गणित क्रम से आता है। महाभारत युद्ध से पूर्व और ब्रह्मा की उत्पत्ति के अनन्तर का मध्यकाल ही देवयुग कहा जाता था। उस समय वहां पामीर में साध्य, आभास्वर, तुषित, और महाराजिक-इन चार विभागों में विभक्त मणिजा नाम की मानव जाति थी, इनमें साध्य वर्ग में ब्रह्मा का उदय हुआ था। ये साध्यगण देव अथवा भूदेव कहे जाते थे- यह बात 'साध्याः सन्ति देवाः' इस मंत्रभाग में कही गई है। ब्रह्मा से पूर्व ये साध्य आदि का चतुर्वर्ग केवल आधिभौतिक प्रवृत्ति को लक्ष्य बनाकर अहोरात्र कर्म में प्रवृत्त रहता था। ये सब सच्चे परिश्रमी तो थे किन्तु केवल स्वार्थपूर्ति में लगे रहते थे-धर्म के परोक्षभाव से ये सर्वथा अनभिज्ञ थे। यज्ञ प्रक्रिया तो इनमें भी चलती थी किन्तु उसका लक्ष्य-वर्षा, पुत्र, वनिता, लोकवैभव आदि प्राप्ति का ही रहता था, स्वर्गप्राप्ति का नहीं, अर्थात् "स्वर्ग कामो यजेत्" ये लक्ष्य नहीं बन पाया था। महामनीषी ब्रह्मा ने इस कमी का अनुभव किया तथा सारी मानव जाति का नवीन संस्कार कर दिया। पहले यह कहा जा चुका है कि अक्ष-अग्नि रूप देवब्रह्मा के ही अवतार मान ब्रह्मा थे। सबसे प्रथम इन्होंने लम्बे समाधिकाल के द्वारा स्वर्ग में चलने वाली पूर्वोक्त वैज्ञानिक ऋचा-साम-यजु और सोममय अथर्व की तात्विक प्रक्रिया को पूरी तरह समझ लिया। तदनुसार ही इन्होंने ऋग्वेद आदि की रचना करके लोकोन्नति साधक विज्ञान को उपवेद तथा शुद्ध ज्ञान साधक मंत्रो को वेद रूप से विभाजन किया, प्रधानता वेद को दी।

ब्रह्मा की इस उत्पत्ति का गोपथ ब्राह्मण १/१६ का इस ग्रंथ में संकेत है। "ब्रह्म ह ब्रह्माणं ससृजे। स खलु ब्रह्मासृष्टश्चिन्तामापेदे"। ब्रह्मपुराण ८/८७ का भी उल्लेख किया गया है कि-

न्यग्रोधः पुष्करद्वीपे ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम्।
तस्मिन्निवसति ब्रह्मा पूज्यमानः सुरासुरैः ॥

प्राणात्मक देवतत्वों के मानवरूपेण अवतार के विषय में श्रीविद्यावाचस्पति जी लिखते हैं-

"आकस्मिकोऽवतारोऽय दैवयौगात् प्रवर्तते।
गर्भे जन्मनि पश्चाद्वो दैवं तेजो विभूततनुम् ॥
जायते स कृतप्राणो यस्य देवस्य तेजसा।
तेजसोऽस्य प्रभावेण जायन्ते तस्य वृत्तयः ॥

गर्भ में अथवा जन्मकाल अथवा साधना के प्रभाव से आगे जीवनकाल में भी दिव्यतेज का अवतरण अकस्मात् हो जाना देवयोग से संभव हो जाता है।

"यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा" इस गीता के पद्यांश में भी अवतार क्रम का संकेत है। अवतारी मानवब्रह्मा महाप्रभावशाली थे, सारी प्रजा इनका अनुशासन मानती थी। प्राग् ज्योतिष-ब्रह्मपुर में कान्तिमती नाम की नगरी में (वराहपुराण में इसे मनोवती नाम अ. ७५ में दिया है) ब्रह्मा ने धर्मसंस्था का निर्माण किया था। पामीर के उत्तर-प्रदेश में स्वर्ग के समान ही इन्होंने भू-स्वर्ग का निर्माण किया था। वहां आठों लोकपालों की पृथक्-पृथक् सभा बनाई थी। इन्द्र-अग्नि-यम आदि की सभाओं के नामों का उल्लेख है, इनके शतशः विमानों का लेख है। ब्रह्मा ने ऋषिपद प्राप्त करने के लिये ब्रह्म परिषदें बनाई थीं-जिनमें परीक्षा करने वाले सिद्ध ऋषि पृथक् तथा ऋषित्व प्राप्ति के साधक पृथक् थे। इन परिषदों में वेदविज्ञान का अन्वेषण होता था। वास्तविक सत्य को पा जाने पर, उस सत्य को अन्तगर्भित रखते हुये शब्दावली में मंत्ररूप दे दिया जाता था, इस प्रकार ऋषि-मण्डल के द्वारा परिषदों में वेदमंत्रों का निर्माण श्री ब्रह्मा द्वारा हुआ था। वेदों का संकलन 'वैकुण्ठ' नाम के इन्द्र के शासनकाल में हुआ था। चन्द्र पद पर १४ इन्द्रों की गणना हुई है- उनमें "वैकुण्ठ" सप्तम इन्द्र थे। इनका काल ही परम् सुसभ्य देवयुग नाम से ख्यात हुआ था।'

प्रकृत ग्रंथ के लेखानुसार ब्रह्मा ने सर्वप्रथम सूर्य का पर्यालोचनात्मक परीक्षण स्वयं किया था-समाधिगत अंतःप्रज्ञा में उन्होंने जो अनुभव किया था, ग्रंथकार उसका दिग्दर्शन कराते हुए लिखते हैं-

'वैज्ञानिकाः प्राणमया हि देवाः सूर्याग्नितोऽन्तःपुरतश्चरन्तः।
मनुष्यदेवेष्वधिदेवभूतास्ते प्राणभृत्सु प्रथिता ध्रियन्ते ॥

प्राणेषु देव त्वमिदं निरूढं किन्त्वीदृशं प्राणवयातिरेकात् ।
यज्ञार्जितात्केऽपि नराः पुरात्वे देवाः प्रसिद्धा इति लोकवृत्तम् ॥

यद्यपि प्राणियों में सामन्यतया प्राणरूप में देवताओं का अधिवास रहता है, किन्तु वैज्ञानिक यज्ञ साधना के द्वारा प्राणविशेष का अतिसंचय कर लेने से मनुष्य भी देवत्व का लाभ करके भू-देव बन सकता है । और यह देवत्व लाभ सूर्य के आगे संचरण करने वाले देवताओं से यज्ञ संबंध जोड़ने पर पहले के युग में होता था । यह वैज्ञानिक यज्ञ-प्रक्रिया ब्रह्मा ने भू-देवों के आश्रित की थी और सौम्य प्राण प्रधान पितरों से समुत्पन्न मानव असुरों के अधीन स्वाभाविक और अनुकरणात्मक सारा शिल्प कर दिया था । इन असुरों की बड़ी उन्नति हुई थी, इनका शिल्प व्यापार सामुद्रिक यानों द्वारा द्वीपान्तरों में भी व्याप्त हुआ था, इनके शासन का बहुत विस्तार हुआ था ।

इन ब्रह्माजी के अथर्वा नाम के पुत्र भी पुष्कर में हुए थे, वे भी ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध थे । ऋक् संहिता का मंत्र अथर्वा ब्रह्मा से संबंधित ग्रंथ में प्रस्तुत है- उसमें अथर्वा ब्रह्मा की स्तुति की गई है ।

"त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत मूर्ध्नो विश्वस्य बाघतः ।
तमुत्वादध्यङ् ऋषिः पुत्र इंधे अथर्वणः वृत्रहर्ण पुरन्दरम् ॥

इस मंत्र में अथर्वा द्वारा पुष्कर में अरणि मन्थन द्वारा यज्ञाग्नि के प्राकट्य की प्राथमिकता बताई गई है और उसे ही यज्ञीय अग्नि माना गया है । अथर्वा ने यज्ञ के विभिन्न पथों का निर्माण किया था । वेदविज्ञानमयी ब्रह्मविद्या ब्रह्मा ने अपने पुत्र अथर्वा को सर्वप्रथम दी थी, उन्होंने आगे का प्रसार किया, मुण्डकोपनिषद् में इसका उल्लेख हुआ है-

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वातां पुरो वाचांगिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥

इस प्रकार इस ब्रह्मविद्या की प्रसार परंपरा चली थी ।

इस ग्रंथ में प्राग् मेरु (पामीर) प्रदेश की भौगोलिक संस्था का अक्षांश गणना सहित स्पष्टीकरण किया गया है । इस प्रागमेरुरूप भू-मध्य रेखा के समीप बिन्दु सरोवर में परमेष्ठि मंडल से अवतरित दिव्य गंगा का विशद वर्णन हुआ है । गंगावतरण की विज्ञान परम्परा दिखाई गई है कि व्योमाकाश दिव्यजल का समुद्र है-वरुण और सोम उसके अधिष्ठाता रूप देवता है, वहाँ से वह दिव्य जल सूर्य में मरीचि रूप में आता है, फिर

चन्द्रमा के लोक में श्रद्धा नाम से प्रतिष्ठा पाकर भूतल पर मेरु प्रदेश में गंगानाम से गिरता है।

भूतल पर गंगा-सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा- इन चार नामों से ख्यात हुई है। पामीर से चारों दिशाओं में प्रवाह होने से वह प्रदेश चतुर्गङ्ग नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सीता के तीन स्रोत पूर्व दिशा में चीन प्रदेश में ह्वांगह, यांगसी और मेकांग नाम से प्रवाहित होकर पूर्व समुद्र में प्रवेश करते हैं। भद्रा अथवा भद्रसोमा-ओबी, लीना और इनीसी नाम से उत्तर समुद्र में जाती है।पश्चिम की ओर बहने वाली चक्षु का नाम वेद में यक्षु है, पुराण में यक्षु का अपभ्रंश चक्षुनाम पठित हुआ है, आधुनिक पाश्चात्य जन चक्षु का अपभ्रंश "अक् शस्" नाम देते हैं। भुवनकोश के ज्ञाता चक्षु को जम्बू बताते है, जम्बू का अपभ्रंश-जैहूं-अमू प्रदक्षिणा करती हुई उत्तरकुरु की ओर प्रवाहित होती है। विस्तृत रूस का प्रदेश उत्तर कुरु कहा जाता था। दक्षिण दिशा में भारतवर्ष में आने वाला गंगा का प्रवाह अलकनन्दा नाम से ख्यात है, वसोधरा, सरस्वती आदि इसकी सात सहायक नदी हैं। इनके अतिरिक्त भागीरथी नाम की गंगा भिन्न है, सूर्य से ऊपर के ब्रह्मणस्पति के सोम किरणों की द्रवीभूत भागीरथी है। बृहस्पति का अन्य रूप ब्रह्मणस्पति है। ज्ञान के अधिष्ठाता बृहस्पति हैं और विद्युत रूप सोम के ब्रह्मणस्पति हैं। ब्रह्मणस्पति का विद्युत रूप यह सोम विश्व में व्याप्त होकर गात्रों का संरक्षण करते हुये प्रभुत्व पाता है। पवित्र नाम के ऋषि ने मंत्र में ब्रह्मणस्पति का परिचय दिया है। (ऋक्संहिता म. ९ अ. ४३ कं.) का मंत्र हैं-

"पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्रामि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्नतदामो अश्नुते श्रृतासद्दहन्तस्तत् समाशत॥

मंत्र में "पवित्रं" पद के द्वारा ऋषि के नामनिर्देश के साथ-साथ ब्रह्मणरूप ति सोम की विश्व के गात्रों की पवित्रीकरणता भी बताई गई है। इस सोम का द्रवण ही भागीरथी है—

नर रूप ब्रह्मा का निरूपण परमपूज्य श्री ओझाजी ने इन शब्दों में किया है—

दिव्यब्रह्मापृथिव्यक्षो ध्रुवपद्मे यथास्थितः।
नरब्रह्मायथामेरुपद्मे देवान् शशास ह॥

यहाँ "देवान्" पद के द्वारा भू देवों का ही निर्देश है। इन भू देव-ऋषियों ने वेद मंत्रों का प्रमयन नर ब्रह्मा की अध्यक्षता में किया था-जो आज उपलब्ध हो रहा है। विद्वद्गण यदि स्वाध्यायाभिमुख होकर ऋषिकल्प श्री ओझाजी की सरणि से इस वेदविज्ञान रूप सागर में प्रवेश करेंगे तो निश्चय ही अनेक दिव्य रत्नों को पा जायेंगे सन्देह नहीं है। आधुनिक

संस्कृत के विद्वानों की इस ओर उपेक्षावृत्ति देखते हुये श्री समीक्षाचक्रवर्ती जी ने तो झुंझलाकर यह भी लिख दिया है कि—

ये गृहकर्मव्यग्रा विश्व-परिस्थिति-परीक्षणे विमुखाः ।
वैज्ञानिकान ये स्युस्तेहि वृथा जीवना मनुष्याः स्युः ॥

जगद्गुरुवैभव नाम के इस ग्रंथ के पूर्ण पर्यालोचन से ही विद्वद्गण इसका पूरा मर्म पा सकेंगे । इस संक्षिप्त भी श्री कर्पूरचन्द जी "कुलिश" की प्रेरणा पाकर हो गया है, और भी अनेक ग्रंथों का भाषानुवाद हो चुका है और कराया जा रहा है । श्री कुलिशजी से प्रेरित अनेक संस्कृत के विद्वान् इस दिशा में प्रवृत्त हो रहे है ।

यह एकमात्र दैवीप्रेरणा ही मानी जानी चाहिये कि राजस्थान पत्रिका के मुख्य संचालक श्री कुलिशजी तन-मन-धन से श्री ओझाजी के इस वेदविज्ञान के प्रचारात्मक प्रसार में संलग्न हो गए है । प्रतीत तो ऐसा हो रहा है कि मानो उन्होंने अपने भविष्य जीवन का संपूर्ण लक्ष्य ही इसे बना लिया है । किसी प्रकार के द्रव्यलाभ की आशा न रखते हुये जिन्होंने लाखों रुपये इस दिशा में व्यय कर दिये और कर रहे है । राजस्थान पत्रिका में वेदविज्ञान के लेख पाटकों के समक्ष समयानुसार प्रस्तुत किए जा रहे है । जगह जगह सम्मेलनों में विज्ञान-गोष्ठियां हो रही है । ये सब भविष्य की उज्जवल आशा के द्योतक हैं । भगवान से यह प्रार्थना करते हुये इस लेख को विश्राम दिया जाता है कि श्रीकुलिश जी को वे दीर्घ आयु प्रदान करें और रे श्री विद्याचस्पतिजी के इस महान् सत्य परिश्रम को सार्थक बनाते हुए संसार के समक्ष उपस्थित कर देने में पूर्णरूप से निमित्त बन सकें ।

परमगुरुब्रह्मलीन श्री ओझाजी के चरणों में सादर समर्पण ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

पथ्यास्वस्ति में अयोगवाह-विचार

डॉ. मंगलाराम
सहायक आचार्य
संस्कृत-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि शब्दब्रह्मज्ञान के बिना परब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता-

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इसी न्याय को मनोगत रखते हुए समीक्षाचक्रवर्ती पण्डित ओझाजी ने शब्दब्रह्म के निरूपणार्थ स्वकृति "पथ्यास्वस्ति" में वैदिक वर्णमातृकों का विवेचन किया है। आचार्य पतंजलि ने पाणिनिसूत्रों पर स्वमहती व्याख्या में इस वर्णसमानाय को नित्य बतलाया है-"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे"। पण्डित ओझा का भी यही विचार है कि वर्णों की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु इनकी स्थान प्रयत्नसंयोग से अभिव्यक्ति मात्र होती हैं।

पण्डित मधुसूदन ने वर्णसमाम्नायविवेच्यप्रणाली में यौगिक वर्णों के स्थानप्रयत्न के विवेचनान्तर अयोगवाह वर्णों की ओर संकेत किया है। तत्त्वबोधिनीकार ने अयोगवाह की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है "अविद्यमानो योगः प्रत्याहारेषु सम्बन्धो येषां ते अयोगाः, अनुपदिष्टत्वात् उपदिष्टैरगृहीत्वाच्च प्रत्याहारसम्बन्धशून्या इत्यर्थः"। अर्थात् ये वर्ण वर्णसामान्य में व्यवहत न हकोर इसका व्यवहार लोक में एवं शास्त्राध्ययन में होता है। यही बात आचार्य पतंजलि को स्वीकार्य है "यदयुक्ता वहन्ति अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते"। पाणिनीय शिक्षा में इन अयोगवाह वर्णों को आश्रयस्थानभागी कहा है-"अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः।"

अयोगवाह वर्णों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। पण्डित मधुसूदन ओझा ने स्वरभक्ति, रंग, अनुस्वार, विसर्ग, औरस्य, उष्मा, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा यम वर्णों को अयोगवाहों के अन्तर्गत गिना है-

"ऋ लृ ह इति स्वरभक्तिः । आँ ईँ ऊँ इति रंगः।

अं अः इति अनुस्वारविसर्गौ। ह्र ह् इति औरस्योष्मा। — क प इति जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ। कुं खुं गुं घुं इति यमाः। इत्थमयोगवाहा एकादश।"

भाष्यकार पतंजलि ने विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार अनुनासिक और यम वर्णों को अयोगवाहवर्गों के रूप में स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि पण्डित ओझा ने भाष्यकार की अपेक्षा स्वरभक्ति, रंग, औरस्य, उष्मा इन वणों को भी अयोगवाह माना है, साथ ही भाष्यकार को जो "अनुनासिक" वर्ण भी अयोगवाह के रूप में स्वीकार्य हैं, पण्डित मधुसूदन ने इसे अयोगवाह नहीं माना है-

इमे योगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च। तेषां कार्यार्थमुपदेशः कर्तव्यः। के पुनरयोगवाहाः। विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्यमानीयानुस्वारनासिक्ययमाः। कथं पुनरयोगवाहाः। यदयुक्ता वहन्ति अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते।

—महाभाष्य, द्वितीय आह्निक (ह्यवरट् १.१.५)

अब प्रश्न होता है कि इन अयोगवाहों का उपदेश कहाँ करना चाहिये ? तो इसके समाधान में पण्डित ओझा ने तो व्यावहारिक रीति से काम लिया है, परन्तु महाभाष्यकार पतंजलि ने स्पष्टतया इनके उपदेश के विषय में तीन उपाय सुझाए हैं। प्रथम है -अयोगवाहों का अट् प्रत्याहार में अन्तर्भाव करना चाहिये ताकि उरः केण, उर केण, उरः पेण, उर पेण यहाँ अट्कृत व्यवधान होने पर भी णत्व सिद्ध हो जाय। द्वितीय उपाय है कि शर् प्रत्याहार में अयोगवाहों का अन्तर्भाव करना चाहिये, ताकि जश्भाव और षत्व हो जाय। उब्ज् धातु उपध्मानीयोपध है। शर् में पाठ होने से "झलां जश् झशि" (८.४.५३) इस सूत्र से उपध्मानीय को जश् होने पर उब्जिता, उब्जितुम् ऐसा रूप सिद्ध होगा। परन्तु यहाँ शंका यह है कि यदि उब्ज उपध्मानीयोपद्य पढ़ा है, ऐसा स्वीकार करते हो तो "अजादेर्दितीयस्य" (६.१.२) सूत्र से उपध्यमानीय सहित द्वितीय रकाच् को द्वित्व प्राप्त होता है। इससे "उब्जिजिषति" का इष्ट रूप सिद्ध नहीं होगा। रकारोपध "उद्ज्" मानने पर तो "न न्द्राः संयोगादयः" (६.१.३) इस सूत्र से रकार के द्विर्वचन का निषेध हो जाने से द्वितीय अकाच् "जिस्" को द्वित्व होगा। यदि रकारोपध (उद्ज्) पाठ है तो उब्जिता, उब्जितुम् इन रूपों की सिद्धि कैसे होगी ? तो इसका समाधान यह है कि "असिद्धे भ उद्जेः" अर्थात् असिद्ध काण्ड त्रिपादी में "स्तोः श्चुना श्चुः" (८.४.४०) यह पढ़ा है, वहां इसके आगे "भ उद्जेः" ऐसा पढ़ देंगे, अर्थ होगा- श्चु के योग में उद्ज् के सकार-तवर्ग को भ हो। प्रश्न होता है कि तो क्या ऐसा अपूर्व वचन करना चाहिये ? उत्तर है-नहीं, क्योंकि निपातन से ही इष्टसिद्धि हो जायेगी और वह निपातन है "भुजुन्युब्जौ पाण्युपतापयोः (७.३.६१) यहाँ "न्युब्ज" में द् के स्थान में भ् निपातित है और जश्त्व से उसे ब् हुआ है। लेकिन यदि

निपातन माना जाय तो "बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति" इस वचनानुसार "अभ्युद्रः" "समुद्रः" यहां भी दकार का श्रवण न होकर बकार का ही श्रवण होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि यह विशिष्टविषयक निपातन है, जहाँ "चजोः कु घिण्ण्यतोः" (७.३.५२) सूत्र से कुत्व प्राप्त हो और कुत्वाभाव निपातन किया हो वही इस भत्व का विषय है अथवा ये दोनों रूप "उब्ज्" धातु के नहीं हैं, ये तो गम् धातु से दो उपसर्ग अभि उद् और सग् उद् रहते ड प्रत्यय से निष्पन्न होते हैं। अभ्युद्र- अभ्युद्गत। समुद्र -समुद्गत। शर् पाठ में षत्व भी प्रयोजन हैं। जैसे सर्पिःषु, धनुःषु यहां शर् कृत व्यवधान होने पर षत्व सिद्ध होता है। इस पाठ का यह भी लाभ है कि "नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि" (८.३.५८) इस सूत्र में विसर्जनीय ग्रहण नहीं करना पड़ता- यह लाघव है। तो शंका यह भी है कि फिर इस सूत्र में नुम् का ग्रहण भी छोड़ा जा सकता है। यदि कहो कि सर्पींषि, धनूंषि में षत्व कैसे सिद्ध होगा, तो इसका उत्तर यह है कि नुम् को अनुस्वार करने पर अनुस्वार अयोगवाह के शर् अन्तःपाती होने से "शर् व्यवाये" से षत्व हो जाएगा। तो यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि नुम् का तो ग्रहण करना ही पड़ेगा। सूत्र में नुम् ग्रहण अनुस्वार का विशेषण हैं। इससे "पुंसु" में षत्व नहीं होता क्योंकि यहां पुम्स् के म् को अनुस्वार हुआ है। तृतीय उपाय यह है कि किसी प्रत्याहार विशेष में अयोगवाहों को न पढ़कर अल् आदि सामान्य प्रत्याहारों में पढ़ना चाहिये। अल् आदि में अयोगवाह पाठ के प्रयोजन हैं-संयोगसंज्ञा, अलोन्त्यविधि, द्विर्वचन तथा स्थानिवद्भावप्रतिषेधसिद्धि। सामान्य रूप से अल् अन्तर्गत होने से संयोगसंज्ञारूप प्रयोजन सिद्ध होता है। उ इ ब्जक, यहां "हलोरुनन्तराः संयोगः" (१.१.७) इस सूत्र से संयोगसंज्ञा, "संयोगे गुरु" (१.४.११) सूत्र से गुरु संज्ञा और उस गुरु को "गुरोरनृतः" (८.२.८६) इत्यादि सूत्र से प्लुत सिद्ध होता है। उपधासंज्ञा का प्रयोजन है- दुष्कृतम्, निष्कृतम्, दुष्पीतम्, निष्पीतम् यहाँ दुष्कृतम् इत्यादि में विसर्जनींय को अल् मानकर उकार इकार की "अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा" (१.१.६५) तक शास्त्र से उपधा संज्ञा सिद्ध होती है। तब "इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य" (८.३.४१) इस सूत्र से विसर्जनीय को षत्व हो जाता हैं। यह कोई प्रयोजन नहीं। "इदुदुपध" यह विसर्जनीय का विशेषपा नहीं, तो किसका ? यह सकार का विशेषण है। अथवा प्रकृत सूत्र में उपधाग्रहण न करेंगे, उकार इकार को परिविसर्जनीय का विशेषण बनाएगे। अर्थ होगा - इ, उ से अव्यवहित उत्तर जो विसर्ग उसे षत्व होता हैं।

अलोन्त्यविधि भी प्रयोजन हैं- जैसे "वृक्षः तरति, प्लक्षः तरति में विसर्जनीयस्य सः" (८.३.३४) इस सूत्र से विसर्जनीयांत को स् प्राप्त होने पर "षष्ठी निर्दिष्ट कार्य अन्त्य अल् के स्थान में होता है"इस वचन से अन्त्य अल् विसर्ग के स्थान में होता हैं। यह भी प्रयोजन नहीं है। सकार आदेश है और "आदेश सूत्र में साक्षात् निर्दिष्ट के स्थान में होते हैं" इस परिभाषानुसार स् विसर्ग के स्थान पर होगा। द्विर्वचन भी प्रयोजन हैं- उर, कः यहां

विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय के अल् प्रत्याहार में पाठ करने से यर् प्रत्याहारन्तर्गत होना भी अपने आप सिद्ध हो जाता है, तब "अनचि च" सूत्र से अच् से परे यर् को द्वित्व हो जाता हैं। स्थानिवद्भाव भी प्रयोजन है-जैसे उरः केण, उरः पेण अड्व्यवाय होने पर भी णत्व होता है, वैसे ही स्थानिवद्भाव से व्यूढोरस्केन महोरस्केन यहां भी प्राप्त होता है। अब विसर्जनीय के अल् होने से स्थानी अल् के आश्रित यदि कोई विधि कर्तव्य हो तो "अनल्विधौ" वचन से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है जिससे स् का व्यवधान होने पर णत्व रुक जाता हैं।

(१) **स्वरभक्तिः-** ऋ और लृ वर्णों में क्रमशः रेफ और लकार के चारों ओर स्वंरभक्ति का स्पष्ट प्रमाण याज्ञवल्क्य शिक्षा में मिलता है-

ऋलोर्मध्ये भवत्यर्धमात्रा रेफलकारयोः।
तस्मादस्पृष्टता न स्याद् ऋलृकारनिरूपणे॥

अर्थात् ऋ वर्ण में आधी मात्रा रेफ की है और लृ वर्ण में आधी मात्रा लकार की है, साथ ही साथ ये दोनों वर्ण ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले भी हैं। इसी कारण ऋ और लृ को अकारादि वर्णवत् अस्पृष्ट नहीं माना जा सकता।

विभिन्न सम्प्रदाय ऋकार और लृकार वर्णों में विद्यमान स्वरभक्ति का उच्चारण अपनी-अपनी तरह से भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। इनमें प्रथम सम्प्रदाय स्वरभक्ति का उच्चारण अकारवत् करते हैं, यथा ऋषि का रषि। द्वितीय प्राच्य-सम्प्रदाय स्वरभक्ति का उच्चारण इकारवत् करते हैं, यथा- ऋषि का रुषि। तृतीय उदीच्य-सम्प्रदाय उकारवत् उच्चारण करते हैं, यथा-ऋषि का रूषि और एक अन्य माध्यन्दिनशाखासम्प्रदाय उस स्वरभक्ति का उच्चारण एकारवत् करते हैं यथा -ऋषि का रेषि। इसलिए "ऋकारस्य तु संयुक्तासंयुक्तस्याविशेषेण सर्वत्रैवम्" इस प्रतिज्ञासूत्र में तथा ऋकारो हल् वियुग्युग् च सैकारश्छन्दसि स्मतृः" इस केशवी वचन में ऋकार की स्वरभक्ति का एकारवत् उच्चारण बतलाया गया हैं। यथा-कृष्ण का क्रेष्ण, ऋत्विगः का रेत्वितग, क्लृप्त का क्लेप्तः। इस प्रकार (प्रतिज्ञासूत्र एवं केशवीवचन विधि को छोड़कर) उपरिकथित रीत्या सम्प्रदाय भेदवश अ इ उ ए ये चार अर्धमात्रिक स्वरभक्तियाँ सिद्ध होती हैं। इन स्वरभक्तियों में "भेद" मात्र उच्चारण का ही है। लिपि तो सभी सम्प्रदायों में एक ही है, क्योंकि लिपिभेद उच्चारणवत् नहीं बन सकता। अकारादि उच्चारण के समान लिपि में भेद करने पर ऋ के स्थान में र, रि, रू या रे लिपियाँ होगी और इन लिपियों में अकारादि स्वर एकमात्रिक है, जबकि ऋकार और लृकार में वर्तमान स्वरभक्ति, अर्धमात्रिक है, कारण कि स्वरभक्ति शब्द का अर्थ ही स्वर का भाग है, न कि पूर्ण स्वर। अतः वह अर्धमात्रिक ही होती है, न कि अकारादि स्वरों

की तरह एकमात्रिक। अर्धमात्रिक का उच्चारण तो बन सकता है परन्तु लिपि में अर्धमात्रिक अकारादि की पृथक् लिपि नहीं है। इसलिए लिपि में लिखने की विधि ऋ लृ ही है।

लृकार के उच्चारण में बहुधा रेफ का उच्चारण लकार के पश्चात् करते हैं। यथा- लृ का ल्रि। लेकिन यह उच्चारण असंगत हैं क्योंकि लृ में केवल लकार और स्वरभक्ति ही है, न कि रेफ।

ई वर्ण भी स्वरभक्ति में गिना जाता हैं। ई में रेफ लकार का बोधक है और हकार उष्मवर्णो का ज्ञापक है। इससे यह सिद्ध होता हैं कि उष्मवर्णों के परे होने पर र, ल और उष्मवर्णों के बीच में स्वरवत् एक ध्वनि पैदा होती है जिसे स्वरभक्ति कहते हैं। याज्ञवल्क्यशिक्षा में भी कहा गया है-

रलाभ्यां पर उष्माणो यत्र तु स्युः स्वरोदयाः।
स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते ॥
स्वरभक्तिं प्रयुंजानस्त्रीन् दोषान्परिवर्जयेत्।
इकारं चाप्युकारं च ग्रस्तदोषं तथैव च ॥

अर्थात् र, ल, से परे यदि उष्मवर्ण हों एवं उनसे परे कोई च हो तो वहां दोनों के बीच में स्वरभक्ति होती है, जो अर्ध अकारवत् ध्वनि पैदा करती है। इस स्वरभक्ति का उच्चारण पूर्व वर्ण रेफ के संग होता है। स्वरभक्ति का प्रयोगकर्ता इकार, उकार, स्थानकरणनिष्पीडनरूपसंवृत्तता त्रय दोषशून्य होना चाहिये। भाव यह है कि स्वरभक्ति का उच्चारण न अर्ध इकार की तरह है, न अर्थ उकार की तरह और न स्थान विकरण का निष्पीड़न करते हुए करे। तब प्रश्न होता है कि तो फिर स्वरभक्ति का उच्चारण कैसे किया जाय ? तो इसके उत्तर में चार मत हैं। प्रथम मतानुसार उष्म वर्ण के परे होने पर स्वरभक्ति का उच्चारण अकार अथवा एकार की तरह करना चाहिये। इसलिए कात्यायनीय प्रतिज्ञासूत्र में स्वरभक्ति का उच्चारण एकारवत् बतलाया गया हैं। "अथापरान्तस्थस्यायुवतान्यहलः संयुक्तस्योष्म ऋकारैरेकारसहितोच्चारणमेवं तृतीयान्तस्थस्या" इसी का समर्थन नवांकसूत्र, केशवीचन और माध्यन्दिनीय वचन में भी मिलता है। "अहल्शल्यूर्ध्वरिफस्य सैकारः प्राक् च", "विहल्शात्यूर्ध्वरिफो, यः सैकारः प्राक् समुच्चरेत्", रेफोरेकारमाप्नोति शषसहेषु परेषु च"। द्वितीय मतानुसार "रलावृलृवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वद्ध" इस प्रातिशाख्य में कहा हैं कि रेफ और लकार से परे उष्मवर्णों के रहते दोनों के बीच अर्धमात्रिक ऋकार और लृकार रूप स्वरभक्ति का व्यवधान हैं। रेफ और उष्मवणों के बीच उस स्वरभक्ति का उच्चारण रेफ और लकार की तरह होता हैं अर्थात् ऐसी जगह द्विरुक्त रेफ और द्विरूक्त लकारवत् उच्चारण होता है।

यथा-अर्शः का अरर्शः, वल्शा का वल्लशा इत्यादि । इस प्रकार इन दोनों मतों से यह सिद्ध होता हैं कि रेफ, लकार और उष्मवर्णों के मध्य स्वरभक्ति का उच्चारण अकार या एकार और द्विरुक्त रेफ अथवा द्विरुक्त लकारवत् होता है । तृतीय अथर्ववेदीय मतानुसार इसका उच्चारण इकारवत् होता है और प्रमाणरूपेण माण्डूकी शिक्षा का वचन है "सभ्यगेनां यदा पश्येत् शतबलिशेति निदर्शनम् ।" चतुर्थ ऋग्वेदीयमतानुसार इसका उच्चारण उकारवत् होता है- यथा धूर्षदम् का धूरुषदम् । ये सभी अकार, एकार, द्विरुक्त रेफ, द्विरूक्त लकार, इकार एवं उकार इत्यादि समस्त उच्चारण रेफ लकार एरं उष्मवर्णों के बीच उष्मवणों से परे स्वर होने पर होता है और जहाँ उष्मवर्णों के परे व्यंजन होता है, वहां इन स्वरभक्तियों का उच्चारण नही होता है । यथा- "वर्ष्म" शब्द में उष्म से परे म् व्यंजन के होने से रेफ और षकार के बीच स्वरभक्ति का उच्चारण नहीं होता, इसलिए तो "अयुक्तान्यहलः" इस नवांकसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा है कि शकारादि उष्मवर्ण, हल्वर्णों से युक्त नहीं होना चाहिये ।

(२) रंग- देवा एह महा असि" इत्यादि में विशुद्ध आकार से परे नासिका से उच्चारित होने वाले वर्ण को रंग की संज्ञा दी जाती है । तालुस्थानीय स्पृष्टप्रयत्नीय मृदु अनुनासिक वर्ण नकार के तालु,स्पृष्टत्व व मृदु गुण का नाश होने से अर्धमात्रिक उस नकार के स्थान में अर्धमात्र अनुनासिकरूप अकार शेष रह जाता है । व्यंजन नकार का पूर्व अच् के द्वारा अनुरंजन होने से नकार की स्वरवत् प्रतीति होती है । इस प्रकार यह नकार पूर्वस्वर में ओत-प्रोत सा प्रतीत हुआ रंग कहलाता है । इस रंग को अनुस्वार नहीं कह सकते क्योंकि अनुस्वारास्थल में अनुस्वार और स्वर का अव्यवधान होने से पूर्व स्वर अनुस्वार से ग्रस्त प्रतीत होता है । यथा-रामं, हरिम् इत्यादि में अकार और इकार अनुस्वार से ग्रस्त प्रतीत हो रहे हैं, और रंगस्थल में रंग की दीर्घ स्वर से पृथक् उच्चारण होने के कारण स्वर उससे ग्रस्त प्रतीत नहीं होता। अतः यह रंग वर्ण, अनुस्वार से भिन्न है। इसलिए याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा है-

रंगवर्ण प्रयुंजीरन् नो ग्रसेत पूर्वमक्षरम् ।
दीर्घं स्वरं प्रयुंजीयात् पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥

अर्थात् रंगवर्ण का प्रयोग करते समय पूर्व स्वर को रंग से ग्रस्त न करें अर्थात् इस प्रकार शीघ्रता से रंग वर्ण का उच्चारण न करें जिससे रंगवर्ण के कारण पूर्व स्वर में ओतप्रोतता आ जाये । उसके पहले दीर्घस्वर का प्रयोग करें, पश्चात् नासिक्य रंगवर्ण का उच्चारण करें ।

(३) **अनुस्वार**-स्वर के पश्चात् नासिका से उच्चार्यमाण वर्ण अनुस्वार कहलाता हैं । यथा-अं । यहां नकारवत् अनुस्वार की प्रतीति होती है । परन्तु नकार प्रयत्न की दृष्टि से मृदुस्पष्ट वर्ण है, जबकि ईषत्स्पृष्ट में अनुस्वार की गणना की जाती है, इसलिए अनुस्वार की नकार से भिन्नता लक्षित होती है ।

उष्मवर्णों श्, ष्, स्, ह् के परे होने पर अनुस्वार का उच्चारण तीन तरह से होता है । प्रथम उच्चारण प्रकार है "नकारध्वनित्" जिसे बह्वृच (ऋग्वेद वाले) करते हैं । पाणिनीय शिक्षा में भी कहा है—

अलाबुवीणानिर्घोषो दन्तमूल्यः स्वरानुगः ।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं होः शषसेषु च ॥

अर्थात् श, ष, स, ह- के परे होने पर तूम्बीवीणा के शब्दवत् दन्तमूलमात्र से उच्चारित होने वाले स्वरपश्चाद् भावी अनुस्वार का उच्चारण करना चाहिये । जैसे- वंन्शः, कंन्सः, इत्यादि में । प्रस्तुत उदाहरण में जो अनुस्वार के पश्चात् नकार व्यंजन दिखाई दे रहा है उसका अर्थ यह है कि अनुस्वार दन्त्य-अनुनासिक है, इसलिए इसकी अभिव्यक्ति में नकार ही लगता है, लेकिन यह नकार नहीं है । अन्य वर्णों के परे होने पर जैसे अनुस्वार का अनुस्वार शब्द से व्यवहार होता है वैसे ही उष्म वर्णों (श् ष्, स्, ह्) के परे होने पर अनुस्वार-व्यवहार ही होगा । अकार या गुंकार आदि अन्य नाम इस अनुस्वार का नहीं होगा । इस अनुस्वार का द्वितीय उच्चारण प्रकार है"मकारध्वनिवत्" जिसे छान्दोग्यशाखा वाले (सामवेदीय) स्वीकार करते हैं । नारदीय शिक्षा भी यही कहती है-

आपद्यते मकारं रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारः ।
धवलेषु परसवर्णं स्पर्शेषु चोत्तमात्तिम् ॥

अर्थात् रेफ और श, ष, स, ह के परे होने पर अनुस्वार को मकार कहते हैं । य, र, ल, व के परे होने पर परसवर्ण, और स्वर्ण वर्णों के परे होने पर उसी स्पर्श का पंचम वर्ण होता है । या "अनुस्वारं रोष्मसु मकारः" इस कात्यायन प्रातिशाख्य की एकवाक्यता नारदीय शिक्षा के संग स्वीकार करने पर यहाँ नारदीय शिक्षा के वचन में भी अनुस्वार को मकार हो जाता है इत्यर्थक "आपद्यते मकारो रेफोष्मसु प्रत्येयष्वनुस्वारम्" यह पाठ मानना होगा । या फिर नारदीय शिक्षा के उत्तर पाठ के अनुसार मकार के स्थान में अनुस्वार का विधान मानने पर भी उसका अर्थ यही होगा कि छन्दोगमत के अनुरोध से रेफ उष्मादि वर्णों के परे रहते अनुस्वार मकारसदृश ध्वनि उत्पन्न करता है । इस कारण वंम्शः, कंम्सः ऐसा उच्चारण होता हैं । तात्पर्य यह है कि यहाँ अनुस्वार की ध्वनि मकारवत् है, न कि अनुस्वार को मकार ही

हो जाता है, यह तात्पर्य है। इस अनुस्वार का उष्मवर्ण परे रहते, तृतीय उच्चारण प्रकार है "ङकारसदृश ध्वनि" जिसे अध्वर्यु लोग स्वीकार करते हैं। जैसे-तंङ्, रामंङ्, सिङ्ह, कंङ्स। कण्ठ्य अनुनासिक होने से अनुस्वार के उच्चारण में ङकार का केवल आभास ही होता है, न कि यह अनुस्वार ङकार ही हो जाता है।

पण्डित ओझाजी ने एक रहस्यमूलक तथ्य यह भी प्रस्तुत किया हैं कि ङकारसदृश ध्वनि की व्यवहारार्थ "गुं" संज्ञा मानी गई है। लेकिन आधुनिक वेद के उच्चारणकर्ता गुं शब्द का ङकारसदृश ध्वनि के लिये उच्चारण करते हैं, जो उनकी अज्ञानता और अल्पज्ञता को परिलक्षित करता है। कारण यह है कि जिस प्रकार अनुस्वार केवल संज्ञा शब्द तथैव कुं, खुं, गुंघुं" ये भी यमों की केवल संज्ञा है, स्वरूप का द्योतक नहीं। अष्टाध्यायीकार पाणिनि ने भी अपने "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" सूत्र में यह उद्घाटित कर दिया है कि जहाँ शब्द संज्ञा होती है वहाँ शब्द अपने स्वरूप का ज्ञापक नहीं होता। यमप्रकरण में संज्ञाशब्द स्वरूप का बोधक होता है, अनुस्वार प्रकरण में नहीं- ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये। हेतु यह है कि जो अर्थ एक जगह स्वीकार किया जाता है, वह अन्यत्र भी स्वीकार्य है। इसलिए जब एक शास्त्र में यह एक निश्चित हो गया कि शब्दसंज्ञा अपने स्वरूप का ज्ञापक नहीं तो उस शास्त्र में सर्वत्र यही मान्य सिद्धान्त होगा और यदि यम स्थान में गुं शब्द का उच्चारण किया जायेगा तो गुं शब्द का द्विमात्रिक वर्ण के होने से नियताक्षर छन्द का व्याघात होने से कर्म का लोप होना शुरू हो जाएगा।

मित्रः संसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह।
रुद्रः संसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समेधिरे॥

दृंहस्व देवि पृथिवी स्वस्तये।
अंहसः, दंष्ट्रभ्याम्, मा हिंसीः॥

यहाँ गुं शब्द का उच्चारणकर्ताओं को अभीष्ट छन्द का भंगरूप दोष तथा अर्थज्ञान में क्लेशरूप दोष का पात्र बनना पड़ेगा। प्रकृति सिद्ध उच्चारण के तीन प्रकारों में एक प्रकार में व्यवस्थापक शास्त्रों का तात्पर्य मानने से वे शास्त्र चरितार्थ हो जाते हैं। इसलिए उन शास्त्रों का गुं शब्द के उच्चारण में तात्पर्य स्वीकार करना अनुचित है और गुं शब्द के उच्चारण में तात्पर्य माननां अशास्त्रानुकारी भी है।

द्वितीय रहस्यमूलक तथ्य यह है कि "अनुस्वारस्य गुमित्यादेशः शषसहरेफेषु" इस प्रतिज्ञासूत्र, में जो कि "इति" शब्द का उल्लेख है, वह गुं शब्द की स्वरूपपरकता को द्योतित करता है, संज्ञापरकता को नहीं-यह जो आधुनिक वेदाध्येताओं का कथन हैं, वह भी असंगत है। कारण कि प्रतिज्ञासूत्र में "इति" का उल्लेख "कुं खुं गुं घुं यमाः" में कथित गुंकार का

स्मारक है, इसलिए उसका अभिप्राय स्वरूपपरकता से नहीं है अर्थात् जिस प्रकार गुं आदि शब्द यमसदृश उच्चारण का बोधक है।

संक्षेप में, वंशः, कंसः तं, रामम् इत्यादि में जो अनुस्वार का नकार, मकार और ङकारवत् उच्चारण किया गया वह किसी वेद में नकाररूप से, किसी वेद में मकाररूप से और किसी वेद में ङकाररूप से होता है और यह व्यवस्था वेदभेदविहित है।

(४) विसर्गः- विसर्ग हैं "अः"। इस स्थल में अकार तो केवल स्वर का ज्ञान करवाता है। स्वरानन्तर हकारवत् प्रतीत होने वाली हकारभिन्न विक्षेपक नाद "विसर्ग" संज्ञा धारण करता है। जैसे-रामः, अग्निः इत्यादि में। यह विसर्ग हकार नहीं है, तथापि विसर्ग में ध्वनि हकार के जैसी ही है और यह हकार की तरह प्रतीत भी होती हैं। कारण कि हकार अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाला है एवं स्वरभक्तिसहित होता है और विसर्ग ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाला है तथा स्वरभक्ति रहित है। इसलिए हकार विसर्ग से अलग है। कहा भी है-

यथा बालस्य सर्पस्य उच्छवासो लघुचेतसः।
एवमुष्मा प्रयोक्तव्यो हकारं परिवर्जयेत्॥

अर्थात् जैसे लघुचित्त वाले छोटे सर्प का उच्छ्वास होता है, उसी प्रकार की ध्वनि उष्मा में करनी चाहिये और हकार परित्याज्य है। यहाँ हकारपरित्याग का अर्थ स्वरभक्तिपरित्याग से है। यह विसर्ग हकार से अलग है तो भी उष्म शब्द से यह व्यवहार में आता है। इसलिए पाणिनि ने कहा है-

ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः॥

अर्थात् ओभाव, विवृत्ति, श, ष, स, रेफ, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय- ये आठ गतियाँ उष्मा की होती है।

(५) औरस्य उष्मा- औरस्य उष्मा बोधक वर्ण है, ह्न, ह्व। इस स्थल में मकार और णकार का ज्ञापक है "नकार" तथा य, व, ल, का ज्ञापक है "रेफ" अतः अभियुक्तों ने कहा है कि -

"हकारपंचमैर्युक्तमन्तः स्थाभिश्च संयुक्तम्"

अर्थात् वर्गों के पंचम वर्गों से तथा अन्तःस्थ य, र, ल, व, से युक्त हकार औरस्य कहलाता है तथा इनसे असंयुक्त हकार कण्ठ्य कहलाता है। पूर्वाह्णः, वह्निः, ब्रह्मा, मह्यम्, ह्रदः, ह्लादः, विह्वलः, इत्यादि औरस्य हकार के उदाहरण हैं।

(६) **जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय-** जिह्वामूलीय वर्ण हैं- क ख। उपध्मानीय वर्ण हैं-प फ। यहां जो क ख से पूर्व जो हकार सदृश ध्वनि है उसे जिह्वामूलीय कहते हैं एवं प फ से पूर्व जो हकारसदृश ध्वनि है, उसे उपध्मानीय कहते हैं। इन जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के उदाहरण हैं- कविः, खलः पटुः फली इत्यादि।

(७) **यमः-** नासिक्यभिन्न स्पर्श से नासिक्यस्पर्श के परे होने पर, मध्य में, पूर्वसदृश वर्ण, जो कि नासिक्य एवं अनासिक्य में भेद करता हुआ उच्चारित होता है, उसे यम कहते हैं-

अनासिक्यस्पर्शादुत्तरतो नासिक्यस्पर्शसति मध्ये पूर्वसदृशो वर्णोविच्छेदं जनयन्नुच्चार्यमाणो यम उच्यते।

(पथ्यास्वस्ति)

वे स्पर्शवर्ण स्थान एवं करण के स्पर्श से पैदा होते हैं-ऐसा स्वभाव है। लेकिन स्पर्शवर्णों के पश्चात् जब यम वर्ण आता है तो यह स्थान और करण के स्पर्श के विच्छेद से उत्पन्न होता है और पूर्वस्पर्शवर्णसदृश होता है। इस प्रकार स्थानकरण के स्पर्श के विच्छेद से उत्पन्न प्रतिध्वनि यद्यपि पद के अन्त में और अन्तःस्थ वर्ण तथा पंचम वर्णों के परे होने पर पैदा होती है। जैसे -रामात्त, शुक्क्रः, अग्ग्निः इत्यादि में। फिर भी वर्गों के के पंचम वर्ग के परे होने पर नासिक्यता के वैलक्षणयद्वारा यह प्रतिध्वनि यम नामक पृथक् वर्ण मानी जाती हैं। यथा-वृक्क्ण, पलिक्क्नी, रुक्क्मम्, रत्तनम्, आत्त्मा, स्वप्प्नः, पाप्प्मा इत्यादि में द्वितीय स्पर्श वर्ण जो कि अनुनासिक से पूर्व है, यम है।

इन यमवर्णों की संख्या के बारे में भी सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं। इनके संख्याविषयक पांच मत प्रसिद्ध हैं। प्रथम मतानुसार यम, वर्गों के पंचम वर्ण से पूर्व, वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्पर्शवर्ण हैं, ये संख्या में बीस हैं। इसलिये ये "बीस" वर्ण यम की संज्ञा धारण करते हैं। द्वितीय मतानुसार क, ख, ग, घ- ये चार ही यम हैं। तृतीय मतानुसार द्वित्वसिद्ध चार वर्ण ही यम हैं। चतुर्थ तैत्तिरीय मतानुसार यम वर्ग का आगम रूप हैं। आत्वर्नी, सक्थ्वना, यज्ञः में क् और ङ जो कि वर्णागम है, यम हैं। "ङ" रूप, यम परे होने पर उसके प्रभाव से ज के स्थान पर ग हो जाता हैं। इसलिए "यज्ञः" शब्द में गकार, अकार और भकार संयोग हैं। यज्ञः शब्द में आर्ष उच्चारण के बाहुल्य से यमसहित उच्चारण करने वाला सम्प्रदाय ही चल गया है। मात्र लोक में प्रयुक्त शब्दों में यमसहित उच्चारण की धारा नहीं बही है। जैसे "याच्ञा" का प्रयोग यमरहित ही होता हैं। अतः इस स्थल में ङ्कार यम के अभाव से तत्प्रभावजन्य "च" को "क" नहीं हुआ। कई विद्वानों की धारणा है

कि "राज्ञः" में जकार तथा अकार के मध्य में वर्तमान यम जकार को ञकार के प्रभाव से प्राप्त तालसुस्पृष्ट नासिक्यता के प्रयनविरोध द्वारा न होने से उसके स्थान का परिवर्तन होकर शीघ्रतावश ग हो जाता है और गकार के परे होने से पूर्व जकार को भी ग हो जाता है। यदि यह कहें कि कार तालुस्पृष्ट नासिक्य वर्ग जब विद्यमान है तो प्रयत्न का विरोध न होने से ज को होने में क्या आपत्ति है, तो यह भी असंगत हैं। कारण कि के नासिक्य अन्तःस्थ वर्ण होने से वह ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाला है और वर्णागम जकारूप यम स्पृष्ट प्रयत्न वाला है, इस प्रकार प्रयत्नविरोध विद्यमान है। पंचम मतानुसार न तो यमों की संख्या बीस है और न ही चार, तथा न यम वर्ण ही है, अपितु यमों का कोई शरीर ही नहीं है। इसलिए उसका उच्चारण नहीं होता। अतः अमोघनन्दिनीकार ने कहा है-

जकारौ द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थितः।
अशरीरं यमं विद्यात् संर्माज्ज्र्मीति निदर्शनम्॥

अर्थात् "संमाज्जिर्म" में दो जकार, एक मकार और एक मकार के ऊपर विद्यमान रेफ है, इसलिए यम को अशरीरी मानना चाहिये। "रुक्क्म" इत्यादि में क की द्वित्व होने पर उसके पश्चात् पंचम वर्ण से पूर्व नासिक्य तथा अनासिक्य वर्णों के विरोध के फलस्वरूप दोनों के मध्य "यति" उत्पन्न होती है और यह यति अर्थात् विच्छेद ही यम है, इसलिए यम कोई वर्ण नहीं है।

इन उपरि दर्शित यम-संख्या विषयक पांचों ही मतों में, पूर्व-अक्षर होने पर ही यम होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए सिद्धान्तकौमुदी में यम का जो "घ्नन्ति" उदाहरण दिया है, उसे "निघ्नन्ति" समझना चाहिये। अन्यथा पूर्व अक्षर के न होने से वह "घ्नन्ति" पद यम का उदाहरण नहीं बन सकेगा। "ज्ञानम्" शब्द में यम नहीं है। ज्ञा का धातु जकार और अनुनासिक एवं तालव्य ईष्त्स्पृष्ट प्रयत्न वाला ञकार है, न कि यम। इस प्रकार यह आर्षवर्णसमाम्नाय ९७ अक्षरों का ठहरता है।

पथ्यास्वस्ति में शब्दाद्वैतवाद

-डा० सत्यप्रकाश दुबे
सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग
जयनारायण विश्वविद्यालय, जोधपुर

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा दद्या वीर्यवती यथा स्याम् ॥

ज्ञान-विज्ञान का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जो भारतीय मनीषियों की दृष्टि से ओझल हो । आर्यावर्त रूप से प्रथित इस भारतवर्ष में पर जिस समय मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी गुँज रही थी उस समय विश्व में अन्यत्र कहीं भी सभ्यता की प्रथम किरण भी नहीं फूटी थी । तात्पर्य यह कि अति प्राचीन काल में ही भारतीय ऋषि-महर्षियों की ज्ञान ज्योति से सम्पूर्ण पृथ्वी आलोकित हो चुकी थी । अस्तु—

मानव को बुद्धि, वाणी एवं विचार इन सभी को परिष्कृत रखने के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान आवश्यक है उसमें भी यथार्थ निर्णय तथा अप्रतिहत गति हेतु संस्कृत-व्याकरण का ज्ञान अत्यावश्यक है क्योंकि व्याकरणशास्त्र भाषा शिक्षा का अपूर्व साधन है ।

यद्यपि व्याकरणशास्त्र मुख्य रूप से श्ब्द का साधुत्वासाधुत्व विवेचन प्रस्तुत करता है तथापि दार्शनिक पक्ष भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होता दृष्टिगोचर होता है । व्याकरणशास्त्र के प्रक्रियात्मक एवं दार्शनिक ये दोनों ही पक्ष अतिप्राचीन हैं । इस द्विपर्णात्मक व्याकरणवग ने सुपर्ण के सदृश समस्त त्रिलोकी को व्याप्त कर रखा है ।

इसमें किसी प्रकार का ननु नच नहीं कि व्याकरणशास्त्र वेद का ही प्रमुख है जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है --

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥[१]

महर्षि पतंजलि ने तो व्याकरणशास्त्र को उत्तराविद्या की संज्ञा देते हुए वेद के षडङ्गे में उसे प्रधान माना है -

"व्याकरणं नामेयं उत्तरा विद्या ॥[२] सोडसौ छन्दः शास्सेष्वभिविनीत उपलब्धयाधि गन्तुमुत्सहते । प्रधानञ्च ष्वङ्गेषु व्याकरणम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति ।[३]

आचार्य पंतजलि के "रक्षोहागमलघ्वसन्देहा : प्रयोजनम्[४]—इस वचन के अनुसार इन पाँचों मुख्य प्रयोजनों की पूर्ति व्याकरणशास्त्र से होती है।यद्यपि प्रकृति प्रत्यय, प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ और उनका सम्बन्ध जान लेने से व्याकरणशास्त्र के वेदांग होने का कार्य पूरा हो जाता है किन्तु इसका प्रकृत्यर्थ प्रत्यायार्थ आदि के ज्ञान द्वारा वेदार्थ ज्ञानमात्र ही प्रयोजन नहीं है अपितु यह एक दर्शन भी है, अतः व्याकरणशास्त्र शब्दों के साधुत्व ज्ञान द्वारा साक्षात् मोक्षप्रद भी है । जैसा कि आचार्य भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है --

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥[५]
तदद्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥[६]

अर्थात् यह व्याकरण विद्या मुक्ति चाहने वालो के लिये एक उत्तम एवं ऋजु मार्ग है । व्याकरण को पुरुषार्थ का भी साधन माना गया है क्योंकि इसके द्वारा वेदार्थज्ञान, कर्मानुष्ठानजनितं सुख उपनिषद् जनित सुख (मोक्ष) प्राप्त होता है अतः वेदाविद्योद्धारक, विद्यावाचस्पति पूज्य श्री ओझाजी द्वारा प्रणीत "पथ्यास्वस्ति" नामक क्रंथ को आधार बनाकर वहाँ दूष्टिगत हुए व्याकरणशास्त्र के दार्शनिक पक्ष का उपास्थापन प्रस्तुत है । उसमें भी उनके द्वारा प्रतिपादित शब्दतत्व (वाक्तत्व) का अद्वैतोपदेश ही इस शोध-प्रपत्र का मुख्य विषय है ।

पथ्यास्वस्ति शब्द ब्रह्माण ग्रंथो में वाणी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यथा—

"वाग्वै पथ्यास्वस्ति":[७]

अमरकोषकार ने पथ्या शब्द का प्रयोग तीन अर्थो में किया है—

अभया त्वव्यथा पथ्या कायस्था पूतनाऽमृता
हरीतकी हैमवती चेतकी श्रेयसी शिवा ॥[८]

तथा स्वस्ति शब्द भी—

स्वस्त्याशी : क्षेमपुण्यादौ,[९] अर्थो में प्रयुक्त है ।क्षेम अर्थ का वै वाचक है अतः अति क्षेमकारक तत्त्व ही पथ्यास्वस्ति का बोधक हो सकता है, जो वस्तुतः वाक् है । इसी प्रकार शतपथब्राह्मण के— अथैभ्यः पथ्यास्वस्तिः प्रारोचत । तामयजन्नवाग्वै पथ्या स्वस्तिर्वाग्यज्ञस्तद्यमपश्यस्तमतन्वत ।[१०]

सोऽग्निमेव प्रथमं य्यजति । अथ सोममथ सवितारमथ पत्थ्यास्वस्तिमथादितिं वाग्वै पत्थ्यास्वस्तिरियमदितिरस्यामेव तद्देवा व्वाचं प्रत्यष्ठापयन्त सेयं व्वागस्यां प्रतिष्ठिता वदति ।[११]

मन्त्रों के आधार पर वाक् किसी निदान के कारण यह नाम ग्रहण करती है । पत्थ्या स्वस्त्याप्रजानँस्तस्मादत्रोत्तरा हि-वाग्वदति ।[१२] वस्तुतः स्वरव्यंजनादि विभाग से विभक्त वाक् वर्णरूपा है :अतः उन वर्णो को साधुरूप से प्रयुक्त करने के लिए वाक् वाचक पथ्यास्वस्ति शब्द प्रकृत ग्रन्थ का शीर्षक है । साथ ही यहाँ एक वैज्ञानिकता इस रूप में भी स्वीकार कर सकते है कि सूर्य जिस मार्ग पर भ्रमण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है, वह उसके चारों तरफ परिभ्रमण करने वाली पृथ्वी का मार्ग है । उस मार्ग को भी वेद में पथ्यास्वस्ति के रूप में वर्णित किया गया है । अन्य स्थलों पर पथ्या अदिति[१३] और पूषा की पत्नी[१४] के रूप में मानी गयी है जिसका संबंध उदीची[१५] एवं प्राची[१६] दिशा से जोड़ा गया है इसी पथ्या से अग्नि का भी सम्बन्ध बताया गया है क्योंकि अग्नि को पथिकृत्[१७] तथा पथःकर्ता[१८] कहा गया है ।(द्रष्टव्य-पथ्यास्वस्ति प्रधान सम्पादकीय) वाक् आग्नेया अर्थात् अग्निदेवताक होने से पार्थिवी कहलाती है ।अग्नि पृथ्वी का देवता है इसीलिये श्रुति में "यथाग्निगर्भापृथिवी" कहा गया है ।निरुक्तकार यास्क ने "अग्निर्वाभू—स्थानः" कहकर पूर्वोक्त वचन को और स्पष्ट किया है । पृथिवी अष्टावयवा है इसलिए तत्सम्बन्धी वाक् भी अष्टावयवा है । इसी आधार पर "ब्रह्म वै गायत्री वागनुष्टुप" एवं "वाचमष्टापदीमहम्" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा वाक् को अष्टावयवा तथा अनुष्टुप् बतलाया गया है क्योकि अष्टावयवा वाक् की तरह अनुष्टुप् छन्द भी अष्टाक्षरात्मक है । जिस प्रकार पृथ्विवी का अपना एक परिभ्रमण मार्ग है उसी प्रकार पृथ्वी रूप इस वाक् तत्व का भी एक मार्ग है जो वर्ण या वर्णमातृका के नाम से जाना जाता है । वाक्

इन्हीं वर्णो पर परिभ्रमण करती है ।

ऋग्वेद में स्वस्ति शब्द शुद्ध आध्यात्मिक अर्थ में परमानन्द का अपर पर्याय सा प्रयुक्त हुआ है तथा पथ्या शब्द के साथी भी अनकेश: प्रयोग में आया है अदिति के लिए ऐतरेय ब्राह्मण में पथ्या शब्द का प्रयोग हुआ है जिसमें आदित्य को उसका अनुगमक बताया गया है, यथा—

यत् पथ्यां (अदितिं) यजति तस्मादसौ आदित्य : ।
पुर उदेति पश्चास्तमेति, पथ्यां ह्येषोनुसंचरति ॥ [१९]

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि जिस तरह पृथिवी के परिभ्रमण मार्ग की संज्ञा 'पथ्यास्वस्ति " है उसी तरह वाक् का संचरण मार्ग वर्ण या वर्णमातृका भी पथ्यास्वस्ति शब्द से प्रथित है

अस्तु— पथ्यास्वस्ति ग्रंथ का शुभारम्भ ही ऐसे श्लोक से हुआ है जिसमें यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट हो रही है कि शब्दब्रह्म के ज्ञान के बिना परब्रह्म का ज्ञान असम्भव है । अतएव परब्रह्मरूपी अक्षर, अविनाशी तत्त्व के ज्ञान के लिए आचार्यप्रवर पण्डित ओझा शब्दब्रह्म का निरूपण कर रहे है, यथा—

परब्रह्माक्षरं ज्ञातुं शब्दब्रह्माक्षरस्थितिम् ।
विज्ञापयति विज्ञानप्रवणो मधुसूदनः ॥
वर्णाक्षरसमाम्नायोऽनेकधा प्रतिद्यते ।
छन्दोभाषानुगा तत्र पथ्यास्वस्तिनिरुप्यते ॥

आचार्य कात्यायन ने—

स्वरो वर्णोक्षरं मात्रा तत्प्रयोगोऽर्थ एव च ।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे-पदे ॥
वेदस्याध्ययनाद्धर्मः सम्प्रदानात् तथा श्रुते : ।
वर्णशोक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोऽपि च ॥ [२०]

इस उक्ति के द्वारा यह स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है कि मन्त्र-जिज्ञासु पुरुष को प्रत्येक पद में प्रकृति, प्रत्यय, स्वर, वर्ण अक्षर मात्रा उनके प्रयोग एंव अर्थ आदि को पूर्ण ध्यान रखना चाहिये क्योंकि इन्हीं स्थितियों में ही मंत्र यथार्थ ज्ञान एवं परिणाम प्रदान करता है । यहाँ स्वर

शब्द अक्षर का बोधक होता हुआ अर्थान्तर से उदात्त अनुदात्तादि भी ज्ञान कराता है, अतः—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा,
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥[२१]

प्रकृतिप्रत्ययार्थ के द्वारा मन्त्रार्थज्ञान तो अत्यावश्यक है क्योंकि—

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्जवलति कर्हिचित् ॥[२२]

वेद के सांगोपांग अध्ययनादि से धर्म होता है , अतः वर्णज्ञानपूर्वक तथा अक्षरज्ञानपूर्वक वेदार्थज्ञान करना ब्राह्मणों (ब्रह्मजिज्ञासुओं) का निष्कारण कर्तव्य है । जैसा कि महाभाष्यकार पंतजलि भी कहते है --

ब्राह्मणेन निष्काणो धर्म : षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ॥[२३]

यहाँ निष्कारण शब्द की व्याख्या में प्रदीपकुमार कैयट तथा सिद्धान्तसुधानिधाकार का कथन हृदयङ्गम करने योग्य है । यथा—

निष्कारण इति—दृष्टंकारणमनपेक्ष्येत्यर्थः (कैयट)
निष्कारणो दृष्टकारणनिरपेक्षः ।
कारयतेः करणल्युटा प्रवृत्तिजनकेच्छाविषयत्वसम्बन्धेन
प्रवृत्तिजनकस्य फलस्यकारणपदेन लाभात् ।
एतेन प्रत्यवायसाधनीभूताभावप्रतियोगित्वरूपनित्यत्वमुक्तम् ।
तथा च सन्ध्योपासनादिवदत्रापि प्रवृत्तिः ।

वर्णसमाम्नय (वर्णमातृका) नित्य है । उसकी उत्पत्ति नहीं होती, अपितु स्थान-प्रयत्न के संयोग से उसकी अभिव्यक्तिमात्र होती है । इसीलिए महाभाष्यकार पतंजलि ने "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" वार्तिक के द्वारा शब्दार्थ एंव उनके पारस्परिक सम्बन्ध को नित्य बताया है ।

पर, अक्षर व क्षर रूपी त्रिभेद से भिन्न ब्रह्म की विवर्तावस्था ही विश्व है दिग्देशकाल की परिधि से दूर होता हुआ भी क्षर (व्यंजन) तथा अक्षर (स्वर) का आधार होने से परिच्छिन्न ब्रह्म अव्यय नामक परब्रह्म है । वही चिति के द्वारा मन, प्राण व वाक् बनता है मनोमय

अव्यय में अवलम्बित प्राणमय तथा क्षरों (व्यंजनों) का नियन्ता काटस्थ तत्व अक्षर कहलाता है—कूटस्थोक्षर उच्यते"[२४]

अक्षर में अवलम्बित वाङ्मय समग्र भूत समूह क्षर कहलाता है - "क्षर: सर्वाणि भूतानि"[२५] । इस अव्यय (पर) अक्षर व क्षर से पृथक् किसी का भी अस्तित्व नहीं है । यही तीनों मिलकर एक पुरुष की संज्ञा को धारण करते है । उस पुरुष को विशुद्ध, विग्रहवान् आत्मा के रूप में जाना जाता है । वह पुरुष मनोमय, प्राणमय व वाङ्मय है ।

गीता-स्मृति में अक्षरों के क्रम में एक अकार वर्ण ही सभी वर्णों का मूल स्वीकार किया गया है ।-"अक्षराणामकारोस्मि"[२६]

इस अकार रूप अक्षर से ही भिन्न-भिन्न गुणों के समन्वय से निखिल वर्णमातृका की उत्पत्ति हुई है । ऐतरेय आरण्यक भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है यथा--यो वैतां वाचं वेद यस्या एष विकार: स सम्प्रतिवित्अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्माभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति ।[२७] " अर्थात् यही अकार रूप वाक् स्पर्श तथा ऊष्मा (आकुंचन एवं प्रसारण) से अभिव्यक्त हो कर विभिन्न प्रकार की हो जाती है । अकार के ही प्रसंग में पाणिनि के 'आइउण्' आदि माहेश्वर सूत्र भी अनायास मानस पटल पर उपस्थित हो जाते है , जिनमें आचार्य नन्दिकेश्वर ने उनका दार्शनिक स्वरूप प्रकट किया है—

अकारो ब्रह्मरूप : स्यान्निर्गुण: सर्ववस्तुषु ।
चित्कलामिं समाश्रित्य जगद्रूप उणीश्वर : ॥
अकार: सर्व्ववर्णाग्र्य: प्रकाश: परमेश्वर: ।
आद्यमन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते ॥[२८]

अर्थात् अकार = निर्गुण परमेश्वर, इ = माया का आव्य ग्रहण करके, उ : = व्यापक सगुण साकार ब्रह्मम रूप हो गया ।

अकारों ज्ञप्तिमांत्र स्यादिकारश्चित्कला स्मृता ।
उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्मेहश्वर : ॥[२९]

इत्यादि श्लोकों में निर्गुण ब्रह्म को जगतरूप कारण स्वींकार करते हुए हरि एवं हर में अभेद दर्शाया गया है तथा अकारोकार से निष्पन्न प्रणव रूप ओङ्कण के द्वारा सगुण निर्गुण में ऐक्यबुद्धि होने से द्वैतभाव का राहित्य भी प्रकट किया है ।

अव्यय, अक्षर और क्षर रूप से प्रसिद्ध मन, प्राण एवं वाक् तत्वों में से वाक्तत्व भूतभाव, शब्दभाव व अर्थभाव रूप से तीन प्रकार से विनियुक्त होता है । वेद में वाक् को ही सम्पूर्ण सत्ता स्वीकार की गयी है—-

"अथो वागेवेदं सर्वम्" अर्थात् यह सब कुछ दृश्यमान या अदृष्ट जगत् वाक् ही है पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश सब वाक् ही है । पृथिवी का आधार जल है ये क्रमशः एक दूसरे वाक्तत्व में ही प्रतिष्ठित हैं, अतएव ये सब वाक्तत्व से पृथक् नहीं है ।

वेदका यह कथन है कि -- "वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" । अर्थात् इस जगत् में कोई भी ऐसा भूत समूह नहीं है जो वाक् तत्व से रहित हो । वाक् रूप आकाश से वायु आदि क्रम से जायमान भूतसमूह प्रपंच है । यही वाक्तत्व का एक तरह का विनियोग है । "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" श्रुति के अनुसार वायु आदि भूतों में अनुप्रविष्ट वाक् रूप आकाश ही आघात से कम्पन को प्राप्त होता हुआ वायु से पृथक् होकर उसी चतुर्दिक वृत्ताकार वीची तरंग को उत्पन्न करता है । नाद रूप से कम्पमान वह वागाकाश श्रोता के श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुंचता है तथा श्रोत्रेन्द्रिय के प्रज्ञाभाग से मिलकर शब्द का रूप धारण कर लेता है । यही शब्दमय प्रपंच तथा अर्थमय प्रपंच रूप से दो तरह से विनियोग को प्राप्त करता है । जैसा कि आचार्य भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में स्पष्ट किया है --

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥[३०]

अर्थात् यह शब्दब्रह्म विनाश से रहित होने से अनादिनिधनात्मक एवं सभी विवर्त रूपी प्रपचों को अधिष्ठान है तथा सजातीय विजातीय स्वगत भेद से परे है । यहाँ शब्दतत्व का ब्रह्मरूप से संकीर्तन होने से "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन्" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा भी शब्द ब्रह्माद्वैत का ज्ञान स्पष्ट एवं सुतरां सिद्ध है ।

"सर्व खल्विंद ब्रह्म"[३१] श्रुति के आधार पर भी सर्वत्र ब्रह्म की सत्ता स्वीकार की जा रही है । "अनादिनिधनम्" इस कारिका में किया गया "विवर्तते" पद का पाठ वेदान्तसम्मत विवर्तवाद की ओर इंगित कर रहा है । अतात्विक-अन्यथाभाव ही विवर्त है । जैसा कि कहा गया है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।

अतत्वतो न्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः ॥[३२]

अस्तु, शब्दमय तथा अर्थमय प्रपंच वाङ्मयप्रपंच ही है ·। यही वाक्तत्व का शब्दरूप तथा अर्थरूप दो तरह का विनियोग है । अतः परब्रह्म विद्या के जिज्ञासु पुरुष को सर्वप्रथम शब्दब्रह्म विद्या का चिन्तन करना चाहिये । अल्पश्रम से अधिगत यह शब्दविद्या महायाससाध्य परविद्याा के ज्ञान में सहायिका है ।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥[३३]

शब्द दो तरह से अर्थावबोधक होता है । अभिधानरूप से तथा प्रतीक रूप से । अभिधान पक्ष में तो ओम् शब्द का वाच्य ब्रह्म है तथा ओम् शब्द भी ब्रह्म है । जैसा कि श्रुति भी उपदेश कर रही है --

"एतद्धै सत्यकाम पर चरणम च ब्रह्म यदोङ्कारः ।

प्रतीक पक्ष में—परा तथा अपरा ये दो विद्या है परब्रह्म ही परा विद्या तथा शब्दब्रह्म ही अपराविद्या है । दोनों में अति साम्य है । अतः विद्वानों के विचार से शब्दसृष्टिज्ञान से उसकी समानता के कारण अर्थसृष्टि ज्ञान सिद्ध हो जाता है जिस तरह परविद्या में अव्यय, अक्षर तथा क्षर भेद से तीन प्रकार का प्राणब्रह्म है, उसी तरह अपर विद्या में भी स्फोट अक्षर एवं वर्णभेद से तीन प्रकार का वाग्ब्रह्म है तथा जिस परविद्या में क्षर, अक्षर आदि का आलम्वन अव्यय पुरुष है उसी स्फोट रूप अव्यय में नित्य सम्बद्ध पाँच स्वरात्मक वर्ण (अ इ उ ऋ लृ) अक्षर कहलाते है इन्हीं पाँचों अक्षरों से क्षरात्मक समस्त व्यंजन वर्णो की सृष्टि होती है ।

वाक्य का स्वरूप पदो से, पदों का अक्षरों से तथा अक्षरों का वर्णो से निष्पन्न होता है । अक्षर नित्य है वह वर्णो का आत्मा है, अतः वर्णो से पृथक् है इसीलिए कात्यायन से "स्वरो वर्णोऽक्षर" "मात्रा इस श्लोक में वर्ण तथा अक्षर दोनों का पृथक् प्रयोग करके दोनों की अलग सत्ता प्रतिपादित की है ।

वैदिक महर्षि वाग् को अनुष्टुप् बताते हुए उसे अष्टबिन्द्वात्मक मानते है अनुष्टुप् शब्द सात व्यंजनों तथा उनके आत्मभूत स्वर के सन्निवेशस्थानरूप नौ बिन्दुओं का बोधक है ।

अपां दिव्यानाम्" श्रुति वाक्य में अप् शब्द वाक् का बोधक है । शतपथब्राह्मण भी

जिसकी पुष्टि निम्न मन्त्रों से करता है—

'सोऽपोऽसृजत वाच एवं लोकात् । वागेव साऽसृज्यत सेदं सर्वमागप्नो यदिदं किंच तस्मादाप:[३४] यह वाक्तत्व ही अप् रूप में परिणत होता है ।

शब्दतत्व (वाक्) ब्रह्म अद्वैत रूप ही है उसी के विवर्त रूप में यह चराचर सृष्टि है जैसा कि वाक्यपदीयकार का कथन है—

"शब्दस्य परिणामो यमित्याम्नाय विदो विदु:"[३५]

लोक में जिस तरह आवर्त बुद्बुद तथा तरंगरूप जल विकार एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी जल के अतिरिक्त कुछ नहीं है, विकार (कार्य) रूप घटपटादि वस्तुत: पृथिवी ही है उसी प्रकार शब्दब्रह्म एवं उसके कार्य में भिन्नता दिखाई पड़ने पर भी वह अभिन्न तथा एक ही है।

जिस प्रकार "सदेवासोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"[३६] "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म का सत्यत्व, एकत्व तथा ब्रह्मत्व द्योतित हो रहा है उसी प्रकार वागेवार्थ पश्यति, वागेवार्थं ब्रवीति, वागेवर्त्वं निहितं सन्तानोति वागेव विश्वं बहुरूप "निबद्धं" तदेतदेर्क प्रतिभज्योपभुङ्क्ते, वाचो ह वाक् इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म की शब्दरूपता भी प्रतिपादित हो रही है इस तरह शब्दब्रह्म ही जगत् का कारण है तथा—

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं यस्य भासा सर्वमिदं विभाति"[३६] श्रुति के अनुसार यह स्वप्रकाश भी है ।

यही शब्दब्रह्म केनोपनिषद् में ब्रह्मपद से, भागवत में परमात्म या पद से तथा श्रीमद्भगवतगीता में ईश्वर रूप से प्रतिपादित किया गया है ।

इस शब्दब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की भी वास्तविक सत्ता नहीं है जिसे कि भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते ॥[३८]

निगमागमों में वाणी के चार स्वरूप का वर्णन मिलता है, यथा—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुब्राह्माणा: ये मनीषिण: ।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति

तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥[३८]

इसी वाक् से परिच्छिन्न चार सथन भी बताये गये है --वाचस्पत्य, ब्राह्मणस्पत्य, ऐन्द्र और भौम । इन चारों स्थानों के कारण वाक् के भी चार भेद बन जाते है -

"वेकुरा, सुब्रह्मण्या, गौरिवीता तथा आम्भृणी" ।

परमाकाश में विद्यमान वेकुरा, पारमेष्ठ्यमण्डल में विद्यमान वाक् सुब्रह्मण्या, महाब्रह्माण्ड रूप सौरमण्डल में विद्यमान वाक् गौरिवीता तथा चान्द्रमण्डल से युक्त पार्थिव मण्डल में विद्यमान सोममयी वाक् आम्भृणी कहलाती है । यह आम्भृणी वाक् इस लोक में सर्वत्र व्याप्त है । अन्य तीन प्रकार की वाक् अन्तःकरण रूपी गुहा में निहित होती हुई अज्ञात होने से योगमम्य है ।

"चत्वारि वाक् परिमितां पदानि" इस मन्त्र की अनेक रूपों में व्याख्या मिलती है । अमृता, दिव्या, वायव्या तथा ऐन्द्री भेद से भी यह वाक् चार प्रकार की है । महाभाष्यकार पतंजलि ने व्याकरण की दृष्टि से अलग ही व्याख्या की है । यह वाक् कहीं-कहीं व्याकृता तथा अव्याकृता रूप से व्यवहृत होती है । व्याकृता वाक् से पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी तथा अव्याकृता वाक् से परां की चर्चा श्रुतियों में की गयी है और यही परा वाक् पुनः व्याकृता अव्याकृता रूप से दो प्रकार की परिलक्षित होती है - यथा - नामरूपे व्याकरवाणि,[४०] ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते ।

समनसा वाचं मिथुनं समभवत्,[४१] वागेव विश्वा भुवनानि[४२] वाग् वै ब्रह्म,[४३] परा वाचा तथाष्टमे,[४४] इत्यादि श्रुतियों के द्वारा तथा -

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतस्सर्वाः प्रवृत्तयः ॥[४५]

इत्यादि स्मृति वचन के द्वारा वाक्पूर्विका ही सृष्टि प्रतिपादित की गयी है जिसके ओंकार, वेद, शब्दब्रह्म आदि नामान्तर है ।

इस तरह स्पष्ट होता है कि जो सर्वश्रेष्ठ तत्व ब्रह्मसिद्धान्त में "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" आदि शब्दों के द्वारा अनेकशः बार कहा गया है वही तत्व "वाग्वै ब्रह्म"[४६] इस श्रुति से वाक्, शब्द इत्यादि शब्दों से भी अभिहित होता है ।

ब्रह्मसिद्धान्त में सत्य, ज्ञान, अनन्त इत्यादि शब्दों से ब्रह्म की प्रसिद्धि है । श्री ओझाजी ने उसे वाक्, शब्द इत्यादि शब्दों से प्रतिपादित किया है , जो वस्तुत: तदभिन्न ही है ।

पाद-टिप्पणी—

१ - पाणिनीयशिक्षा-४२,
२ - व्याकरणामट्टाभाष्य - १, २, ३२
३ - वही पस्पशाह्निक,
४ - वही,
५ - वाक्यपदीय १-१६;
६ - वाक्यपदीय १-१४
७ - श०ब्रा० ३.२.३.८
८ - अमरकोष, द्वि०का० श्लोक-५९
९ - वही, तृतीयकाण्ड, श्लोक २४९
१०- श०ब्रा० ५-३,२,३,८
११ - श० ब्रा० ४.५.१.४
१२-वही, ३.९.३.१५
१३ - ऐ०ब्रा० १-७
१४-गो०उ० २-९
१५-श०ब्रा० ६.२.३.
१६- १५-ऐ० १,७
१७-काबौबीतकि ४,३
१८-श०ब्रा० ११.१.५.६
१९-ऐ०ब्रा० १-७
२०-पथ्यास्वस्ति, पृ०-५३
२१-व्याकरणमट्टाभाष्य पस्पशाहिनक
२२-व्यामट्टाभाष्य पस्पशा०
२३-वही
२४-श्रीमद्भगवदगीता १५-१६
२५-श्रीमद्भगवदगीता १५-१६
२६- वही १०-३३
२७-ऐ०आ०
२८- व्याकरणमट्टाभाष्य में उद्धृत
२९-वही
३०-वाक्यपदीय १-१
३१-छा०उ० ३-४-१
३२-उद्धृत वेदान्तसार अपवाद
३३-ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
३४-उद्धृत पथ्या पृ०-६६
३५-वाक्यपदीय १-१२०
३६-छा०उ० ६-२-१
३७-कठोपनिषद २-१५
३८-वाक्यपदीय १-१२३
३९-व्याकरणमट्टाभाष्य, पस्पशाह्निक
४०-वाक्यपदीय ६-३-२
४१-बृहदारण्यकोपनिषद् १-२-४
४२-वाक्यपदीय १-१२१टीका
४३-वृहदारण्यकोपनिषद् ४-१-२
४४-अथर्वशीर्षोपनिषद्
४५-महाभारतशान्तिपर्व, श्लोक ५५, अध्याय २२४
४६-बृहदारण्यकोपनिषद् ४-१-२

पथ्यास्वस्तिः (सन्धिपरिष्कारः)

डा० (श्रीमती) लक्ष्मी शर्मा
सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर ।

"नि षु सीद गणपते गणेषु, त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे, महामर्कं मघवञ्चिमर्च ॥
(ऋग्.१०.११२.१)

वेदविद्योद्धारक, विद्यावाचस्पति पूज्य पं० श्रीमधुसूदन ओझा ने वैदिक मंत्रों के रहस्यों को उद्घाटित करके वैज्ञानिकों को चमत्कृत कर दिया है । मंगलाचरणार्थ गणपति-स्तुतिपरक ऋग्वेद के प्रस्तुत मन्त्र का भी स्व० पं० ओझाजी ने वैज्ञानिक विवेचन किया है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त प्रज्ञा और प्राणों के घनस्वरूप एक आत्मा रूप को ही इन्द्र कहा गया है ।इन्द्र ही गणपति है, समस्त प्राणियों की आत्मा इस इन्द्र के कुछ अंश से निर्मित है अतएव ही इन्द्र इनका अधिपति है । वस्तुतः इन्द्र ही गणपति है एतदर्थ हम यहाँ गणापति इंद्र का ही आह्वान करते है ।

पं० मधुसूदन ओझा ने अपने ग्रथों को ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, पुराण-समीक्षा तथा वेदांगसमीक्षा-इन चार भागों में विभक्त किया है । प्रस्तुत पत्रवाचन का मुख्यध्येय वेदांगसमीक्षा के वर्णसमीक्षा विभागरूप "पथ्यास्वस्तिः" का विवेचन करना है ।

"वाग्वै पथ्यास्वस्ति" इस श्रुति वाक्य के अनुसार "वाक्वाणी" को ही पथ्यास्वस्ति कहा गया है । वस्तुतः पथ्यास्वस्ति सूर्य का परिभ्रमण मार्ग है ।सूर्य के क्रान्तिवृत्त से ही पृथिवी भ्रमण करती है, इस क्रिया से ३६० दिन में अपना एक वृत्त बना लेती है । सूर्य की शक्ति को लेकर ही हमारी पृथिवी स्थिति धारण किये है -- "यथाग्निगर्भा पृथिवी", "अग्निर्वा भूस्थान" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से स्पष्ट है कि वह पृथिवी अग्निरूपा है । इस अग्नि से तात्पर्य दृश्याग्नि नहीं है अपितु ऊर्जा तथा ऊष्मा तत्त्व है । पृथिवी पर उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ में जो धारक तत्त्व है, वह ऊष्मा तत्त्व ही है । इसी ऊष्मा के नष्ट हो जपने पर प्राणी का प्राणतत्व ही समाप्त हो जाता

है, इसी को ब्रह्म तत्त्व कहा गया है , क्योंकि वह सर्वव्यापी है । इन्हीं ऊष्माधारक तत्त्वों में मनुष्य, अपने वाणी के वैभव के कारण श्रेष्ठ है ।

वैदिक विज्ञान में वेद की भाषा को छन्दोम्भसत्ता कहा जाता है और लिपि को "पथ्यास्वस्ति"। वेद की भाषा संस्कृत भाषा से भिन्न है। वेद में हजारों शब्द ऐसे हैं, जो संस्कृत वाङ्मय में नहीं मिलते है और उन शब्दों का अर्थ भी अन्य किसी भाषा के माध्यम से कथमपि सम्भव नहीं है, अपितु इनका अर्थ इन्हीं वैदिन शब्दों में विद्यमान है ।

इस वाणी का उद्गम किस प्रकार होता है ? इस प्रश्न के उत्त्र के लिये हम भगवान् पाणिनि की शरण में जाते है। उनके अनुसार—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मन: कायाग्निमाहन्ति से प्रेरयति मारुतम् ॥"

इस पाणिनि शिक्षा के अनुसार आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को प्राप्त कर उनको प्रकाशित करने के लिए मन को प्रेरित करता है । मन जठराग्नि पर आघात करता है । जठराग्नि प्राणवायु को प्रेरित करता है । प्राणवायु उर :स्थल में आहत होकर मन्द्रस्व को उत्पन्न करता है, कण्ठ में टकराने पर मध्यमस्वर को तथा शिर: स्थान में टकराकर मुख में पहुंचती है और भिन्न-भिन्न वर्णों को उत्पन्न करता है । इन्हीं नियत स्थानो से तत्तत् वर्णो का उच्चारण सम्भव है इतरस्थान से कथमपि नहीं हो सकता है ।

वाणी के इस वैभव का वैज्ञानिक विवेचन ही "पथ्यास्वस्ति" है । इस "पथ्यास्वस्ति" नामक ग्रन्थ को पाँच खण्डों में विभक्त किया गया है -- मातृकानुवाक्, यमानुवाक्, गुणानुवाक्, अक्षरानुवाक्, सन्ध्यनुवाक् ।

सर्वप्रथम मातृकानुवाक् में ९७ वर्णो की "आर्षेयी" वर्णमान का विवेचन प्रस्तुत किया गया है इसी वर्णमाला का नाम पथ्यास्वस्ति था, ऐसा वैदिक काल में लिपि की विद्यमानता के प्रसंग में कहा गया है --

"पथ्यास्वस्तिरिहासीद् देवयुगेवर्णसमाम्नाय: ।
सप्तनवतिरिह वर्णाश्छन्दो भाषानुगा उक्ता: ॥

इसी खण्ड में आठ अयोगवाह वर्णों के अन्तर्गत स्वरभक्ति, रंग, अनुस्वार, विसर्ग , औरत्स्थ ऊष्मा, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा यमों का सविस्तार विवेचन है ।

द्वितीय प्रपाठ में यम के सम्बन्ध में चार मतों का निरूपण करते हुए कुँ, खुँ, गुँ, घुँ संज्ञाओं का निर्देश भी किया गया है ।

तृतीय प्रपाठ "गणपरिष्कार" में गुणों को विवेचन प्रस्तुत किया गया है । पृथिवी मण्डलस्थ यह वाक् भूमि में सर्वत्र व्याप्त है, इस वाक् को अमृता, दिव्या वायव्या, ऐन्द्रीभेद से चार प्रकार की बताई गई है । समस्त विश्व इसी में प्रतिष्ठित है । इसी वाणी के स्थान प्रयत्नादि भी वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किये गये है ।

"अक्षरनिर्देश" नामक चतुर्थ प्रपाठ में परब्रह्मविद्या और शब्दब्रह्म-विद्या की समानता प्रतिपादित की गई है ।

अन्त मे "सन्धिपरिष्कार" नामक पंचम प्रपाठ में सन्धि विषयक मूलकारणों का अनुशीलन किया गया है । यही इस पत्र का प्रतिपाद्य विषय है ।

यद्यपि भगवान् पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र के सन्धि प्रकरण में सांगोपांग नियमों का स्पष्टीकरण किया है तथापि उन संधियों के मूल कारण और आधार का विवेचन नहीं किया है परन्तु यह उनके लिए अभीष्ट भी नहीं था क्योंकि वहाँ रूपसिद्धि ही उनका उद्देश्य था । इस ग्रन्थ में उन समस्त मूल कारणों का वैज्ञानिक अनुशीलन किया गया है ।

सन्धि का मूल आधार वर्णों का परस्पर सम्बन्ध होना है, परन्तु इस सम्बन्ध का आधार क्या है ? परब्रह्म का इस आत्मा और भूत तत्त्व के साथ सम्बन्ध को समझने पर यह स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है ।

एक अक्षर का दूसरे अक्षर के साथ बन्धन होने पर हृदय ग्रंथि की उत्पत्ति होकर क्षर की उत्पत्ति होती है । शब्द्ब्रह्मविद्या में व्यंजनों को क्षर तथा स्वर को अक्षर कहा जाता है इसका आधार की परब्रह्म-विद्या ही है । लोक में जितने भी भूत (प्राणि) तत्त्व हैं वे क्षर हैं तथा आत्मा अक्षर है । कहा भी गया है -- "क्षरः सर्वाणि भूतानि", तथा आत्मा के लिए -- "एतदेव अक्षर ब्रह्म एतदेव अक्षरं परम्" इत्यादि । इन्द्रिय-ग्राह्य क्षर व्यंजन वर्णों से इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य अक्षर (वाक्) की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् दृश्यमान जगत् में स्थित पदार्थों को देखकर अथवा अनुभव करते हुए तदर्थ उच्चार्यमाण वाणी की अभिव्यक्ति होती है, जिनमें स्वर वर्ण अक्षर होते हैं, स्वयं स्फूर्त हैं और व्यंजन वर्णों द्वारा अग्राह्य प्राण को अभिव्यंजित करते हैं ।इसीलिए कहा गया है -- "स्वयं राजन्ते इति स्वराः ।" "व्यज्यते प्राणः अनेन इति व्यंजन ।"

इन्हीं स्वर और व्यंजन की विद्या परब्रह्मविद्या के समान ही है । वस्तुतः परब्रह्म और शब्दब्रह्म एक ही है । संधि विभाजन अनेक प्रकार से किया जाता है यथा -- (१) निरूपक भेद से, (२)सान्निकर्ष भेद से, (३) बल भेद से (४) आश्रय भेद से ।

(१) निरूपक भेद से - जिस प्रकार परब्रह्मविद्या में अक्षर-ब्रह्म तथा क्षर भूत (प्राणि) का सम्मिलन निरूपक भेद की दृष्टि से "विभूति" तथा "योग" भेद से दो प्रकार से होता है उसी प्रकार शब्द-ब्रह्मविद्या में भी अक्षर एवं व्यंजन संधि इन्हीं दो प्रकार से होती है ।

१. विभूति - विभूति सम्बन्ध से तात्पर्य है जहाँ व्याप्य तत्त्व परतन्त्रावस्था में बद्ध रहते हुए व्यापक, स्वतन्त्र और निरपेक्ष तत्त्व में सम्बन्ध स्थपित करने के लिए व्यापारशीन होता है यथा--

अम्भो लवणे, वायौ व्योमे, मुखे दर्पण यद्वत् ।

विभवति तद्वत् विरजा भूतग्राहमे व्ययः परमः ॥

अर्थात् लवण विलय होने में परतंत्र है, जलापेक्षी है तथा जल, विलयनिरपेक्ष स्वतंत्र एवं व्यापक है । यहाँ व्यापक का व्याप्य में संबंध विभूति संबंध से है । संसार में अक्षर रूप की क्षररूप भूतों में व्याप्ति होती है, ठीक इसी प्रकार क्षर रूप व्यंजन में अक्षर रूप स्वर की व्याप्ति होती है । यथा-स्त्र्यर्कूट तथा "कात्स्र्यनम्" शब्दों में अकार रूप अक्षर ब्रह्म की स्, त्, र् ,य्, चार पूर्व तथा र्, क्,, ट्, तीन पश्चात् इन सात व्यंजन रूप भूत क्षरों में व्याप्ति हुई है । यहाँ अकार रूप अक्षर इन सात व्यंजनों का धारक है । इसी प्रकार "हरिणा", "घर्षण" इत्यादि में मूर्धन्य वर्णो की प्रयत्न महिम से क्षर में विभूति संधि है ।

२- योग - योग के दो भेद है, जिनमें प्रथम संश्लेष तथा द्वितीय सम्परिष्वङ्ग ।

संश्लेष - योग एकतः संबंध को कहा जाता है अर्थात् व्याप्य का व्यापक में संबंध संश्लेष योग कहलाता है । व्यंजन बद्ध है परन्तु स्वर स्वतन्त्र रहते हुए इनका व्यापक है । जिस प्रकार परमात्मा अव्यक्त, निराकार, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होकर समस्त जगत् को धारण करता है परंतु स्वयं भूत जगत् में व्याप्त नहीं होता । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है --

"मत्स्थयानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः ।"

अर्थात् भगवान् में प्राणि जगत् व्याप्त है परन्तु स्वयं श्रीकृष्ण प्राणियों के आधार में

स्थित नही हैं। प्राणि धार्य है भगवान् धारक । जिस प्रकार महान् + आत्मा = महानात्मा मे संश्लेष रूप एकत: संधियोग है, जहाँ एक का दूसरे में संश्लेषण मात्र है एक का दूसरे में अनुप्रवेश नहीं है । यह संश्लेषण क्षर का क्षर के साथ भी हो सकता है यथा, "मत्स्थानम्", "उत्थानम्" इत्यादि । व्यंजन भेद से संश्लेष सात प्रकार को होता है -अयस्पिण्ड, दारुपिण्ड, उर्णापिण्ड, ज्वालापिण्ड, मृत्पिण्ड, वायुपिण्ड तथा वज्रपिण्ड ।

सम्परिष्वंग - परस्पर बन्धन रूप सम्बन्ध को सम्परिष्वंग योग कहा गया है । यहाँ अक्षर को अक्षर में अनुप्रवेश होकर सम्परिष्वंग संबंध होता है । शारीरिक विज्ञानात्मा तथा प्राज्ञ आत्मा दोनों ही प्राणरूप है, अत: दोनों का परस्पर सम्बन्ध सम्परिष्वंग योग है । इस योग में दानों की सत्ता विद्यमान रहते हुए भी परस्पर अनुप्रवेश सम्मिलन होता है । इसी विधि से शब्दब्रह्मरूप का अन्य स्वर के साथ सम्मिलन सम्परिष्वंग योग होता है । यथा हरीच्छा, विष्णूपासना इत्यादि दीर्घ सन्धि में । यहाँ पूर्व स्वर के पर स्वर सम्मिलन में तीन स्थितियों की संभावना रहती है । यथा -

समंचन में संकोच होकर एकमात्र स्वर की अर्धमात्रा शेष रह जाती है, यथा हरेस्व, सुरेऽर्पित: इत्यादि आदि पूर्वरूप सन्धि में **अंग प्रवेश** होकर अन्य स्वर के उदर में दूसरे स्वर का प्रवेश हो जाता है,

जैसे - भानूदय:, हरीश: इत्यादि दीर्घ सन्धि में ।

अङ्गक्षति - में अत्यन्त सामीप्य होने पर स्वर का एक अंग ही नष्ट हो जाता है, जैसे - प्रत्युपकार:, वृत्यनुप्रास: आदि यण् संधि में ।

(२) निरूपक भेद के पश्चात् सन्निकर्ष भेद पर विचार करते हैं —

यही शब्दब्रह्म का सन्निकर्ष की दृष्टि से द्वैविध्य है - संक्रान्ति: और संहिता ।

वर्णान्तर के विच्छेद से युवात विभूति योग ही संक्रान्ति सम्बन्ध कहलाता है इसी प्रकार संश्लेष तथा सम्परिष्वंग एक प्राण से सम्बन्ध संहिता कहलाता है ।

(३) आश्रय भेद से- स्वर तथा व्यंजन रूप भेदों को संन्धि का आश्रय भेद कहा गया है ।

१- स्वर सन्धि संहिता में ही होती है अर्थात् दो स्वर वर्णों का एक प्राण से सम्बन्ध होने पर स्वर सन्धि कहलाती है । यथा अध्यधि, सत्यर्थे इत्यादि में दो स्वरों की संहिता होने पर पूर्वस्वर का

उत्तरार्द्ध, परस्पर का पूवार्द्ध बन जाता है अर्थात् इकार नष्ट होकर अर्धमात्रारूप शेष रहकर स्वर के वैभव से विहीन होकर यकार रूप व्यंजन में परिवर्तित हो गया ।

२- व्यंजन सन्धि - अन्याक्षर से निगृहीत व्यंजन का अन्याक्षर द्वारा निग्रहण व्यंजन सन्धि है । यथा "एतदाकारः", यहाँ जश्त्वरूप व्यंजन संधि के पश्चात् तकार ही दकार होकर आकार में अपना निग्रहण कर लेता है और आकार का आश्रय प्राप्त करता है ।

(४) **बलभेद से** - संधि दो प्रकार की होती है -- १. आरम्भक एवं २. विशेषक ।

१-आरम्भक - वर्ण स्वरूप की उत्पत्ति में विनियुक्त बल आरम्भक होता है । यह पाँच प्रकार का है --

स्वरोपधायक - बल से एक ही अका एवं उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित से तीन प्रकार का बन जाता है ।

अंगोपधायक - बल से एक ही अकार ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से तीन प्रकार का होता है ।

स्पर्शोपधायक - बल के कारण अ, ऽ, अ , ग , क , ह इत्यादि वर्ण धाराएँ बनती है ।

स्थानोपधायक - बल के कारण विभिन्न वर्णधाराओं का स्वरूप वर्णोपादान - भूत वायु के द्वारा ग्रहण किया जाता है । यथा कण्ठ्य, ओष्ठ्य, तालव्य, दन्त्य इत्यादि ।

नादोपधायक - बल भेद के कारण उपांशुवाक्रूप मध्यमा वाक् वैखरी वाक् में परिणत हो जाती है ।

२-विशेषक - बल की दृष्टि से विचार किया जाय तो वह भी पाँच प्रकार का है । जैसा कि कहा गया है -

वर्णागमोवर्णविपर्ययस्तल्लोपस्तदादेशः इमे विकाराः ।
स्थिति प्रकृत्येति च पञ्च सन्धेः फलानि वर्णद्वयसंनिकर्षे ॥

अर्थात् आगम (उपजनक), उपघातक (लोप), विक्षेपक (विपर्यय), विशेषाधायक (आदेश), निरोधक (प्रकृतिभाव)

आगम - "प्रयत्लोजनाद वर्णागमः" अर्थात् प्रयत्लोजन बल से प्रतिध्वनि रूप वर्णागम अथवा उपाजनक रूप विशेषक बल होता है, यथा-रामात् त्, तस्मात् त् । यहाँ बलवान संयोग से उत्पन्न वर्ण के समान प्रतिध्वनित एक विभागज वर्ण "त्" की उत्पत्ति हो जाती है और उस

विभागज वर्ण का यति द्वारा विच्छेद होने पर ही पूर्व स्वर से निगृहीत होने पर उच्चारण होता है ।यह आगम पदान्त में हुआ है और इसी प्रकार अपदान्त में भी उपजनक वर्णागम होता है यथा— स्तुत्यः, आत्मा, वर्त्म इतयादि । यहाँ पूर्वस्वर के आघात से पर स्पर्श वर्ण निगृहीत होकर प्रतिध्वनि होता है और द्वित्व हो जाता है, अर्थात् उसमें एक वर्ण की उपजनक रूप आगम हो जाता है ।

वर्णविपर्यय - वर्णों के विशकलन से वर्णविपर्यय अर्थात् स्थिति परिवर्तन होता है, यथा - "अर्क्षहिणी", "प्रौढिः", "प्रौहः" इत्यादि रूपों में वर्णाविपर्यय से वकार का सम्प्रसारण होकर सन्धि होती है । यहाँ अक्ष तथा वाहिनी की सन्धि करते समय "इग्यणः" सम्प्रसारणम् से वकार को सम्प्रसारण, "वाह उठ्", तथा "सम्प्रसारणाच्च" से उठ् तथा पररूप एकादेश होकर अक्ष तथा उहनी, तत्पश्चात् वृद्धि होकर "अक्षौहिणी" रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार "पश्यतीति पश्यः" का ही वर्णविपर्यय होकर "कश्यपः" रूप बना है । वेद विज्ञान के अनुसार पृथिवी मण्डल का पृष्ठ भाग कूर्माकार है उस पर से समस्त आकाशमण्डलस्थन सूर्य-तारामण्डल इत्यादि को जो देखता है, वही पश्यक है ।यही "पश्यक" शब्द निरूक्त प्रक्रिया से बनता है । इसी प्रकार "ओम्" में अ तथा उ का परस्पर स्थान विपर्यय हो जाने से ओम् का "बम" बन जाता है -

दक्ष प्रजापति के मुख से "बम्-बम्" निसृत हो गया और वही शब्द भगवान् शिव को प्रिय हुआ ।

लोप - बलोपघात से जिस प्रकार वर्णागम होता है तथा बलोपघात से लोप भी होता है । यथा— उद् उपसर्गपूर्वक स्थानम् तथा स्तम्भनम् में प्रयत्नोघात से सकार का लोप हो जाता है और "खरि च" से उत्थानम् और उत्तम्भनम् रूप बनते हैं ।

वर्णादेश - आरम्भक बल में जहॉ विशेषक बल के उदय से आगम, लोप तथा स्थानपरिवर्तन रूप विपर्यास एक साथ होता है, उसे आदेश कहते है । इस वर्ण विकार में कहीं वर्ण के गुण का नाश, किसी वर्णका आगम, किसी का विपर्यास होता है ।

विशेषक बल अनेक प्रकार का होता है और उसका, प्रत्येक भेद पुनः नाना प्रकार का हो जाता है, इनमें प्रमुख है - "गति" । गति की तीन विशेषताएँ है - द्रुति, सम व प्लुति । जैसे - "शुष्क :" में , निष्ठा के तकार को ककार हो जाता है, "पक्वः" में, तकार प्लुति के कारण वकार हो जाता है तथा "कृष्टः" में समसाम्य के कारण तकार टकार में परिवर्तित होकर आदेश को

सिद्ध करता है। यद्यपि लोक व्यवहार में इस प्रकार के रूप प्रचलित थे इसलिए पाणिनी ने इनके नियम बना दिये, परन्तु नियमत: यहाँ उच्चारण में द्रुति, प्लुति और समसाम्य रूप कारण है।

प्रकृतिभाव - जहाँ स्वरूप प्रदर्शित करना ही अभीष्ट है तथा "प्रकेंषण गृहीतत्वात् प्रगृह्य:" अर्थात् प्रकृष्ट रूप से गृहीत होने के कारण प्रगृह्य कहलाता है । यद्यपि विकार निर्मित्त के स्थित होने पर भी प्रगृहीत होने से स्वरूप विकृति नहीं होती, यथा-हरी एतौ, विष्णू इमौ, द्रव्ये इमे इत्यादि ।

इस प्रकार पं० मधुसूदन ओझा ने इस जगत् को अपने शताधिक ग्रथों की अमूल्य सम्पत्ति प्रदान करके वैदिक सत्यविद्या, वेदविज्ञान की वास्तविकता से अवगत कराया है । इस महान् विभूति के लिए म०म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने भगवत्प्रेरणा ही बताया है और कहा है कि जब जब वैदिक सत्यविद्या अज्ञान धूम से आवृत होने लगती है और मोहवश जनता का विश्वास हटने लगता है तब तब परमेश्वर की प्रेरणा से कोई दिव्य शक्ति प्रार्दुभूत होती है यथा गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है --

यद्रा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

पं० मधुसूदनओझाकृत निरूढपशुबन्ध विवेचनम्

-डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, मिश्रः
महाराज-संस्कृत-कालेजः
जयपुरम्

समीक्षाचक्रवर्तिना पं० मधुसूदन यज्ञविज्ञानविभागे "निरूढपशुबन्धः" प्रणीतः । नवपृष्ठात्मको ऽयं ग्रन्थः नभ-ईशाकाशनयने वैक्रमाब्दे जयपुरतः प्रकाशनपथमुपगतः । स्वकीयान्यग्रन्थेषु यथाऽयं महाशयो वैज्ञानियीं व्याख्यामाधारीकृत्य प्रतिपादनं कृतवान् तथा निरूढपशुबन्धे किमपि न प्रतिपादितवान् , अपितु याज्ञिकीं व्याख्यामाधारीकृत्य प्रयोगप्रधान-विश्लेषणं चकार , तस्यैवात्र विवेचनं प्रस्तूयते -

अयं पशुयाग : आहिताग्नि प्रतिसग्वत्परं कार्य : । तत्र सकृत्, द्विर्वा षड्वारं वा । यदि सकृत्, वषर्तौ; यदि द्वि :, उत्तरायणदक्षिणायनयोरारम्भे; यदि षट्कृत्वः ऋतावृतौ । तत्रा—प्यमावास्ययां पूर्णिमायां वा अनुष्ठानम् । पशुयागस्यास्य निरूढपशुबन्ध इति संज्ञा याज्ञिकानाम् । आहिताग्निस्सन् संवत्सरे सकृदवश्यमिमं यागमनुतिष्ठेत् । अन्यथा प्रत्यवायी स्यात् । यावज्जीवं चैवमनुष्ठानम् । अस्यं ब्रह्मणग्रन्थेषु कुत्रापि स्वातन्त्र्ये प्रयोगविधानं न दृश्यते ।

सर्वेषां पशुयागानां प्रकृतिभूतोऽग्नीषोमीयः पशुयागः। स सोमयागाङ्गभूतस्तदङ्गमध्ये पठितः। तत्रैव च सर्वेषां पश्वङ्गानाम् आम्नानमस्ति। तत एव च धर्मा (अंगानि) निरूढपशुबन्धेऽस्मिन् अतिदेष्टव्याः। शास्त्रकाराणामाशयोऽप्येमेव। परं सर्वेऽपि श्रौतसूत्रग्रन्थाः अविशेषेणमेव पशुयागं साङ्ग निरूपयन्ति। एतस्मादेव चाग्नीषोमीये धर्माननतिदिशन्ति। तत्र च कारणम्हविर्यज्ञत्वेनास्य सोमाङ्गताग्नीषोमीयपथोः पूर्वमनुष्ठेयतया पूर्वानुष्ठेय एवं सर्वाङ्गसाहित्येन निरूपणीय इति । तदनुसारेणैवास्माभिरपि सांगोपांगोऽयमेव कात्यायनापस्तम्बबौधायनादि - मतान्यंगीकृत्य निरूप्यते ।

अत्र पशुः छागः । सोऽपिन साक्षात् । किंतु वपा-हृदयाद्यङ्गद्वारैव। देवता इन्द्राग्नी, सूर्य :, प्रजापतिर्वा । षट् ऋत्विजः - अध्वर्युः, प्रतिप्रस्थाता, होता, मैत्रावरुण :, (प्रशास्ता) ब्रह्मा, अग्नीच्च । तत्र प्रतिप्रस्थाता अध्वयोनन्तरस्तत्सहायभूतः। मैत्रावरुणो हेतुः । इष्टिषु होमकाले

पठनीयाः। पुरोनुवाक्या याज्याश्च होत्र एकेनैव पठयेरन । पशुयागे तु पुरोनुवाक्या मैत्रावरुणेन वक्तव्याः। तदर्थमेव तत्र तस्य वरणम्। याज्यास्तु होत्रा। प्रैषा अपि मैत्रावरुणेन। अग्रे सोमयागादावपि अस्मिन्नेव कार्ये नियुज्यते सः।

तत्र पशुयागमारभमाणा आदावाग्नावैष्णवेष्टिमिष्टितन्त्रेणानुष्ठाय तत आहवनीयव यूपाहुतिसंज्ञकामेकामाहुतिं[१] हुत्वा यत्र यूपार्हो वृक्षोऽस्ति तत्र अध्वर्युब्रह्मयजमानाः तक्षा च गच्छेयुः। गत्वा च साक्षादेव भूसंबद्धं बहुपर्ण सुषिरादिदोषरहितं पलाशखदिरबिल्वरोहित[२]-कानामन्यतमं वृक्षं तक्ष्णा छेदयित्वा स्वयं वा छित्त्वा छेदनस्थाने भूमिष्ठवृक्षखण्डे स्थाण्वाहुतिं हुत्वा यावत्परिमाण ऊर्ध्वबाहुर्यजमानो भवति तावत्परिमाणमवशेष्य, अविशिष्टमुपरिभागं छित्त्वा प्रास्येत् । स वृक्षखण्डो यूपशब्दाभिधेयो भवति । तं यज्ञभूमिदेशमानीय मूलतोऽरत्नि[३]मात्रमुत्सृज्य तदुपर्यग्रपर्यन्तं तक्षकिद्वारा तष्ट्वा अष्टकोणयुतं तं कुर्यात्ऽ तक्षणे प्रथमपातिनं शकलं स्वर्वर्थ[४] गृह्णीयात्। छेदनकाले प्रथमपातीशकल एवं स्वर्वर्थ इति कात्यायानः। यूपस्य-अग्रभागे चषत्लं परिधापयेत्। तत्र यूपाग्रं तक्षणेन तनूकृत्योपरि द्वयङ्गुलं यथा अवलोक्यते तथा परिशिष्य चषालः पिष्यापनीयः । ततो वेदिनिर्माणं कुर्यात् ।

अग्निप्रणयनम्

वेद्याः पूर्वस्यां दिशि उत्तरवेददि निर्माय तन्मध्ये नाभिं करोति । तत्रैवाग्नि : स्थाप्यते । ततस्सम्भारान् तन्मध्ये न्युप्य वेदिं उत्तरवेदिं च प्रोक्ष्य आहवनीयादुत्तरवेद्यर्थमग्निं प्रणयेत् ।तदित्थम्-आहवनीये भूयिष्ठं काष्ठं निक्षिप्य प्रज्वलय्य जवलन्तमग्निं वालुकापूर्णे कस्मिंश्चित् पात्रे गृहीत्वा अध्वर्युरुत्तरवेदिदेशं गत्वा तत्रोरुवेदिमध्यगताया नाभेत्तपरि सम्भाराणामुपरि अग्निं निक्षिप्य पात्रगतसिकता अपि अग्नेरुत्तरभागे न्युप्य द्वादशगृहीतेन आज्येन जुह्वा पूर्णाहुतिं जुहुयात् । अतः परमुत्तरवेदिगताऽग्निरेव आहवनीयपदवाच्यो भवति। अत आहनीये कर्त्तव्यानि कर्माण्यस्मिन्नेवाग्नौ क्रियेरन्। यतोऽस्य प्रणयनं कृतंस गार्हपत्यो भवति । अर्थात् पूर्वाहवनियो गार्हपत्यशब्दवाच्य इतः परं भवति । अतो गार्हपत्ये विहितानि कर्माण्यत्रैव कर्त्तव्यानि ।

---

१. यूपमुद्दिश्य गमिष्यता होतव्येति यूपाहुतिः ।
२. व वान्तरजातीयो वृक्षः ।
३. चतुर्विंशत्यङ्गुलोऽरत्निः।
४. पशोरंजनार्थः स्वरूः ।

ततः कुशसमिदाद्याहरणमरण्यादेः। इध्मकाष्ठानि त्रयोविंशति संख्याकानि । काशाः प्रस्तरार्थाः। विधृत्यर्थे द्वे इक्षुशलाके। तत अग्नयोरुत्तरतः पाशुकपात्राणि अधोलिखितानि प्रयोक्तव्यानि। तानि च—

१. स्फ्यः
२. अग्निहोत्रदृवणी
३. वसाहोमहवनी
४. जुहूद्वयम्
५. उपभृद्द्वयम्
६. पृषदाज्यधानी
७. आज्यस्थालीद्वयम्
८. हृदयशुलाख्यं कण्टकम्
९. छुरिका
१०. कुम्भी
११. प्लक्षशाखा
१२. वपां श्रपणीद्वयम्
१३. औदुम्बरो दण्डः
१४. रसनाद्वयम्
१५. ,स्रुवश्च।

पात्राणाममीषां दर्शपूर्णमासवत्प्रोक्षणादिकं कृत्वा प्रयाजाद्यर्थ जुह्वादिषु पात्रेषु आज्यं पुश्दाज्यं च गृहीत्वा आज्यपूर्णानि पात्राणि वेद्यामासाद्य यूपनिखननार्थमवहं कुर्यात्। अवहरवातस्तथा भवेत् यथा यूपस्याधोभागोऽरत्निपरिमाण आच्छाद्येत। तस्मिन्नवटे यूपं पूर्वनिर्मितं निखाय आज्येनाड्क्त्वा चषालमप्याज्याक्तमेव परिधाय्य कुशनिर्मितया त्रिसरया रज्ज्वा आवेष्ट्य यागीयं काणत्वादिदोषरहितं उत्पन्नदन्तं पुमासं पशुं (अजम्) स्नापयित्वा तं यूपसमीपमानीय यागीयदेवताया उद्दिष्टायै उपाकुर्यात् । उपाकरणं नाम देवतामुद्दिश्य पशोरुपस्पर्शनपूर्वकं निर्देशः । "अग्नेय त्वा (इन्द्राग्निभ्यां त्वा) जुष्टमुपाकरोमि" इत्यादिः। तच्च हस्ते कुशद्वयं प्लक्षशाखां च निक्षिप्य कर्तव्यम् । अत्र यूपांजनोच्छ्रयणपरिव्याणेषु क्रियमाणेषु पूर्वरु होत्रे प्रैषं दत्वा तेन तत्तत्संबन्धिनीष्वृक्षु अनूच्यमानास्वेव अध्वर्युस्तानि तानि कर्माणि कुर्यात्। कर्मस्वेषु क्रियमाणेषु यजमानो यूपं स्पृशन्नेव तत्समीपे तिष्ठेत् ।

ततोऽध्वर्योः प्रैषं श्रुत्वा होतरि अग्निपन्थनीया ऋचोऽनुब्रुवति सति अध्वर्युररणीतः अग्निं मथित्वा तमग्निमाहवनीये प्रक्षिप्य रशनया पशुं यूपे बध्नीयात् । अत्र अग्निमन्थनं मथितस्याग्नेराहवनीये प्रक्षेपश्च केवलादृष्टार्थः। होमाद्यर्थाग्नेः पूर्वमेव सत्वात् प्रयोजनान्तरादर्शनाच्च । ततस्तं पशुमद्भिः प्रोक्षणीभिः प्रोक्ष्य आज्यलिप्तेन स्रुवेण समज्य तत्रैव पशौ बद्धे तिष्ठति प्रयाजान् यजेत् । इष्टिषु प्रयाजानूयाजाना पुरोनुवाक्याः प्रैषा वा न

सन्ति। केवलं याज्या एवं ताश्च होत्रैव पठनीयाः । पशुषु तु प्रैषास्सन्ति । ते सर्वाश्च पुरोऽनुवाक्या मैत्रावरुणाख्येनर्त्विज्जा पठनीयाः। स तिष्ठन् औदुम्बरं दण्डं ललाटसम्मितं यजमानदत्तं धारयन्नेसेष प्रैषादीक पठेत्। पशुयागे चैकादशप्रयाजाः । तत्रास्मिन् समये दश. प्रयाजाः वपोद्धरणानन्तरमेकश्च प्रयाजा अनुष्ठेयाः । तेषु देवताक्रम एवं भवति—

१- समिध :	२- तनूनपात् नराशंसो वा
३- इड :	४- बर्हिः
५- द्वारो देव्यः	६- दैव्यौ उषसानक्ता
७- दैव्यौ होतारौ ।	८- तिस्रो देव्य :
९- त्वष्टा	१०- वनस्पतिः
११- स्वाहाकृत्यश्च क्रमेण ।	द्रव्यमाज्यम्

पशुसंज्ञपनम् :

ततः[१] पर्यग्निंय कृत्वा आग्नीध्रः होत्रा अधिगुप्रैषाख्येषु मन्त्रेषूच्यमानेषु आहवनीयादुल्मुकमादाय पूर्वं गच्छेत् । तस्य पश्चाच्छ पिता पशुं नयेत् । एवमुभयोरपि शामित्रदेशं गतयोः आग्नीध्रास्तत्रोल्मुकं निधाय प्रत्यावर्तेत । शमिता त्वावृते देशे पशुं प्रत्यक्शिरसमुदीचीनपादं निपात्य संज्ञपयेत्[२]। ततस्संज्ञप्तेहोमं प्रायश्चित्तहोमांश्च हुत्वा वपाश्रपण्यावादाय, अध्वर्युर्यजमानानुमतः पशुसमीपं गत्वा पशवङ्गानि जलेन आप्याय्य पशोरुदरं दक्षिणपार्श्वे विशस्य (विदार्य) अन्तरामाशययाच्छाद्य स्थिंता श्वेतरक्तामतिमृदुलां तनीयसीं त्वक्सदृशीं वयामुत्कृत्य तां वपाश्रपण्यामेकस्यां प्रसार्य, अन्यथा आच्छाद्य यजमानेन अन्वारब्धोऽ ध्वर्यराहवनीयसमीपमागत्य प्रतिप्रस्थाने वपायुते वपाश्रपण्यौ दद्यात् ।

वपाहोम : :

ततस्तस्य संज्ञपितपशोः वपामलोहिनीं सुश्रृतां श्रपयित्वा वेद्यां पूर्वोपस्थापितप्लक्षशाखया उपरि तामासाद्य अवशिष्टमेकादशं प्रयाजनमनुष्ठाय आज्यभागौ चेष्ट्वा वपामादाय उपस्तृतायां जुहवां तामखण्डितां निक्षिप्य, अभिद्यार्य, हिरण्यशकलानि प्राप्य, आश्रावणादिषु कृतेषु वपां समग्रामेवाध्वर्युराहवनीये जुहुयात् । इन्द्राग्नी, सूर्यः प्रजापतिर्वा विकल्पेन देवता भवन्तीति प्राङ्निरूपितमेव। ततो वपाश्रपण्योराहवनीये प्रक्षेप : कार्यः -। ततस्सर्वेषमृत्विजां पत्नीयजमानयोश्च चात्वाले हस्तप्रक्षालनम् ।

---

१. आहवनीयाज्ज्वलंतमंगारमादाय तस्य पशोस्समन्तात् भ्रामणम् ।
२. घातमन्तरा प्राणसंरोधनादिना प्राणवियाजनं संज्ञपनम्

पशुपुरोडाशयागाः :

ततस्तद्देवताकमेवैकं पशुपुरोडाशयागं कुर्यात् । तदनुष्ठानं पौर्णमासीगताग्नीषोमीय पुरोडाशवदेव । पुरोडाशसंबन्धिहविर्हिर्निर्वापाकाल एवं पशोर्हृदयादीन्यङ्गान्युत्कृय शामित्रेऽग्नौ पूर्वसज्जिते मृद्भाण्डे पचेत् । पावकाले हविषामसाङ्कर्याय चिह्नं कृत्वैव पाकः कर्त्तव्यः । तानि चाङ्गानि—

१-हृदयम्, २-जिह्वा, ३-वक्षः, ४-यकृत् (कालखण्डाख्यं मुदुतरं मांसम्) ५-६वृक्यौ, (पार्श्वस्थौ पिण्डौ), ७-सव्यं बाहुमूलम्, ८-९पार्श्वद्वयम्, १०-दक्षिणा श्रोणिः, ११-गुदस्य तृतीयोंऽशः, इत्यादीनि सन्ति ।

अंगानामेतेषां पाको यदा प्रचलति, तदा ऋत्विजः पशुपुरोडाशयागमनुतिष्ठेयुः । तदीयामिडां पुरोडाशरूपां प्रतिप्रस्थातृवर्जं सर्वऋत्विजो यजमानसहिता भक्षयेयुः ॥

हृदयाद्यङ्गयागः :

तदनन्तरं पाकभाण्डात् पक्वान्यंगान्युद्धृत्य स्वधितिना (छुरिकया) च्छित्वा, अवदाय, जुह्वां निक्षिप्य, आश्रावणादिषु कृतेषा आहवनीये जुहुयात्। अत्र हविषां जुह्वामवदानकाल एवं पशुरसे यूपाख्ये मेदो[1] निधाय तेन जुह्पभृतो : हवि : पूर्णयो मुखमाच्छादयेत् । तदैव प्रतिप्रस्थाता प्रधानयागीय याज्याया अर्धर्चपाठकाले वसाहोमहवण्यां गृहीतां [2]वसामाहवनीये जुहुयात्। तदनन्तरमेव हृदयाद्याहुतिरिति बोध्यम् । हृदयादीन्येकादशाङ्गानि जुहुस्थानि सकृदेव होतव्यानि ॥

ततो दर्शवत् नारिष्ठहोमान् हुत्वा पृषदृज्य स्थाल्यां पृषदाज्यं गृहीत्वा वनस्पतये (देवतादिशेषाय) हुत्वा स्विष्टकृदर्थ पूवमेवोपभृत्यवदाय स्थापितान्यङ्गानि जुह्वां कृत्वा प्रैषाश्रावयाद्यतन्तरं स्विष्टकृतेऽग्नये हुत्वा इडां यथावदवदाय सर्वऋत्विजस्य यजमाना भक्षयेयुः ।

अनूयाजाद्यनुष्ठानम् :

ततोऽनूयाजा एकादश अनुष्ठेयाः । ते च निम्नांकितितास्सन्ति --

---

१. जीर्णपटसदृशं हृदयवेष्टनं मेदः ।
२. पाकभाण्डे स्थितस्स्नेहात्मको रसोसवसा ।

१- देवं बर्हि :	२- देव्यो द्वारः
३- देव्यौ उषसानक्ता	४- देव्यौ जोष्ट्र्यौ
५- देव्यौ ऊर्जौहुत्यौ	६- दैव्यौ होतारौ
७- तिस्रो दैव्यः	८- देवो नाराशंसः
९- देवो वनस्पतिः	१०-देवं बर्हिः
११- देवोऽग्निः स्विष्टकृत्।	इति क्रमेण देवता ।

अत्र पृषदाज्यं द्रव्यम् । अनूयाजानुष्ठानकाले प्रतिप्रस्थाता गुदकाण्डस्य तृतीयमतशं पूर्वमवशेषितमेकादशधा च्छित्वा शामित्रादग्निमादाय उत्तरस्यां वेदिश्रोण्यां स्थापयित्वा तस्मिन्नेकैकं गुदकाण्डखण्डं हस्तेन जुहुयात् ।

ततो यागार्थ पूर्वविशस्तस्य पशोः पुच्छमसिना च्छित्वा आदाय तेन पत्नी संयाजाननुतिष्ठेत्। तत्र प्राकृत्य एवं देवताः। ततः प्रकृतितोऽतिदिष्टानामैष्टिकानां यथासम्भवमनुष्ठानमङ्गानाम् । ततो यजमानो यूपमुपस्थाय संस्थाजपं कृत्वा कर्म समापयेत् । पशुयागोऽयं दार्शिकपयोयागविकृतिभूतः। अतोऽस्मिन् तेषामेव धर्माणामतिदेशोऽङ्गीकर्त्तव्यः। शम्।

"महर्षि कुलवैभवम्" में ऋषियों की वेदकर्तृता एवं वेदवाङ्:नित्यता विषयक विचार

-भल्लूराम खीचड़, (आर.ई.एस.)

वेद हिन्दू धर्म के सर्वस्व है, वे हमारे सबसे प्राचीन ग्रंथ है । भारतीय संस्कृति का मूलस्रोत वेद ही है । जैसा कि कहा ही है -

"योऽनधीत्य द्विजौ वेदमन्यत्र कुरूते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥"

अर्थात् जो ब्राह्मण वेद का अध्ययन न करके अन्य विषयों का ही अध्ययन करता है, वह जीते जी ही शूद्रत्व को प्राप्त होता है । इस श्रुति से ही वेद की महत्ता का उद्घोष स्पष्ट हो जाता है । ये अपौरूषेय वेद त्रिकालदर्शी ऋषियों के शाश्वत सिद्धान्त स्वरूप ऋचाओं के संग्रह है । जिन्होंने सृष्टि की प्रथमावस्था में घोर तपस्या के माध्यम से ईश कृपा प्राप्त कर, सूक्ष्म, व्यवहित प्रत्येक पदार्थ के लक्षणों का प्रत्यक्ष-दर्शन कर, इस अपूर्व ज्ञान का शेष लोगों को उपदेश दिया वे ही वेद के आचार्य "ऋषि" कहलाते है । ये ही ऋषि मन्त्रों के कर्ता और द्रष्टा माने जाते हैं क्योंकि वेद के मन्त्रों की शब्द-रचना इन महर्षियों के द्वारा की गई, इसलिए कर्ता तथा वेदों में निहित मूलभूत गूढ़ ज्ञान का ईश्वर अनुग्रह से प्रत्यक्ष करने के कारण द्रष्टा माने जाते हैं । अतः जो वेद के आचार्य ऋषिमण हैं वे वेद के मंत्रो के कर्ता ही नहीं वरन् द्रष्टा भी है ।

अभिप्राय है कि कठिन तपस्या के द्वारा परमेश्वर से आशीर्वाद प्राप्त करके इन प्रतिभा के धनी महर्षियों ने स्वर्ग, अपूर्व और देवतादि का एवं समस्त संसार के मूलतत्त्व का साक्षात् दर्शन किया, जिनका साक्षात् दर्शन सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता है । प्रत्यक्ष करने के अनन्तर उन मूलभूत तत्त्वों का इन ऋषियों ने अपने शब्दों द्वारा लोगों को उपदेश दिया । वह शब्दसमुदाय ही मन्त्र हैं ।

प्रश्न यह उठता है कि जिन वस्तुओं को आधुनिक युग के हम लोग नहीं देख सकते है उनको पूर्वकाल में किसी ने देखा था - यह आज का विद्वत्-समाज कैसे स्वीकार करेगा ? परन्तु यह संशय करना अनुचित है-क्योंकि स्र्वगादि सभी सूक्ष्मदर्शी तत्वों का प्रत्यक्ष मात्र स्वयं ईश्वर ही कर सकता है, इस तथ्य को ईश्वरवादी विचारधारा के समर्थक स्वीकार करते हैं ।

योगशास्त्र में लिखा है कि -- "प्रवृत्या लोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्" "प्रातिभाद्वा सर्वम् अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्मवस्तु अथवा अन्य चीज से ढकी हुई वस्तु और सैकडों कोस दूर की वस्तु का भी साक्षात् दर्शन योगी अपनी योगशक्ति से कर लेता है ।"

अब यह शंका उत्पन्न होती है कि "योग या तप के माध्यम से सूक्ष्मभूतों के धर्म का प्रत्यक्ष होता है वह "न्याय-अन्योन्याश्रय" दोष से ग्रस्त है । क्योकि योग-तपादि के द्वारा सिद्धि मिलती है इस स्द्धिान्त को भी सृष्टि की प्रथमावस्था के लोगों ने कैसे जाना ? और बिना समझे उन कार्यों में उनकी प्रवृति कैसे हुई ? सूक्ष्म पदार्थों के दर्शन के पश्चात् ही तपस्या या योगादि की तरफ मनुष्य अग्रसर होता है और तपस्या या योग के बिना सूक्ष्म धर्मों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता - यही "अन्योन्याश्रय" दोष है, जो कि एक महान् दोष है ।

परन्तु इस प्रकार की आशंका करने वालो को यह ज्ञान होना चाहिये कि पहले ही कल्प में जिन ऋषियों को गुण धर्मों का साक्षात्दर्शन हो चुका था, उस ज्ञान का संस्कार स्मृति रूप रहता है और दूसरे कल्प में तपस्या या योग कार्यों में प्रवृत्ति करा देता है । मनुस्मृति में भी कहा है—

"यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥"[४]

अर्थात् एक ऋतु के बाद जो दूसरी ऋतु आरम्भ होती है उस आरम्भ होने वाली ऋतु की सब रचना ठीक पूर्व वर्ष की रचना के समान होती है । यही क्रम मानव वर्ग में भी है । पूर्व कल्प में किये गये कर्मो के संस्कार ही मनुष्य को द्वितीयकल्प में मनुष्य को उन्हीं कर्मो की ओर अग्रसर कर देते है क्योंकि महर्षिगण आरम्भ से ही तपसया में प्रवृत्त थे और तपस्या के परिणाम स्वरूप ही अनके हृदय में वेदों का आविर्भाव हुआ था जैसा कि तैत्तिरीय आरण्यक में कहा ही है—

"अजान ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्
तद् ऋषिणामृषित्वम् ।"[५]

महर्षिगण आरम्भ से ही तपस्या में प्रवृत्त थे और तपस्या के परिणामस्वरूप ही उनके हृदय में वेदों का आविर्भाव हुआ था, इसलिए श्रुति में विश्वास रखने वालों को तो ऐसी आशंका का अवसर ही नहीं आना चाहिए ।

पहले जो कहा जा चुका है कि ऋषि मन्त्रकर्ता भी कहे जाते है और मन्त्रद्रष्टा भी । तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋषियों को मन्त्रों को कर्ता कहा है—

"यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण ।

तां दैवीं वाचं हविषा यजामहे, सा नो दधातु सुकृतस्य लोके ।"

अर्थात् मंत्रों को बनाने वाले, मन रोकने में समर्थ, देव-भाव को प्राप्त ऋषियों ने अपने तप और श्रम से जिस दैवी वाणी को प्रकट किया, उस दैवी वाणी को हम हविष् के द्वारा यजन (जन) करते हैं, वह हमें पुण्यकर्ताओं के लोक में ले जावे । इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय आरण्यक में भी कहा है—

"नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो

मा मामृषयोमन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादु-

र्माहिमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम् ।"[६]

तातपर्य यह है कि "मन्त्रों को बनाने वाले मंत्रो के स्वामी ऋषियों को मेरा प्रणाम है । मंत्रों के स्वामी ऋषि मुझे अपने से दूर नहीं करे अर्थात् मुझे अपना ज्ञान दें ओर मै भी उन मंत्रों को बनाने वाले और मंत्रों के स्वामी ऋषियों को कभी भी दूर न जाने दूं ।" "यामृषय" आदि श्रुति में वेदवाणी को "देवीवाक्" कहा गया है अर्थात् तत्त्वों को देखने वाले, वेदों को पढने वाले, पढाने वाले विशेष विद्वान् ही देव कहे जाते है और उनकी वाणी होने के कारण यह वेदवाणी "दैवीवाक्" है यही मत तर्कयुक्त है । वेद बिना पुरुष व्यापार के ही बन गये इस प्रकार की बात कहने वाले "अर्पारूषेवादियो" का मत ठीक नहीं हो सकता । क्योकि वाक्य रचना शरीर बुद्धि और इन्द्रिय व्यापार से होती दिखायी पडती है, वह पुरुष के व्यापार के बिना अपने आप नहीं हो सकती है । इन प्रसङ्गों से ही ज्ञात होता है कि मन्त्रकर्ता ऋषि ही थे क्योकि वेद जैसी एक क्रमबद्ध वाक्य रचना बिना पुरुष प्रयत्न के अपने आप नहीं हो सकती है ।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि शास्त्र में वाणी के चार भेद माने गये है—

"परावाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।

हृदिस्था मध्यमाज्ञेया वैखरीकण्ठदेशगा ॥"

परा वाणी आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप है । पश्यन्ती में शब्द और अर्थ एक रूप में मिले रहते है, मन ही मन शब्दों द्वारा विचार होता रहता है उसे मध्यमा कहते है और जो वाणी

बोली जाती है जिसे दूरस्थ लोग भी सुन सकते है वह वाणी वेखरी है इनमें से वैखरी में मनुष्य प्रयत्न की आवश्यकता स्पष्ट ही है । मध्यमा भी बुद्धि प्रेरणा से होने के कारण "पौरुषेयी" कहला सकती है किन्तु परा व पश्यन्ती में पुरुष को कोई प्रयत्न नहीं होता है । इसलिए सभी वाणी पुरुष साध्य नहीं कही जा सकती है तब तो पश्यन्ती वाक् में स्थित वेदों को पौरुषेय नहीं कहा जा सकता है । इसका उत्तर यह है कि परा-पश्यन्ती वाक् के सम्बन्ध में यहाँ विचार नहीं हो रहा है। परा-पश्यन्ती तो सर्वदा पुरुष प्रयत्न साध्य नहीं है किन्तु जो वैखरीवाणी है वह दूसरों के कानों द्वारा सुनी जा सकने वाली है । ऋग्वेद संहिता में कहा गया है —

"चत्वारिवाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण: ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयवाचो मनुष्या वदन्ति ॥

उसी चौथी वाणी में स्थित वेदों की पौरुषेयता या अपौरुषेयता का विचार किया जाता है और वैखरी को ही यहाँ पौरुषेय कहा गया है। अब यह शंका होती है कि "ईश्वर कृपा से ऋषियों की बुद्धि में वेदों का आविर्भाव हुआ" यह मानने पर यह भी मानना होगा कि कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं जो बिना शब्द के ही हो सके, सम्पूर्ण ज्ञान शब्द रूप में अनुस्यूत रहता है । महावैयाकरण भर्तृहरि ने कहा है --

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते ॥"[१०]

ऋषि की बुद्धि में देवता-विज्ञान के प्रादुर्भाव के साथ ही उस विज्ञान की वाचक शब्दावली भी ईश्वर-कृपा से अवश्य प्रकट हुई होगी । यह शब्दावली ईश्वर की ही देन थी । ऋषियों को अपनी कोशिश से प्राप्त नहीं हुई और वही शब्दावली ऋष्यियों के माध्यम से प्रकट की गयी उसी शब्दावली को हम आज वेदों के रूप में प्राप्त कर रहे है इसीलिए वेद पौरुषेय नहीं है ।

इस संशय का समाधन यह है कि यह मत पश्यन्ती वाणी के विषय में ठीक लगता है क्योंकि परावाक् केवल ज्योतिरूप है और पश्यन्ती शब्द और अर्थ की अविभक्त अवस्था है इसलिए पश्यन्ती में बिना शब्द के अर्थ नहीं रहता किन्तु मध्यमा वाक् में आकर शब्द और अर्थ का विभाग होता है और उसके पश्चात् शब्द का स्मरण होताहै । अर्थज्ञान बालको को भी होता है शब्द न जानने से उसका स्मरण उन्हे नहीं होता है । अब यदि यह कहा जावे कि बालको को ज्ञान "निर्विकल्पक" है यह व्यवहार योग्य नहीं है तो यहाँ यह कहा जा सकता है

कि ऋषियों को समाधि दशा में वेद-ज्ञान की प्राप्ति होती है और समाधि दशा का ज्ञान शास्त्रों में निर्विकल्पक माना गया है; अतः वहाँ भी शब्द व्यापार सम्भव नहीं होता और यदि यह कहा जावे कि समाधि भी दो प्रकार की होती—सविकल्पक और निर्विकल्पक। सविकल्पक समाधि में ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ इसलिए यह ज्ञान सविकल्पक ही था और उसमे शब्द भी अवश्य प्रकट हुए थे, वे शब्द मध्यमा वाक् में थे, वे ही आत्मप्रेरित मन की चेष्टा से वायु द्वारा प्रकट होकर जब वैखरी रूप में आते है जो वाणी का चतुर्थरूप है । इस शब्द सन्निवेश में भी ऋषियों द्वारा जानना सिद्ध नहीं होता । इसका उत्तर इस प्रकार देते है कि जो शब्द ऋषियों की बुद्धि में आये उनको ही ऋषियों ने प्रकट किया । सबके समझने योग्य बनाने के लिए अपने शब्दों का प्रयोग किया । इसलिए वेदों में अभिलाषा, याचना, विलाप, दूसरे को शाप देना, दूसरे की बुराई करना आदि प्रसंग भी मिलते है । ये ऋषियों के वाक्य में ही सम्भव हो सकते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि ईश्वरीय कृपा के रूप मे दिव्य, ज्योर्मिय वेद का ज्ञान, ऋषियों को ईश्वर द्वारा ही प्राप्त हुआ । उसी ज्ञान को ऋषियों ने अपने शब्दों में प्रकाशित किया, जो हमें प्राप्त हुआ यही मानना तर्कसंगत है ।

महर्षि कणाद ने भी वेद की अपौरुषेयता का खण्डन करते हुए कहा है कि — "बेदों की वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक की गयी, वह बिना पुरुष व्यापार के नहीं हो सकती हैं"

"बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेदे"[२२]

"ब्राह्माणे संज्ञाकर्मसिद्धिलिंङ्गम्"

यः और ब्राह्मणों जो "ऐतरे ब्राह्मण". "तैत्तिरीयब्राह्मण" "वाजसनेय ब्राह्मण" आदि संज्ञाएँ है इनसे भी यह सिद्ध होता है कि ये ब्राह्मण श्रुतियाँ ऐतरेय, तित्तिरि, वाजसनि आदि ऋषियों की रचनाएँ हैं। ऐसी अपूर्व वाक्यरचना लौकिक बुद्धि साध्य नहीं है , अतः श्रेष्ठ बुद्धिनिधान सर्वज्ञ ईश्वर वेद का प्रणेता है और ब्राह्मणों में देवतादि की संज्ञा भी मिलती है । ये संज्ञाएँ या नाम रखना भी लौकिक पुरूषों का काम नहीं है, अतः वेद रचना ईश्वरकृत है और कणाद के विचार में वेदों को ऋषि प्रणीत होना ही सिद्ध होता है ।

महाभाष्यकार पतंजलि और निरूक्तकार यास्क भी वेदों की शब्दरचना को स्पष्ट अक्षरों में ऋषिकृत मानते है । महाभाष्यकार पतंजलि "तेन प्रोक्तम्" सूत्र से वेदों की शब्द रचना को ऋषिकृत मानते हैं। "ग्रामे ग्रमे काठकं कालापकं च प्रोच्यते, न च तत्र प्रत्ययो दृश्यते" और उसके आगे "कृतग्रन्थे" इस सूत्र से शब्दों की सिद्धि की है। महाभाष्य में "ननु चोक्तं न हि

च्छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि च्छन्दांसि" ऐसी शंका करके "यद्यप्यर्थो नित्य: या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा आनित्या । तद् भेदाच्चैतद् भवति काठकम् कलापकम् मोदकम् पैप्लादकम्'' से समाधान कर दिया । इस प्रकार नित्य अर्थ रखने वाले शब्द समूह रूपी मन्त्र ऋषियों द्वारा रचित है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि दिव्य ज्ञान रूपी वेद इन्द्रियगाह्य नहीं हो सकते क्योकि ज्ञान नित्य है उसका आरम्भ कहीं नहीं होता और न ही ज्ञानरूपी वेद मनुष्यों द्वारा बनाये जा सकते है क्योंकि ज्ञान का स्वरूप पुरुष प्रयत्न साध्य नहीं है । देवतादि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता । वह तो ईश कृपा से ही होता है । "नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभूवा" इत्यादि श्रुतियों और "अनादिनिधना" इत्यादि स्मृतियों से स्पष्ट रूप से वाक् को ही अपौरुषेय कहा गया है—

"अनादि-निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यत: सर्वा: प्रवृत्तय: ॥"

इस शंका का समाधान यह है कि यहाँ जिस वाक् को नित्या कहा गया है, वह कानों से सुनी जाने वाली वाक् नहीं है यह वाक् तो और ही है । यह वही वाक् है जिसे हम आरम्भ से ही मन, प्राण, वाक् के रूप में सब जगत् का मूलतव कहते है, वह विज्ञान वेदरूप है और उसी के ही "ऋक्, यजु: और साम" रूप होते है । रूपवाले द्रव्य का जो स्थूल स्वरूप हमें आँख से दिखायी पडे.वह उसकी ऋक् है और वह मतवाला, द्रव्य जितनी दूर से दिखाई पड़े, अन्तिम मण्डल उस द्रव्य का साम है । स्थूलरूप और अन्तिम मण्डल के मध्य में उस द्रव्य से निकलने वाले प्राण भरे रहते है, वे सब यजु: है । शतपथब्रह्मण में प्रजापति से भी परे यदि कोई वस्तु है तो वह वाणी ही है ।

"यदि वै प्रजापति: परमस्ति वागेव तत्"

यह नित्यवाक् तो "सर्वलोकरूप" है "त्रिलोकी रूप" है या "सूर्यरूप" है । संसार में जो भी कुछ है सब वाक् ही है "वागेवेदं सर्वम्" ।[१५] अर्थात् स्थावर = जंगम मदार्थ मात्र वाक् का ही प्रपंच है ।

शतपथब्रह्मण की पुरश्चरण श्रुतियों में कहा जाता है कि —

"ऋक् यजु और साम - ये तीन वेद है, इनमें सामने दिखायी देने वाली पृथ्वी ऋक् है, मध्य को अन्तरिक्ष यजुः है और द्युलोक (सूर्यमण्डल) साम है —

"त्रयं वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि"[१६]

"इयमेवर्च: अन्तरिक्षमेव यजूंषि द्यौ: सामानि"

ऋक् और साम इन्द्र है और यजु विष्णु है । तेज के द्वारा ही तेज उत्पन्न होता है अर्थात् यहाँ सूर्य को ही इन्द्र माना गया है । यही सबका भरणपोषण करने वाले है अर्थात् वाक् निश्चित रूप से त्रिलोकी रूप है । इसे हम इस प्रकार भी समझ सकते है कि पृथ्वी की किरण सूर्यमण्डल तक जाती है, यदि सूर्यमण्डल पर खड़ा होकर कोई व्यक्ति पृथ्वी को देखे तो यह पृथ्वी छोटे तारे के समान दिखयी पड़ेगी । सूर्यमण्डल के आगे जाने पर पृथ्वी दिखायी नहीं देगी इसलिए वैदिक परिभाषा में पृथ्वी की अन्तिम प्राण परिधि को "रथन्तर साम" कहते है । भगवान सूर्य की सुनहरी किरणों का जाल उनका रथ कहा जाता है । सूर्यमण्डल काले वर्ण का है किन्तु उसका किरण जाल पीतवर्ण है, यह ऋग्वेद के मंत्र में कहा गया है --

"आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मृर्त्य च ।

हिरण्ययेन सविता रथेना देवा यादि भुवनानि पश्यन् ॥"[१८]

पृथ्वी प्राण का अन्तिम मण्डल सूर्य के रथ तक व्याप्त होने के कारण "रथन्तर" कहलाता है । प्रत्येक साम मण्डल तक सहस्र भंग होते है जिन्हें "अह:" कहा जाता है । इस पृथ्वी मण्डल से सूर्य मण्डल तक बीच के आकाश को "अन्तरिक्ष" कहते है । इस ऋक् यजु, साम रूप पृथ्वी को ही "पार्थिवत्रिलोकी कहते है ।

शतपथब्रह्मण में "संवत्सर" को ही अग्नि कहते है । इस अग्नि की उपनिषत् मुख्य तत्व वाक् है । यह वाक् तीन प्रकार की होती है - ऋक्, यजु:, और साम । इससे यही समझना चाहिये कि अग्नि भी तीन प्रकार से विभक्त है यहाँ जो वाक् बतायी गयी है, वह सूर्य ही है ।"

"सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता-ऋचो यजूंषि सामानि---तेनाग्निस्त्रेधा विहित"[१९]

"सा या सा वाक्, असौ स आदित्य:"

जो यह सूर्यमण्डल तप रहा है यह "महदुक्य" कहा जाता है इसे ही ऋक् रूप समझना है । यह ऋचाओं का लोक है और प्रकाश फैला रहा है वह "महाव्रत" कहा जाता है उसे साम समझना चाहिये वही साम का लोक है और जो इस सूर्यमण्डल में पुरुष है वह अग्नि है उसे ही यजु: समझें वही यजु लोक है । इस तरह त्रयी विद्या (वाणा) तप रही है इस वाक् को सूर्य रूप कहा गया है । पुरुष सूक्त में इस वाणी का अभिप्राय मन्त्र में ऋक् यजु: और साम को यज्ञ से

उत्पन्न कहा गया है—

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥"

यद्यपि यह वाक् और ये ऋक् यजु और साम नित्य है किन्तु प्रजापति के निःश्वास रूप से उनका पुनः प्रादुर्भाव होता है । यह ऋक्, यजुः साम नाम की तीन प्रकार की वाक् ही स्वयम्भू है ।

मन, प्राण और वाक् अव्यय पुरुष की कला है जो कि प्रकृति के सम्बन्ध से पुनः दूसरे रूप में प्रकट होती है । यह पुनः प्रकट होना "सर्वहुत" यज्ञसे होता है, इस कारण सर्वहुत यज्ञ से वेदों की उत्पत्ति बतायी गयी है । स्थूल जगत् के सभी पदार्थों की नाभि में जो प्रजापति रहता है, यह वाक् उस प्रजापति की निःश्वास रूप ही है । उस नाभि रूपी केन्द्र के चारों ओर यह वाक् व्याप्त रहती है यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा प्रत्येक पदार्थ के नाभि केन्द्र से वाक् निकलती रहती है, वही ऋक्, यजु और साम मण्डल बनाती है ।भीतर के प्राण के आघात से निकलने के कारण उसे निःश्वास रूप कहा जाता है । मनुष्य का श्वास स्वतः चलता रहता है और उसी से ही मनुष्य के जीवित होने का परिचय मिलता है । इसी तरह प्रजापति वेद स्वतः प्रकट होते रहते हैं । यही कारण है कि वेदों की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी जाती है और यह भी कहा जाता है कि ऋक् साम यजु ब्रह्मरूप ही है ।

सम्पूर्ण ब्रह्माकाण्ड़ में सूर्य मुख्य प्रजापति माना गया है, अतः मूल में वेदों को सूर्य से उत्पन्न कहा गया है । नित्य वेद जब यज्ञ प्रक्रिया से पुनः प्रादुर्भूत होते रहते है । ये वेद ईश्वर रूप है, ईश्वर के निःश्वास रूप है या ईश्वर द्वारा बनाये गये है ये तीनों मत प्रचलित है । तपस्या के द्वारा जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया, हृदय में ईश्वरीय प्रकाश का आविर्भाव हुआ उनके द्वारा अतिसूक्ष्म तथा व्यवहित पदार्थों को जाना गया । जो सामान्य पुरुषों की इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते । उन पदार्थों को देखने की जिनमें शक्ति आ गयी ऐसे महर्षियों के हृदय में यह नित्यवेद अपने आप आविर्भूत होते है । अतः नित्य अर्थ का समय समय पर एक के बाद दूसरे कल्प के आरम्भ आविर्भाव हुआ । इस ज्ञान को सबसे पहले ऋषियों ने ही प्राप्त किया क्योंकि सृष्टि की उत्पन्न प्रथमावस्था में ऋषिगण ही उपस्थित थे और वे वेद ज्ञान प्राप्त करने के कारण ऋषि कहलाये ।

"तद्वा ऋषयः प्रतिबुबुधिरे य उ तर्हि ऋषयः आसुः "[२२]

देवताओं ने वाणी रूप खनित्र (कुदाल) के द्वारा मनरूपी समुद्र में से त्रयीविद्या (वाक्) ऋक्, यजुः, साम को खोदकर निकाला इसका आशय श्लोक श्रुति में भी विख्यात है—

ये समुद्रान्निरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रभिः ।
सुदेवों अद्य तद् विद्याद् यत्र निर्वपणं दधुः ॥

यहाँ परावर जानने वाले पूर्ण रूप से अधीतविद्य और पूर्णवक्ता विद्वानों ने इस विद्या को प्रकट किया और अब भी उनके शब्दों में स्थापित उस विद्या को भी ऐसे विद्वान् ही जान सकते है । सामान्य मनुष्यों की गति अब भी नहीं है ।

पाद-टिप्पणी—

१. मनुस्मृति - २ / १६८
२. योगसूत्र - ३ / २०
३. वही, ३ / ३२
४. मनुस्मृति, १ / ३०
५. तैत्तिरीय आरण्यक, २ / ९
६. तैत्तिरीय ब्राह्मण, २ / ६ / ६
७. तैत्तिरीय आरण्यक ४ / १ / १
८. वही,
९. ऋग्वेद संहिता, १ / १२४ / ४५
१०. वाक्यपदीय, १ / १२३
११. वैशेषिक सूत्र, ६ / १ / १
१२. वही, ६ / १/ २
१३. अष्टाध्यायी, ४ / ३ / ३११
१४. शतपथ ब्राह्मण, ५ / १ / ३११
१५. ऐतरेय ब्राह्मण,
१६. शतपथ, ४ / ६ / ७ / १
१७. वही, ४ / ६ / ७ / ३
१८. ऋक् संहिता, १ / ३५ / २
१९. शतपथ, १० / ५ / १ / २
२०. वही, १० / ५ / १ / १४
२१. ऋक् संहिता, २० / ९० / ९
२२. शतपथ, २ / २ / १ / २४

पं० मधुसूदन ओझा विरचित वैज्ञानिकोपाख्यानम् का अध्ययन

डॉ० मधुमालती ग. त्रिवेदी
भावनगर युनिवर्सिटी, भावनगर
(गुजरात)

मधुसूदनजी ओझा का ग्रंथ "वैज्ञानिकोपाख्यानम्" साहित्यिक संस्कृत भाषा में निबद्ध पाँच सुंदर आख्यानों का समुच्चय है ।

ग्रंथ में निर्दिष्ट "विज्ञान शब्द से वेदसंहिताओं से इतर, विशिष्ट और विविध ज्ञान के निधि ब्राह्मण आदि ग्रंथों को सचन है । जैसे "इति श्रूयते" सूचना से श्रुति ग्रंथ, "इति स्मर्यते" करने से स्मृतिग्रंथ, वैसे ही "इति विज्ञायते" उल्लेख से ब्राह्मणग्रंथ का तातपर्य होता है । ब्राह्मणग्रंथों में सामान्य पाठक को उद्वेग उपजाने वाले यज्ञविज्ञान के विवेचक विषयव्यूहों के बीच, अनेक रोचक और मनोहर आख्यानों का भी सन्निवेश है, ऐसे आख्यानों का निर्देश इस ग्रंथ के शीषर्क में हो सकता है ।

इस ग्रंथ में वर्णित आख्यानों का मूल वेदसंहिताओं में, पल्लवन ब्राह्मणादि वैदिक ग्रंथों में तथा पूर्णरूपेण सफलता पुराणग्रंथो में तथा उपजीव्य काव्यों में है, जो ग्रंथ भारतीय संस्कृति के ज्ञान के विशिष्ट निधि होने से "विज्ञान" ही हैं । उपरांत, इस ग्रंथ में निबद्ध आख्यानों में भारतीय आर्य सभ्यता के बहुत से विशिष्ट तत्त्वों का ज्ञान निहित है, इसलिए भी ये वैज्ञानिकोपाख्यान हो सकते हैं ।

अन्ततः मूल ग्रंथों, में अस्पष्ट, अपूर्ण सूचनामात्र प्राप्त है, उनमें से स्वतः पूर्ण हृदयंगम आख्यानों का सर्जन करके यहाँ रखे हैं, इसलिए ये वैज्ञानिक आख्यानकार की रचनायें तो हैं ही ।इस प्रकार की ग्रंथ की शीर्षक सार्थक हैं ।

प्रारंभ में पंडितजी घोषित करते हैं कि "पुरुणमिदं नेतिहासः" । अर्थात् देवयुग की इन कथाओं का महत्व विशिष्ट स्वरूप का है । ये कथायें वास्तव में नहीं अपितु "पुराकथा" नामक ज्ञानकी विशिष्ट शाखा से संबद्ध हैं । ग्रंथकार की स्पष्ट, असंदिग्ध, फिर भी सूत्रवत् संक्षिप्त समीक्षा शैली भी इस छोटे से वाक्य से ज्ञात हो जाती है ।

विषय-विवेचन : "वैज्ञानिकोपाख्यानम्" ग्रंथ में कुल पाँच आख्यान हैं, जिनमें पहला

"सौपर्णोपाख्यानम्" है, जो ग्रंथ के समग्र पूर्वार्ध को व्याप्त करता है । बाद के दो आख्यान "अनन्तोपाख्यान" और "नागराजोपाख्यान" स्वतन्त्र भी हैं तथा प्रथम से संबद्ध भी है। इन तीनों से मिलकर ग्रंथ को दो-तिहाई भाग बनता है । अंतिम दो "हयग्रीवाख्यान" तथा "ध्रुवचरित" स्वतंत्र आख्यान है । संभावित है कि सुदीर्घ सौपार्णोपाख्यान तो स्वतन्त्र कृति हो, परन्तु दूसरे तीसरे को "आस्तीकमहाख्यान" नामक विस्तृत रचना के अंशरूप प्रकाणों के रूप में रचे गये हैं । इन आख्यानों की पुष्पिका से ऐसा ख्याल आता है । अस्सी अग्रणी नागों की नामावलि देने का प्रयोजन भी वैसे ही अधिक जँचता है ।

"सौपर्णोपाख्यानम्" को प्रथम प्रस्ताव "काद्रवेय-वनतेय-अवतरणम्" है जिसमें कद्रू और विनती के पुत्रों की जन्मकथा, अकाल अंडभेदन से अरूण का व्यंग होना , अरुण का माता को शाप और उ: शाप, कद्रू-विनता को उच्चै: श्रवस के वर्णविषयक विवाद , कद्रू का कपट तथा कपट में सहयोग न देने वाले पुत्रों को शाप, पराजित विनता को दास्य, गरुड का जन्म और प्रभाव - ये बातें चर्चित हैं । इस केन्द्रीय इस केन्द्रीय कथानक के साथ उनके अवान्तर कथायें भी सूचित हैं -- जैसे कि कद्रू की निर्ममता के बारे में देवों की चर्चा और अनुमोदन, गरुड का तेजोराशि से देवों का मोह, समुद्रशायी भगवान पद्मनाभ, विष्णु का वराहअवतार, अरुण का सूर्यसारथित्व आदि का भी निर्देश मात्र है । उच्चै: श्रवस की वर्णपरीक्षा के लिये सत्वर समुद्र को जाती हुई भगिनियों की उत्कण्ठा तथा गद्यकाव्यों की अलंकृत शैली में समुद्र का भव्य वर्णन नितान्त रोचक है महासत्वबलोपेत गरुड की सद्यप्रवृद्धि भी ऐसी ही लोमहर्षक है ।

"सौपर्णोपाख्यानम्" का दूसरा और प्रमुख प्रस्ताव "सोमाहरण" है जिसमें गरुड को माता का दास्य मालूम होता है । मुक्तिकी शर्त जानकर अमृतार्थ जाने से पूर्व उचित सामर्थ्य संचय के लिये पर्याप्त भोजन की वे खोज में हैं। माता की आज्ञा से गरुड का निषादभक्षण, ब्राह्मणरक्षण, पिता कश्यप से मिलन, युद्धरत गजकूर्म तथा बालखिल्य मुनियों के साथ वृक्षशाखा उठाये हुये आकाशभ्रमण, देवों द्वारा सुपर्ण का "गरुड" इति नामकरण, आदि यहाँ वर्णित विषय है । देवलोक में बहुविध उत्पात होने से इन्द्र के प्रश्न के उत्तर में बृहस्पति बताते हैं कि पूर्वकाल में कभी इन्द्र ने बालखिल्य मुनियों का उपहास किया था, अत: उन्होंने अन्य इन्द्रसर्जन का संकल्प किया, फिर कश्यप की सान्तवनापूर्ण मध्यस्थता के फलस्वरूप काश्यपेय सुपर्ण के रूप में यह पक्षीन्द्र निष्पन्न हुआ । यह अतिसुन्दर वृत्तान्त मनोहर और रुचिर ढंग से बीच में रखा गया है । वास्तव में एक कथा में समवेत अन्य कथा, और उससे संबद्ध इतर

कथाएँ कहने की यह संकुल कथाशैली विश्वभर में अपना विशिष्ट महत्व रखती है, जिसका समतोलन तथा मुख्य कथाप्रवाह को अनवरुद्ध रखते हुये कथासूत्रों का निर्वाह करना विरल प्रतिभा से ही शक्य बनता है । पंडितजी ने इसमें मैदान मार लिया है ।

खगेन्द्र गरुड का वृत्तान्त जानकर, तथा वह अपने को भयावह नहीं अपितु सहायक भ्राता बनेगा, यह जानकर भी इन्द्र सोमरक्षण को पूरा सतर्क प्रबन्ध करता है । नियति को जानते हुये भी पुरुषार्थ का मूल्य तो रहता ही है । पक्षीराज भी उदग्र शौर्य, बल मेधा और स्फूर्ति दिखाकर सोमहरण में समर्थ बनता है ।

फिर गरुड का क्रमिक मिलन विष्णु और इन्द्र से होता है । पक्षिराज अपनी अस्मिता अक्षुण्ण रखते हुये देवों का भी सम्मान करता है, जिससे उसे अमृताशन बिना भी अमरत्व, विष्णुवाहनत्व तथा विष्णु से भी ऊर्ध्ववर्ती स्थान मिलता है तथा देवराज की मैत्री प्राप्त होती है । उभय पक्ष का आभिजात्य, उदार व्यवहार तथा चारित्रिक गौरव हृदयहारी है ।

गरुड सर्पों के समक्ष दर्भ पर सोम रखकर माता की मुक्ति घोषित करते है । सर्पों के स्नानार्थ जाते ही इन्द्र सत्वर सोम ले जाता है । सर्पों की द्विजिह्वता तथा दर्भ की पवित्रता की व्याख्या के साथ कथा समाप्त होती है ।

"अनन्तोपाख्यान" में माता की निर्दयता, सर्पभ्राताओं की कुटिलता तथा हीन-रीतियों से उद्विग्न शेषनाग तप से, भक्ति से और सच्चरित्र से देवों के स्नेहभाजन बनते हैं तथा भूधरता और विष्णु के शयन बनने का महनीय आदेश प्राप्त करते है । इस छोटी कथा में "असतो मा सद् गमय" ऐसी उत्कट अभीप्सा संहित अनंत को उद्वेग मर्मस्पर्शी बना हैं ।

"नागराजोपाख्यानम्" में प्रथम कद्रू के सहस्र पुत्रों में से अग्रणी अस्सी की नामावलि है जो सर्पों की विपुल संख्या का तथा उनके पौराणिक कथानकों के बारे में कर्ता के विपुल ज्ञानका खयाल मिलता है । शापनिवारण के लिये सचिन्त नागराज संपूर्ण भातृ-समूह के साथ मंत्रणा करते हैं । विभिन्न सूचनाओं के बाद एलापुत्र बताता है कि नागराज का भागिनेय आस्तीक मुनि सर्पसत्र बन्द कराने में समर्थ होगा, ऐसा उसने ब्रह्मा से सुना है । यहाँ मत्रणागृह का चित्र सामने आता है । प्रारंभ की नामावलि, जरत्कारुका सिर्फ नामनिर्देश तथा पुष्पिका से सूचना मिलती है कि ये दो उपाख्यान, आस्तीकमहाख्यान के दो अंशमात्र होने संभवित है ।

"हयग्रीवोपाख्यान" में विष्णु को यह रूप कैसे संपन्न हुआ, इसका कुतूहलजनक

निरूपण है । यहाँ अनेक पौराणिक घटनाओं की जानकारी मिलती है ।

"ध्रुवचरित" में ध्रुवका क्षात्रतेज, दृढ संकल्प और उग्र तपस्या से प्राप्त सर्वोच्च ध्रुपवद का निरूपण अत्यन्त सरल, भावमय, हृदयावर्जक रीति से किया गया है । सुनीति तथा मायासुनीति दोनों के कथन सार्वत्रिक मातृहृदय को मुखरित करते हैं जबकि ध्रुवकी विष्णु-स्तुति स्वतन्त्र स्तोत्ररूप से भी सुन्दर जंचती है ।

ग्रन्थ का समग्रतया परिशीलन

समग्र ग्रन्थ का परिशीलन करते ही विद्वान् कर्ता की अतुल विद्वत्ता उनका वैदिक तथा पौराणिक साहित्य से घनिष्ठ परिचय, तथा इतिहास-पुराण के कथानकों से उनका सहृदय विवेचन प्रत्यक्ष होता है । आपकी शैली स्पष्ट, चोटदार, ओजस्विनी और वेगवती है । संस्कृत महाभाषा पर आपका वाक् प्रभुत्व तथा वाक्संयम दोनों ही उल्लेखनीय हैं । यथावकाश प्रौढ प्रांजल पदावली का, या सरल सुबोध कथा-शैली का प्रयोग किया है । समर्थ होते हुये भी अलंकारों की भरमार या क्लिष्ट काव्यरचना न करके, कथा-प्रवाह को ही अधिक महत्व देकर, भाषा-संचय का अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये पंडितजी धन्यवाद के पात्र हैं । वाग्वैभव प्रदर्शन के साधनरूप बनने वाले अनेक कुतूहलपूर्ण अवकाश मिलने पर भी पंडितजी ने भव्य स्वस्थता सम्हाली है तथा केन्द्रगामी निरूपण किया है, जिससे केन्द्रीय विषय सदा दृष्टि-समक्ष रहे तथा कथाप्रवाह विक्षिप्त न हो जाय ।

यद्यपि ये आख्यान गद्य में है, फिर भी बीच में अनेकधा पद्य के भावनिर्झर भी बह निकले है । विशेषतः यह संवाद में होता है, जो भावावेग को भी निदेर्शन है । इनका छन्द तथा अन्वय सरल तथा वेगमय है । आर्ष महाकाव्य जैसी पैगम्बरी भव्यती भी पद्यों में देखने को मिलती है । यथा—

"पुत्र मा साहसं कार्षीर्मा-सद्यो सप्स्यसे व्यथाम् ।
मा त्वां ददेयु सत्रुद्याः वालखिल्याः मरीचियाः ॥"

अथवा

"ऋषेर्मानं करिष्यामि वज्रं यस्यास्थिसभ्यतम् ।
वज्रस्य च करिष्यामि मानं तव च वज्रभृत् ॥

इत्यादि कभी-कभी सुप्रसिद्ध काव्यखण्ड भी इनमें सहज भाव से समाविष्ट हो गये हैं

जो सामुदायिक निधि होने से स्वाभाविक भी है ।

पंडितजी की चरित्र-चित्रण स्पष्ट, प्रतीतिकर तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्माण करने वाला है। जैसे गरुडजी का समर्थ, जाज्वल्यमान तथापि विनीत और विचारपूर्ण व्यक्तित्व अविस्मरणीय है । उनकी मातृ-पितृभक्ति तथा ब्रह्माणसमादर उनके विनीत व्यक्तित्व का एक अंग है । जन्म से ही बलवत्तर होते हुए भी वे माता की आज्ञा से सर्पों की सेवा करते है । मुक्ति की शर्त पूर्ण किये बिना विद्रोह वे नहीं करते । विष्णुजी से वरदान मिलने पर वे उनको भी प्रति-वरदान देते है । इन्द्र से अधिक समर्थ होने पर भी वे दधीचि ऋषि के सम्मान के लिये वज्र और वज्रिन् का भी मान रखते हैं ।प्राणपण से मिले सोम को उन्हें चाखना भी नहीं है । सरलता से इन्द्र को सोम लौटाने पर बदले की अपेक्षा नहीं। गरुड भक्ष्यरूप में भुजंगों को शायद इसलिए वर लेते हैं कि इनका अभिगम अति उच्चस्तरी, अत्यन्त विचारपूर्ण है जैसे कद्रु का शाप "माता का" होने से चर्चास्पद हुआ था, वैसे ही अपना सर्पभक्षण "भ्राता का" होने से कहीं देवों में शंकनीय बने-यह सोचकर यह वरदान माँगा गया है । सामान्यतया वेदसूक्तों की अपेक्षा रहती है कि अपनी सम्पत्ति विजय, यश आदि देवों को मंजूर रहे, द्यावापृथिवी उसको समति दे। "तद् द्यौश्च धत्तां पृथिवी च देवी"।"-अर्थात् व्यक्तिगत प्राप्ति का समष्टि के कल्याणचक्र के साथ कोई संघर्ष न होवे अपनी सिद्धि में सर्वमान्य नैतिक नियमों का उल्ङ्घन हो जायं गरुड के वर में वैदिक ऋषि की भावना झलकती हैं। शेषनाग का उद्वेग अधर्म से घिरे हुये भावुक भक्त का मनस्ताप हैं। बालक ध्रुव को मान और दृढ़ की निष्ठा अतीव रोचक है ।सभी देवों की दिव्यता तेजोज्जवल है । देवों का परस्पर सदा सौमनस्य है। इन्द्र को ऊपर इन्द्ररूप गरूड से या कश्यप से कोई कलह नहीं गरुड को भी सर्वेश्वर बनने की आकांक्षा नहीं देवों का हृदय समष्टि कल्याण की भावना से परिप्लावित है। कद्रू के शीप के बारे में देवो का चिन्तन इसी प्रकार का है। मैत्री के बाद इन्द्र सोम इसलिए माँगते हैं कि "अस्मात् ते हि प्रबाधेरन् यथ्या दद्याद् भवानि मम्"। अनंत की भक्ति तथा वासुकि हैं नेत्रकर्मा देखते प्रसन्न देव उन्हें वरप्रदान करने को उत्सुक बन जाते हैं। कपि-न्याय तो होता है, लेकिन दोषित के प्रति द्वेषपूर्ण व्यवहार नहीं होता है ।

आख्यानों में स्थान-स्थान पर सर्वो जीवन-मूल्यों को स्थापन तथा तात्त्विक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है । जैसे कि -- सत्य सबसे अधिक मूल्यवान है । विनता के दास्य का कारण वचनबद्ध होना है । गरुड खगेन्द्र इसलिए बनाये जाते है कि देवेन्द्र के सर्वातिशायी प्रभाव को ब्रह्मवचन, तथा ऊपर इन्द्र सर्जन का बालखित्यों को निश्चय-दोनों ही सत्य ठहरें। गरुड को

विष्णु से भी ऊर्ध्व स्थान के वचन का पालन, उन्हें ध्वज में स्थान देकर होता है । विष्णु को मिला शाप भी मिथ्या नहीं होता । अधीरता तथा अविचारिता का फल अनर्थकारी ही होता है ।यह अरुण के दृष्टिगत से स्पष्ट है । सपत्नी की कल्पनामात्र से व्यथित लक्ष्मी, असौभाग्य को निमन्त्रण दे बैठती है । आधुनिक दृष्टि से देखते हुये, विष्णुजी का उपहास, सज्ज, धनुष के साथ सो जाना, देवों का वर्मा को दिया आदेश, ये सब भी अविचारिता ही है । जो देव लोग निद्राभंग को महापातक समझते है वे विष्णु जी का शिरच्छेद करने वाले कार्य का निमित्त बनते हैं - इसमें नाट्यवक्रता भी देखने को मिलती है । आधुनिक दृष्टि से सहस्र नागों से बढकर विनतापुत्र के सामर्थ्य का रहस्य दो संतानों में भी मिल सकता है ।

हिन्दू धर्मशास्त्रों की सनातन दैन रूप ब्राह्मणों का समादर भी यहाँ पूर्णरूप से प्रतिफलित है । गरुड का रूपोत्कृष्ट सामर्थ्य, बालखिल्य मुनियों की तपसिद्धि के कारण है । ब्राह्मण की पहचान उसके तीव्र तेज से ही हो जाती है । उसे कोई सह नहीं सकता । गरुड इन्द्र का इसलिए सम्मान करते हैं कि वज्र, मुनिश्रेष्ठ की अस्थि से निर्मित है । ब्राह्मण के इस विशिष्ट महत्व का रहस्य अवश्य उसकी तपोनिष्ठा तथा समष्टिहित मे निःस्वार्थ समर्पण के कारण ही है ।

इस प्रकार आकर्षक कथावस्तु की समर्थ, प्रवाहमयी, भावपूर्ण अभिव्यक्ति सरल तथा समर्थ, गौरवपूर्ण भाषा, मधुर असरकारक कविता, सांस्कृतिक महत्व रखने वाले सत्यों की प्रस्तुति, आदि अनुपम गुणों से इस ग्रंथ का साहित्यिक सौन्दर्य अति उच्च कथा का सिद्ध होता है । वर्तमान समय में संस्कृत भाषा में ऐसी कलामय साहित्यक कृति की रचना करने के लिए पंडितजी संस्कृत तथा संस्कृति के सभी प्रेमियों के आदर के अधिकारी है ।

सदसद्वादविवेचनम्

-डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा
निदेशकचर, राज० प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
७-क-१५, जवाहरनगर,० जयपुर

श्रीमन्मधुसूदनओझा-महाभागै: सदसद्वादशीर्षके स्वग्रंथे सद्वादस्य असद्वादस्य च विवेचनं कृतम्। सत्तवमिति सद्वादस्याभिप्राय:, असत्तवमिति चासद्वादस्याभिप्राय:। परमेतावन्मात्रेण न हि अनयोरर्थस्य स्पष्टतेत्यनयोरर्थस्य स्पष्टीकरणाय कार्यकारणाभ्यां सम्बन्धसंयोजनपुरस्समेवानयोरर्थो विचारणीय:। अनेन कार्यस्य कारणे सत्तवमिति सद्वादस्यार्थ: , कार्यस्य कारणे चेत्यासद्वादस्यार्थ:। सद्वादस्य समर्थनाय निम्नलिखिता श्रुतिरुद्धता—

"सदेवेदमग्र आसीत् । कथं स्वसत: सजायतेति ।"

(ताण्ड्य. ब्रा. उप. ६/२)

अनेनैतदेव तात्पर्यं यदस्य कार्यजातस्य प्रागपि सत्ता आसीत् । अस्मादेव सतस्तत्त्वात् कार्यस्याविर्भाव: संजात: । सत: सज्जायते इति सांख्यसम्मत: सिद्धान्त एतामेव श्रुतिमाश्रयते । अयमेव सत्कार्यवादाभिध: ।

असद्वादस्य समर्थनाय निम्नलिखिता श्रुतिरुद्धता -

"असदे्वेद्ग्रे आसीत् । असत: सदजायत ।

- तैति.उप. २/७

अनेनैतदेव तात्पर्य यत् कार्य कारणे असदासीत् । अस्यां श्रुतौ इदं पदेन कार्य परामृश्यते । अत: सम्प्रति यत्कार्यरूपं जगद् दृश्यते तस्य पूर्वमभाव आसीत् । सतो सज्जायते इति न्यायवैशेषिकसम्मत: सिद्धान्त एतामेव श्रुतिताश्रयते । अयमेव आरम्भवादाभिध: ।

एतदतिरिक्तं सदसद्वादस्यापि चर्चा अस्मिन् ग्रन्थेऽस्ति। अस्य समर्थनाय निम्नलिखिता श्रुतिरुद्धत -

"नैव वा इदमग्रेऽसदासीत् - नैव सदासीत् ।" - शत. १०.४. ।

अस्मन्मतानुसारं सिद्धान्तोऽयं सद्वादस्य असद्वादस्य च सम्मिश्रणमिति न हि ताभ्यां पार्थक्येनास्य स्थितिः । अस्यैतदेव तात्पर्यं यदस्य कार्यस्य पूर्वमसत्त्वं नासीत् । परमस्य सम्प्रति सद्रूपं तेन रूपेण सत्त्वमपि नासीत् । अनेन सिद्धान्तोऽयं सत्कार्यवादस्य आरम्भवादस्य च सम्मिश्रणं प्रतीयते । किंवानेन न हि सत्कार्यवादस्य आरम्भवादस्य च तात्त्विको भेद इत्यपि प्रतीयते ।

एतदतिरिक्तं श्रीशंकराचार्यसम्मतस्य विवर्तवादस्य बौद्धसम्मतस्य च शून्यवादसस्यापि दर्शनग्रन्थेषु दर्शनम् । अत्र प्रथमं विवर्तवाद एवं प्रस्तूयते । एतन्मतानुसारमेकस्यैव सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत् । न हि अत्र कार्यजनस्याभावोऽभीष्टः तथात्वे कार्यजातामेपति शब्दोपादानस्यैव नैरर्थक्यापत्तिः स्यात् । अतः कारणरूपस्य ब्रह्मणों यादृशं सत्त्वं न हि तादृशं सत्त्वं कार्यरूपस्य जगत इत्यात्रायातम् । किंच रज्जौ यथाहेर्भ्रम इत्युदाहरणोपादानेनाण्णेतत्स्पष्टम् । अत्र न हि अहेः स्वरूपतो निराकरणमपितु रज्ज्जवामहिप्रतीतेर्निराकरणम् । अतएव असर्पभूतायां रज्जौ सर्परोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोप इत्युपादानम् । किंचास्मिन् सिद्धानते जगतो व्यावहारिकी स्थितिरिति जगतो न हि स्वरूपतो निराकरणमपितु तस्य गृहीतस्य प्रतीतस्य वा स्वरूपस्य निराकरणम् ।

श्रीओझामहाभागानुसारमस्य सिद्धान्तस्य सदसद्वादेऽन्तर्भावः । अस्मिन् सिद्धान्ते ब्रह्मरूपस्य कारणस्य तत्त्वतः सत्त्वम् । कार्यरूपस्य जगतो व्यवहारतः सत्वेऽपि केवलं तत्त्वतोऽसत्वमिति सदसद्वादेऽस्यान्तर्भाव उचित एव ।

सम्प्रति बौद्धसम्मतः शून्यवादः प्रस्तूयते । एतत्सिसद्धान्तानुसारमतः सज्जायते । बीजविनाशानन्तरं यथा वृक्षोत्पत्तिसतथैवात्रापि असतः सदुत्पत्तिः । अत्रैतदवधेयं यद्बीजस्य यो विनाशः स न हि वस्तुतो बीजस्याभावोऽपितु तस्यावस्थांतरपरिणामः । तस्मादेव वृक्षोत्पत्तिसम्भावना । यदि बीजविनाशोऽभावापरपर्यायः स्यात्तर्हि अभावस्य सर्वत्र सम्भवात्सर्वत्रैव वृक्षोत्पत्तिः स्यात् । अनने बौद्धसम्मतोऽयं सिद्धान्तो न संगच्छते । एतदेव विचार्य श्रीमच्छंक राचार्यैरस्य सिद्धान्तस्य निराकरणं विहितम् । श्रुतिवाक्येष्वपि यत्र असत उपादानं तत्र कार्यस्य कृते तस्य प्रयोगो न तु कारणस्य कृते । अनेनैतदेवाभिप्रेतं यत्कार्यस्यास्य पूर्वमभाव आसीत । परमस्य कार्यस्य यस्मात्तत्वादुत्पत्तिस्तस्य सत्ता तु स्वीकार्यैव ।

श्रीओझामहाभागैर्ग्रन्थस्यादौ कार्यकारणभावव्यतिरिक्तत्वेन सदसद्वादस्य निरूपणं

विहितम्। किंच ग्रन्थस्य नामापि सद्स्वाद एवं कृतम्। परमस्मन्मतानुसारं न हि कार्यकारणभावनञ्च योगाभावे सदसद्वादस्य स्पष्टतेति कार्यकारणयोगपुरस्समेव सदसद्वादस्य निर्देशो विवेचनञ्च विधेयम् ।अपरञ्च सद्वादस्य असद्वादस्य च समर्थने श्रीओझामहाभागैर्या श्रुतयौ ग्रन्थादौ उद्धृतास्तत्रापि कार्यकारणभावस्य स्पर्शः स्पष्ट इति श्रुतेरपि कार्यकारणयोगपुरस्सरमेव सद्वादस्य असद्वादस्य च विवेचनमभीष्टम् ।

श्रीओझामहाभागैः सदसद्वादविवेचनप्रसंगे कार्यकारणाभवस्य निरूपणं चतुर्थे अभिकार्यविमर्शे विहितम् । अनेन सतोऽप्यस्य निरूपणस्य गौणतेति स्पष्टम् ।

श्रीओझामहाभागैः सदसद्वादः प्रथमं सप्तधा विभक्तः --

१-प्रत्ययाद्वैतविमर्शः २- प्रकृत्यद्वैतविमर्शः
३- तादात्म्यवादविमर्शः ४- अर्भिकार्यविर्मशः
५- आत्मगुणवादविमर्शः ६- सामञ्जस्यविपर्शः
७- अव्यक्तविमर्शः

एषु प्रत्येकभागः पुनः त्रिधा विभक्तः । अनेक साकल्येन एकविंशतिर्भेदा निरूपिताः तद्यथा -

प्रत्यय एवं प्रकृतिश्चैकात्म्यं चाभिकायर्यं च ।
स्वगुणाः सामञ्जस्यं चाक्षर इति सप्तधा विमर्शाः स्युः ॥ ।
प्रत्येकमेषु सन्ति त्रयो विकल्पा असच्च सत् सदसत् ।
तेनायमेकविंशी सदसद्वादो निरूप्यत सम्यक् ॥ २.
एते विभागाः पुनरुपविभागनिरूपणपुरस्सरं प्रस्तुताः ।

विभागसम्बन्धिना अनेन विवेचनेनैतत्प्रतीयते यत् श्रीओझामहाभागैरखिलानां दर्शनसरणीनामेवात्र यथासम्भवं विवेचनं कृतम् । दार्शनिकविवेचनदृष्ट्या प्रस्तुपस्याप्यस्य विवेचनस्य सदसद्वादेन सह सम्बन्धस्तत्रान्तर्भावो वा चिन्त्य एवं ।

सत्तत्वस्य प्रत्यये प्रकृतौ च भेद इत्युपर्युक्तेषु भेदेषु प्रत्ययाद्वैतविमर्श प्रकृत्यद्वैतविमर्शश्चेति यद् भेदद्वयं स्वीकृतं तदुचितमेव । परमतः परं तादात्म्यवादविमर्शप्रसंगेन तृतीयस्य भेदस्य सन्निवेशश्चिन्त्य एवं। न हि अत्र सन्निविष्टस्य तादात्म्यवादस्य प्रत्ययप्रकृतिवत् कस्मिन्नपि तत्त्वेऽडन्तर्भावः। किञ्च तादात्म्यवादविमर्शप्रसंगेन

रसबलैकात्म्यसिद्धान्तो बलसारत्त्वसिद्धान्तो रससारसिद्धान्तश्चेति यद्भेदत्रयं निरूपितं तत्र रसबलयोः प्रत्ययप्रकृतिभ्यां भेदः स्पष्टीकरणीयः। किंचैतद्भेददृष्ट्या एव सदसद्वादस्य विभागो विधेयः।

अभिकार्यरूपो यश्चतुर्थो भेदोऽत्र स्वीकृतः सोऽस्माकं सम्मत एव। वस्तुतः कारणकार्यभावविवेचनदृष्ट्या अस्यैव युक्तियुक्ततेत्यस्य प्रमुखता स्वीकार्या।

आत्मगुणवादविमर्शरूपो यः पंचमो भेदः स्वीकृतः सोऽपि चिन्तनीयः। आत्मतत्त्वस्यान्येष्वपि भेदेषु सन्निवेशः। किंच विज्ञानात्मन सप्तावस्था इति प्रतिपादयद्भिः श्रीओझामहाभारौः पूर्वमेव प्रत्ययाद्वैतविमर्शेऽस्य यथाकथंचन स्पर्शो विहित इत्यस्य पृथक्तत्त्वरूपेण कथंसन्निवेश इति विचारणीयम्।

सामञ्जस्यविमर्शनामके षष्ठे भेदे सन्निविष्टानि तत्त्वानि न हि चतुर्थभेदगततत्त्वेभ्यस्तत्त्वतो भिद्यन्त इत्यस्य भेदस्य पार्थक्येन निरूपणं चिन्त्यमेव।

अव्यक्तविमर्शनामके सप्तमे भेदे यद्विवेचनं तस्यापि न हि पूर्वकृताद् विवेचनात् तत्त्वतो भेद इत्यस्य पार्थक्येन विवेचनं चिन्त्यमेव।

गीता-विज्ञानभाष्य में वैदिक वाङ्मय योग

-श्रीराम दवे, एम.ए., शास्त्री
श्रीनिकेतन 8th C-रोड़,
सरदारपुरा, जोधपुर (राज.)।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुख-पद्माद् विनिसृता ॥

इस स्मृतिवाक्य के अनुसार गीता भगवान् के मुखारविन्द से निकली है, ऐसी प्रसिद्धि है।तथा च भगवान् श्रीकृष्ण में निम्न स्मृति वचनों से भगवतत्व भी सिद्ध है।

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥

भग नाम से कहे गये हैं जो भगवान् श्रीकृष्ण में विद्यमान थे।

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

जो उत्पत्ति प्रलय, प्राणियों का आवागमन तथा विद्या और अविद्या को जानता है वह भगवान् कहलाता है। इस कथा के अनुसार भी भगवान् श्रीकृष्ण में भगवत्तत्व सिद्ध होता है। ऐसा होने पर भी यह आंशका होती है कि क्या इस अव्यय ब्रह्मसम्बन्धिनी ब्रह्मयोग विद्या का उपदेश सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्ण ने ही दिया था ? क्योंकि इस अव्यय-पुरुष का लक्षण आत्मविद्या का उपदेश वेदों में बहुत पहिले से ही उपदिष्ट है। जैसे —

"वियस्तम्भ षडिमा रजांसि अजस्यरूपे किमपि स्विदेकम्।"ऋ.१/१६४
परास्य शक्तिविविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च "श्वे०उ०

इत्यादि श्रुतिवाक्यों से प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षरूप से इस अव्यय-पुरुष का पर, अज आदि शब्दों से पहिले ही उपदेश प्राप्त है।

इस शंका के समाधान में यह कहना होगा कि चाहे वेद और उपनिषद् में इस आत्मविद्या का उपदेश प्राप्त होता है तथापि वह उपदेश वेदों में इतना निगूढ है कि इनके द्वारा

उसके तात्पर्य को ठीक प्रकार से नहीं समझा जा सकता । अतः भगवान् कृष्ण को ही इस विद्या का द्रष्टा मानना होगा तथा "द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः" इस कथन के अनुसार उनके वचन को भी श्रुति के समान ही प्रामाणिक मानना होगा यही गीता जब व्यास जी के मुख से निकली तो वह स्मृति बन गई - "श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः" इति सिद्धान्तात् । श्रोता के मुखसे निकला वाक्य स्मृति कहलाता है । द्रष्टा और श्रोता के विषयनिरूपण के क्रम में भी अन्तर होना स्वाभाविक है ।

भगवान् श्रीकृष्ण गीतोक्त अध्यात्मविद्या के द्रष्टा हैं; अतः गीता का भी वेदों की तरह स्वतःप्रामाण्य है । गीता के केवल लोकव्यवहार में आने के कारण ही इसके लिये स्मार्त उपनिषद् शब्द रूढ हो गया । तथा—

"पूर्वं केनाप्युपदिष्टस्यार्थस्य पुनरुपदेशो गानम्"

इस कथन के अनुसार इसे गीता कहा जाने लगा है ।

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे ।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥
महा० १२/३/८

उक्त कारण से भी गीता को स्मार्तोपनिषद् कहा जाने लगा ।

परन्तु वेदविज्ञानवेत्ता पण्डित मधुसूदन जी के मत में अध्यात्म विद्योपदेश के कारण ही गीता को उपनिषद् कहना ठीक नहीं होगा । उनका कहना है कि —

"नैतदात्मविद्यात्वमेतस्योपनिषच्छब्दस्य पदार्थतावच्छेदकं भवति ।

अपितु तत्कर्मकलापेतिकर्तव्यताप्रकारविशेषोपपादकत्वेन व्यवस्थिते विज्ञानसिद्धान्ते अयमुपनिषच्छब्दो निरूढः" कर्मणि कर्तव्ये प्रवृत्तिहेतुः कृतसिद्धान्तो नियमविशेषः उपनिषद्" अर्थात् कर्तव्यकर्म में प्रवृत्ति के लिये प्रतिपादित नियमविशेष को ही उपनिषद् कहना चाहिये जिसे अंग्रेजी भाषा में प्रिंसिपल या उर्दू में "उसूल" कहते है । अतः गीता के लिये व्यवहृत उपनिषद् शब्द सिद्धान्त अर्थ में लेना चाहिये न कि केवल अध्यात्मविद्या अर्थ में ।

साधारण लोकदृष्टि में गीता तीन षट्कों में विभक्त है -

१ प्रथम षट्क - ज्ञानयोग, ६ अध्याय तक, २८० श्लोक

२ द्वितीय षट्क -भक्तियोग, १२ अध्याय तक, २०९ श्लोक

३ तृतीय षट्क -कर्मयोग, १८ अध्याय तक, २११ श्लोक

योग =७०० श्लोक

यह क्रम महाभारत के अनुसार ऐतादिक दृष्टि से दिखलाया गया अध्यायों का विभाजन है । परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इनका क्रम भिन्न है । उसके अनुसार —

"सन्ति चतस्रोविद्या उपनिषदो विशति चतस्रश्च ।
उपदेशा: षष्टिशतं यस्यां सैषानुगीयतां गीता ॥

-गीताविज्ञानभाष्य, पृ०-१२, श्लोक -४

इसमें ४ विद्याएँ । २४ उपनिषद् और १६० उपदेश हैं । गीता का उपदेश युद्ध प्रसंग में किया गया है इसलिए इस प्रसंग को हम चाहें ऐतिहासिक भले ही कह लें तथापि विद्या का उपदेश क्रम तो -

"शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" यहीं से प्रारंभ होता है । इसलिए गीता के शुद्ध वैज्ञानिक स्वरूप को समझने के लिये गीता के ऐतिहासिक क्रम से किये गये अध्यायों के विभाग की उपेक्षा करनी होगी तथा हमें इस एक ही गीताशास्त्र को दो प्रकार की दृष्टियों से देखना होगा । एक ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में दूसरा वैज्ञानिकशास्त्र के रूप में ।

गीताविज्ञानभाष्य में महामनीषी पण्डित मधुसूदन ओझा ने गीता के जिस रहस्य को प्रकट किया है उस पर लोगों ने आज तक ध्यान ही नहीं दिया । यदि गीता को वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो गीता में श्रीकृष्ण के भी दो रूप दिखाई देंगे । एक मनुष्यरूप दूसरा अव्यय रूप । श्रीकृष्ण का अव्ययरूप गीता में अनेक जगहों पर "अहं" रूप से प्रकट हुआ है । मनुष्यरूपधारी श्रीकृषण ने उस अव्यय कृष्ण के रूप को समझने के लिये गीता में चार विद्याओं का उपदेश दिया है । उन्हें इतिहासक्रम से नहीं जाना जा सकता । वस्तुतः जो विज्ञान वेदों में छिपा हुआ है, उस विज्ञान को भावान् ने गीता में प्रकट किया है ।

इस संसार में लोगों की श्रीकृष्ण के प्रति दो प्रकार की दृष्टि है तथा उनके उपासक भी दो प्रकार के हैं। प्राय: संसार में जीवों के दो प्रकार के कर्म होते हैं। स्वेच्छाकृत और परमात्माप्रेरित । स्वेच्छाकृत कर्म साधारण मनुष्य चरित्र कहलाते है और परमात्माप्रेरित कर्म लोकोत्तर होते हैं ।इस प्रकार हम भगवान् श्रीकृष्ण के साधारण कर्म के साथ-साथ लोकोत्तर

अद्भुत चरित्र भी देखते है जिन्हें हम लीला कहते हैं। इसी प्रकार एक उपासक दतिहासमूलक दृष्टि रखने वाले अपने सम्प्रदाय के अनुसार उपासना करते हैं। दूसरे वैज्ञानिक दृष्टि वाले उपासक जो जीवात्मा में परमात्मा को अभेद दृष्टि से देखते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के भी गीता में दो स्वरूप दिखाई पडते हैं। एक युद्धक्षेत्र में सामान्य मनुष्य रूपधारी सारथी के रूप में, दूसरा विश्वरूप दर्शन में अलौकिक विराट् रूप । इसी प्रकार पुराणों में भी भगवान् के लौकिक और अलौकिक रूप दिखायी पडते हैं। जिसे समझने के लिऐ हमें विज्ञान का ही आश्रय लेना होगा । जिससे हम गीता के हृदय को पहचान सकें।

गीताशास्त्र का लक्ष्य जीव को प्रकृतिसिद्ध अविद्या-बुद्धियोगजन्य सर्वविध शोक के विनाश का उपाय बतलाना है । आत्मसाक्षात्कार के उपाय को बतलाने वाले बुद्धियोग और विद्या-चतुष्टय (वैराग्यविद्या, ज्ञानविद्या, ऐश्वर्यविद्या, धर्मविद्या) के प्रचार के कारण इस गीता विज्ञान की उपयोगिता है । जैसे बादलों के हट जाने से सूर्यप्रकाशित हो जाता है वैसे ही अविद्या की निवृत्ति से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, यही विज्ञानोपदेश है । जिसे वेदों में प्रतिपादित किया गया है ।

न विजानामि यदि वेदस्यि निण्य: संनद्धो मनसा चरामि ।
यदि मा गन् प्रथमजा ऋतस्य आदिद्वाचो अश्नुते भागमस्या: ।"
ऋ १.१६४.३७

आत्मस्वरूप के ज्ञापक वेदवचन इस विज्ञान के आधाक हैं। प्रकृति से परे उस अज आत्मा को ढूढँना चाहिए।ईश्वर सूर्य के समान सर्वव्यापी है । इत्यादि अर्थ को बोध कराने वाले वेदामन्त्रों के तात्पर्य को न जानने वाले, आर्षदृष्टि से शून्य विद्वान् अपनी बुद्धि से ही गीता का मनमाना अर्थ करते हैं जिससे विभिन्न सम्प्रदाय खडे हो जाते हैं जो सत्य के बहुत दूर चले गये से लगते हैं ।

प्रस्थानत्रयी (गीता, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद) पर आज विभिन्न आचार्यों के जो भाष्य उपलब्ध हो रहे हैं वे देश, काल और पात्र की योग्यता को लक्ष्य में रखते हुए लिखे गये है । उन्होंने ये भाष्य तात्कालिक परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर लिखे थे इसलिए उनका यह सम्प्रदायवाद "धर्म" शब्द से सम्बोधित न होकर "मत" शब्द से सम्बोधित हुआ । धर्म तो प्रकृतिसिद्धण नित्यनियम है जो त्रिकालाबाधित होने से शाश्वत है । "मत" प्रत्येक दशा में कल्पना से सम्बन्धित होने के कारण अनेक हैं । "धर्म" की मूल प्रतिष्ठा प्रकृतिसिद्ध नित्यविज्ञान है जबकि

मतवाद की आधारभूमि सामयिक-दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला दर्शन हैं । विज्ञान का ईश्वरीय जगत् से सम्बन्ध है तो दर्शन का सम्बन्ध केवल मानवबुद्धि से है ।

परन्तु कई भारतीय आचार्यों ने जहाँ सामयिक परिस्थिति के अनुसार विभिन्न-पथों का अनुगमन करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों का संचालन किया है वहीं उन्होंने नित्य विज्ञानसिद्ध धर्मतत्व को भी पूर्णरूप से सुरक्षित रखा है । अनेकता में एकता की विशेषता को उन्होंने ठीक प्रकार से निभाया जिन आचार्यों ने विभिन्न मतों का प्रतिपादन करते हुए भी श्रुति को मूलाधार माना है उन आचार्यों के सम्प्रदाय आज भी आदरणीय माने जा रहे हैं । परन्तु जिन्होंने सिद्धान्त प्रतिपादन के निर्णायक नियमों का (प्रसंग, उपोद्घात, हेतुता, अवसर निर्वाहकैक्य उपक्रम, उपसंहार आदि उल्लंघन कर मनमाने ढंग से अपने मत का प्रतिपादन किया है वे चिरकाल तक यहाँ मान्यता प्राप्त नहीं कर सके । दार्शनिक भाष्य मार्गदेशिक नहीं हो सकते । "सर्व वेदात् प्रसिद्धयति" यह मनु का वचन भी दार्शनिक दृष्टि की प्रधानता नहीं बतलाता । विज्ञान में सम्प्रदायवाद का समावेश नहीं है । यह विश्व की विमल विभूति है । विज्ञान सर्वहितचिन्तक है उसमें मतभेद नहीं रहता । इसलिए गीता में भी विज्ञान के महत्व को माना है -- "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत:"

गीताविज्ञान, अपूर्णज्ञान रखने वालों को श्रुतिसिद्ध मार्ग बतलाती है जिसके द्वारा वह अव्यय ईश्वर जाना जा सके । अर्थात् श्रुतियों के द्वारा ही गीता के तात्पर्य को समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं । आत्मस्वरूप निरूपण में वेदवचन और गीतावचनों के तात्पर्य में बहुत सामीप्य है । कर्मरूप तीन वीर्यविभागों का ऋग्वेद में भी उल्लेख है —

कामस्तदग्रेसमवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

ऋ १०/११/१२९/४

गीता में ब्रह्मविज्ञान का उपदेश होने के कारण इसे आत्मशास्त्र भी कहा गया है और कर्मविज्ञान के कारण योगशास्त्र । गीताविज्ञानशास्त्र में गीता के ७०० श्लाकों में से आत्मविद्या चतुष्टयी में ६३९ श्लोकों को ही वैज्ञानिक माना है, शेष ६१ श्लोक इतिहासोपयोगी ही माने हैं वे इस प्रकार हैं —

१. चतुर्विद्यावतारणा के ६ श्लोक अहो बत महत्पापम् से प्रारंभ १/४५ अध्याय

२. वैराग्यविद्या २१६, अशोच्यानन्वशोच्य २/११

३. सिद्धविद्या ५७, मय्यासक्तमना. ७/१

४. राजविद्या १५१, इदं तु ते गुह्यत्तमं. ९/१२

५. आर्षविद्या १९९, इदं शरीरं कौन्तेय. १३/१

६. उपसंहार १, तत्र श्रीविजयो. १८/७८

इस प्रकार गीता को वैज्ञानिक दृष्टि से ४ विद्याओं में विभक्त किया गया है जिनमें संसार की निर्वत्ति का उपाय बतालाया गया है।

इत्थं गीता चतसृभिर्विद्याभि: कृतविग्रहा

ताश्च विद्याश्चतस्रोऽपि शोकव्युत्थानहेतव: ।

लोके शोकसमुत्थानं प्रकृत्यासिद्धमस्ति यत् ।

तद् भैषज्योपायभूता अर्जुने दर्शिता इमा: ॥

-गीताविज्ञानभाष्य. ।

पण्डित मधुसूदन ओझा ने अपने गीताविज्ञानभाष्य में गीता में वर्णित तीनों योगों को भी वेदमूलक ही माना है ।

'ते च एते त्रयोऽपि योगा: वैदिका द्रष्टव्या'

त्रिषु वेदशास्त्रेषु प्रकरणेषु पृथक्त्वे नैषां त्रयाणामुपदिष्टत्वात् ।

उनके मत में वेद विज्ञानशास्त्र है जिसके द्वारा समस्त ज्ञातव्य विषय जाना जा सकता है जिसमें सन्देह को कोई स्थान नहीं है । "असंदिग्धार्थ विदिताशेषवेदितव्यं विज्ञानशास्त्रं वेद:' । वेद तीन विषयों में विभक्त है । विधि, आरण्यक और उपनिषद् विधि अर्थात् कर्मकाण्ड में कर्मयोग उपदिष्ट है ।

आरण्यक-उपासना में भक्तियोग उपदिष्ट है ।

उपनिषद् में ज्ञानयोग ।

ज्ञान और विज्ञान परस्पर सापेक्ष होने के कारण क्रम भेद से उनकी व्यवस्था की गई है । ज्ञान अर्थात् विभिन्नरूप कार्यो के एक कारण की व्यवस्था करना विज्ञान - "एक मूल तत्व से अनके कार्यो के आविर्भाव के क्रम का उपपादन करना ।

"विभिन्नरूपाणामनेक-कार्यजातानां कारणैकत्वोपपादनैकत्व

व्यवस्थापनं ज्ञानपदार्थः ।"

"एकत्वेन प्रतिपन्नात् कुतश्चिदेकस्मान्मूलत्वात्
अनेकानेक कार्यजातानामाविर्भावक्रमोपपादनं विज्ञानपदार्थ: ।"

किसी एक अर्थ में अर्न्तभूत अनेक आरंभक द्रव्यों का विभाजन कर नामरूप और कर्म की व्याख्या करना विज्ञान है ।

जैसे - एक ब्रह्मतत्व से परात्पर, पुरुष, सत्य, यज्ञ, विराट् रूप से तत्वविभाग करना ।

इस प्रकार पण्डित मधुसूदन ओझा ने अपने गीताविज्ञानभाष्य में गीतातत्व को वेदविज्ञान से ही ओत-प्रोत बतलाया है । उनके अनुसार जो गीता —

सर्वविद्या प्रत्यक्षदर्शिना योगीश्वरेण भगवता
कृष्णेन इयमव्ययविद्याचतुष्टयी गीयमानाऽभूत्"

जो सर्वविद्याओं के प्रत्यक्ष द्रष्टा योगीश्वर भगवान् कृष्ण के द्वारा गाई गई हो

जिसमें अव्ययविद्या-चतुष्टयी का भण्डार निहित हो, ऐसी स्वत:प्रमाण भगवद्गीता वैदिकतत्व से विरहित कैसे हो सकती है ।

जो लोग कर्म उपासना और ज्ञान को पृथक्-पथक् मानकर लोकव्यवहार करते हैं तथा इन योगों को परस्पर विरोधी मानते है वे पथभ्रष्ट भ्रान्तबुद्धि हैं—

ते चैतने प्रपश्यन्ति सिद्धिं स्वेतरयोगत: ।
परस्परं विद्वषन्त: सर्वे भ्रान्तिमागता: ॥

स्वार्थपरायण लोगों के लिये लौकिक दृष्टि से उत्तम मानी जाने वाली तीनों ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग निष्ठाएँ भी वैज्ञानिक बुद्धियोग के अभाव में शोकसंताप का ही कारण बनती हैं। इसके विपरीत परमार्थपरायण बुद्धियोग का आश्रय लेने वाला विज्ञानपूर्ण, वैदिकदृष्टि से सिद्ध, चारों लोक यात्रा निष्ठाओं के द्वारा शोक और सन्ताप के पाश तोड़ने में समर्थ हो जाता है । ये निष्ठाएँ हैं --

१- ज्ञानलक्षण बुद्धियोगिनी ज्ञानयोगनिष्ठा

२- धर्म लक्षण बुद्धियोगिनी कर्मयोगनिष्ठा

३-ऐश्वर्य लक्षण बुद्धियोगिनी भक्तियोगनिष्ठा

४- वैराग्यलक्षण बुद्धियोगिनी बुद्धियोगनिष्ठा

एषा निष्ठा चतुष्टयी शोकसंतापोच्छेदहेतुः ॥

'विज्ञानतोऽज्ञानतश्च पश्यन् पश्यति सोऽव्ययम्' जो विज्ञान से और ज्ञान से देखता है, वह उसे अव्यय का साक्षात्कार कर सकता है ।

पं० मधुसूदन जी ने इस गीताविज्ञानभाष्य में विविध वैदिक प्रमाणों द्वारा इसकी वैज्ञानिकता का प्रतिपादन किया है और केवल लौकिक दृष्टि से देखने वाले विद्वानों को एक नई दिशा दी है । जो गहरे अध्ययन का विषय है । पं० मधुसूदन ओझा ने गीता की वैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिये जिन-जिन विद्याओं का निरूपण किया है, वे वस्तुतः गीता के नये रहस्य का उद्घाटन करती हैं जिन्हें वैदिक वाङ्मय को पढ़े बिना कठिन है ।

मानुषकृष्ण का जगद्गुरु

-डॉ० नरेन्द्र अवस्थी
सह आचार्य, संस्कृत विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

पूता यदांघ्रिपादेन यमुनाऽम्भोधसहचरी ।
कृष्णं मानुषरूपं तं, सद्यो वन्दे जगद्गुरुम् ॥

महामहोपाध्याय श्रीमधुसूदन ओझा ने श्रीमद्भगवद्गीता में प्रयुक्त "अस्मात्" (अहं आदि) शब्द को आधार बनाकर गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार के मत-मतान्तर प्रस्तुत कर अन्त में कृष्ण त्रैविध्य की निरुक्ति की है ।

गीता में प्रयुक्त "अस्मात्" शब्द से श्रीकृष्ण के निम्नरूपों का संकेत मिलता है -

१- मानुषावतार कृष्णपरक अस्मत् शब्द ।[१]
२- ईश्वरकृष्णपरक अस्मत् शब्द ।[२]
३- अव्ययकृष्णपरक अस्मत् शब्द ।[३]
४- मानुष और ईश्वरकृष्ण दोनों में समान अस्मत् ।[४]
५- मानुष और अव्ययकृष्ण दोनों में समान अस्मत् शब्द ।[५]
६- ईश्वर और अव्ययकृष्ण दोनों में समान अस्मत् शब्द ।[६]
७- अव्यय, ईश्वर और मानुषय इन तीनों में समान अस्मत् शब्द ।[७]

उपर्युक्त सभी रूपों के उदाहरण तथा युक्तियाँ प्रस्तुत करने के पश्चात् अन्त में कृष्णत्रैविध्य रूप स्वमत को निम्नरूप में प्रस्तुत किया है :-

(i) जीवाव्यय -

सभी जीवों के शरीर रूप उपाधि से उपहित सम्पूर्ण जीवों में समान रूप से रहने वाला एक अव्यय ही प्रथम जीवाव्ययरूप श्रीकृष्ण है । यह जीवाव्ययरूप श्रीकृष्ण ही गोकुलवासी मानुषरूप योगेश्वर कृष्ण है ।[८]

(ii) ईश्वराव्यय –

विश्वशरीररूप उपाधि से उपहित ईश्वराव्यय ही द्वितीय श्रीकृष्ण का स्वरूप है और यही गोलोकवासी सत्य है ।[९]

(iii) विशुद्धाव्यय –

सभी प्रकार ही उपाधियों से रहित निरुपाधिक हृद्वासी परमात्मा ही विशुद्धाव्यय है ।[१०] पंडित ओझा जी ने उपर्युक्त तीनों को क्रमशः मानुषकृष्ण, दिव्य कृष्ण और गीताकृष्ण इन तीनों नामों से व्यवहृत किया है ।

मानुषकृष्णरहस्य में महापुरुष के लक्षण

मानुषकृष्ण के रहस्य को उद्घाटित करते हुए उनके अभिजनस्थान, वंशानुक्रम आदि के निरुपाणक्रम में पण्डित ओझा जी ने महापुरुष के निम्न पाँच लक्षणों को प्रतिपादित किया है -

१ - जगद्गुरुत्व[११]
२- परमेष्ठिसत्यावतारत्व (या नवसत्यावतारत्व)[१२]
३- अच्युतभगवतत्व[१३]
४- पुरुषोत्तमत्व[१४]
५- आधिकारिकपुरुषत्व[१५]

प्रस्तुत निबन्ध का विषय उपर्युक्त जगद्गुरुत्व रूप प्रथम लक्षण ही है ।

जगद्गुरुत्व

महापुरूष के लक्षण में "जगद्गुरुत्व" लक्षण को भी ओझाजी ने चार भागों में विभक्त किया है -

१ - अव्ययपुरुषोपदेशकत्वनिबन्धनं प्रथमं जगद्गुरुत्वम् -

श्रीभगवद्गीता के उपदेश के पूर्व प्रायः विद्वान् आत्मा को सगुण स्वीकार करते हुए जीव अथवा ईश्वरात्मा रूप क्षर आत्मा को ही विश्व की सृष्टि का उपादान कारण मानते थे ।[१६] कुछ इससे भी सूक्ष्मदर्शी विद्वान् जन्म-मुत्यु-जरु-व्याधि-क्षुधा-पिपासा-शोक तथामोह से युक्त, पुण्य पापरूप कर्मों के अतिशय से युक्त, अन्यान्य लोकों में संचरण करने वाले अस्मदादि

जीवात्मा से भिन्न किसी अक्षर आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं । सर्वात्मनियन्ता यह अक्षर आत्मा छः प्रकार की ऊर्मियों से रहित पुष्करपलाश के समान निर्लेप, कर्मों से अनभिभूत, सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है - ऐसा वे सूक्ष्मदर्शी स्वीकार करते हैं ।[१७]

लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण ने क्षर और अक्षर दोनों से भिन्न तथा उनसे भी अतिसूक्ष्म अव्यय आत्मा का उपदेश दिया है —

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १५/१६ गीता
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १५/१७
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १५/१८

कार्य और कारण से अतीत, सर्वालम्बनभूत इस विशुद्ध अव्यय की क्षर और अक्षर दो प्रकृतियाँ हैं । अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर ही यह अव्यय विश्व की रचना करता है । स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा है —

"प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥" ९/८
"तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्" । १४/१३
"उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु ।" ९/९

इस प्रकार इस क्षर और अक्षर रूप प्रकृति से विशिष्ट उस अव्यय पुरूष का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राचीन विद्वानों के द्वारा अज्ञात अव्यय नाम वाले अपूर्व ब्रह्म का उपदेश दिया है । स्वयं भगवान् के शब्दों में —

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमत् ॥ ७/२४

अतः अपूर्व अर्थ के उपदेशेक होने से भगवान् कृष्ण का जगद्गुरु होना सिद्ध होता है ।

(२) बुद्धियोगोपदेशकत्वनिबन्धनं द्वितीयं जगद्गुरुत्तवर्म् -[१८]

भगवान् श्रीकृष्ण बुद्धियोग के उपदेशक होने के कारण भी जगद्गुरु हैं । इसको विस्ता से समझाते हुए पंडित मधुसूदन ओझा ही कहते हैं -

सभी प्रकार के व्यवहारों का कारण विज्ञान ही बुद्धि है । वह बुद्धि दो प्रकार की है -

१- व्यवसाय बुद्धि

२- अव्यवसाय बुद्धि

जिस विज्ञान या बुद्धि का विषय कभी परिवर्तित नहीं होता वह व्यवसायबुद्धि है और जिस बुद्धि का विषय गृहीत होकर परित्यक्त हो जाय वह अव्यवसाय बुद्धि है ।[१९]

भगवान् ने स्वयं कहा है -

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशांखात्यनेन्ताश्च बुद्धयों व्यवसायिनाम् ॥ २/४१

यद्यपि सत्यज्ञान एक रूप वाला होने के कारण कभी परिवर्तनीय नहीं है फिर भी अव्यवसायबुद्धि के दोष से अज्ञात से उत्पन्न अनके मतभेद संसार में प्रचलित हैं -

१- कुछ धर्माचार्य व्यवसायबुद्धि से व्यवहार करते हुए सत्य अर्थ का ही ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार ज्ञान-अज्ञान-अन्यथाज्ञानों में तथा सत्कर्म-अकर्म-विकर्मों में से ज्ञान और कर्म ही उपादेय हैं न कि अज्ञान-अन्यथा-ज्ञान अथवा अकर्म-विकर्मों। क्योंकि अज्ञान-अन्यथाज्ञान तथा अकर्म-विकर्म शोक उत्पन्न करते हैं । २०

२- व्यवसाय बुद्धि का ही आश्रय लेकर कुछ अन्य लोग कहते हैं -
देश, काल, पात्र, द्रव्य, उपाय और श्रद्धा - इन छः धर्मानुबन्धनों के परिस्थिति भेद से कर्म-अकर्म और विकर्म तीनों का ही विनिमय किया जा सकता है । इसीलिए कहा है

कर्मणों ह्यापि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण: ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गाति: ॥[२१] ४/१७

३- अव्यवसायबुद्धि का आश्रय लेकर व्यवहार करने वाले लोग बुद्धि - दोष से अनेक मतभेदों का प्रचार करते हैं। उनमें से कुछ शुभ-अशुभ सभी प्रकार के कर्मों के प्रचार की निन्दा

करते हुए हमेशा कर्मसंन्यास की ही बात करते हैं तथा उसके प्रभावों में निम्नलिखित श्रुतिवाक्य उपस्थित करते हैं। [२२]

न कर्मणा न प्रजया धनेन न त्यागेनैके मृतत्वमानुशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥
-महानारायण उप. १०/५

४- अन्य लोग कर्मयोग का परित्याग करते हुए भी उपासना योग को स्वीकार कर शाक्त-शैव-वैष्णव आदि उपासना भेदों से कर्मभेदों का आश्रय लेकर परस्पर विवादपूर्वक विद्वेष करते हुए कलुषित हृदय हो जाते हैं। [२३]

५- कुछ अन्य कहते हैं कि कर्म दो प्रकार का होता है -
प्रथम- वाणी, बुद्धि तथा शरीर से उत्पन्न होने वाला, तथा
द्वितीय- वाणी आदि से उत्पन्न वासना संस्कार कर्म ।

संस्कारकर्म से पुनः आरम्भकर्म और आरम्भकर्म से फिर संस्कार कर्म इस प्रकार वीजांकुर के समान कर्मों की अश्वत्थ परम्परा है समस्त लोक इसी प्रकार के कर्मों को करते हुए अत्यन्तिक शान्ति-सुख को प्राप्त नहीं करते हैं। [२४] स्वयं भगवान् के शब्दों में —

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगातिं प्रति ॥ २/४३
भोगैश्वर्यप्रसक्तानी तयापहतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ इति २/४४
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ इति च ॥ २/६६

इसलिए सुख चाहने वालों को ऐकान्तिक रूप से कर्मों का परित्याग करना चाहिये क्योंकि कर्मों के आत्यन्तिक संन्यास के पश्चात् सच्चिदानन्द विशुद्ध आत्मा ही अवशिष्ट रहता है । महर्षि गौतम के अनुसार —

"दुखः-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरायामेतदनन्तरापायादपवर्गः" न्यायसूत्र ।

ज्ञानयोग-कर्मयोग तथा भक्तियोग - पूर्वाचर्यों द्वारा प्रदर्शित त्रिविध योग को परिभाषित करते हुए आचार्य मधुसूदन जी कहते हैं -

१- सर्वविधकर्मैकान्तसंन्यासलक्षणो - ज्ञानयोग: ।

२- विद्यानिरपेक्षकर्म्मारम्भयोगलक्षण: - कर्मयोग: ।

३- ज्ञान कर्मसमुच्चयरूपो विद्याभक्ति भूतकर्म्मारम्भलक्षणो - भक्तियोग : ।

ज्ञानयोगनिष्ठ कर्म्मसंन्यास पक्ष का निराकरण - आचार्य मधुसूदन ओझा ने ज्ञानयोगनिष्ठ कर्म्मसंन्यास पक्ष के निराकरण के लिये पाँच विकल्प उपस्थित किये हैं—

१- कर्म्मसंन्यास से किसी फल का उदय नहीं होता है इसलिए कम्म सन्यास व्यर्थ है । [२५]

२- कर्म स्वयं न तो बन्धक होते हैं और न ही आवश्यक अत: निर्दोष होने के कारण कर्मो का संन्यास व्यर्थ है । [२६]

३- कर्म और ज्ञान दोनों ही संयुक्तरूप से आत्मस्वरूप धर्म होने के कारण कर्म करना अनिवार्य है - इस प्रकार संन्यास के असंभव होने से कर्मसंन्यास व्यर्थ है । [२६]

४- कर्मजनित बन्धन गुणहेतुक होने के कारण कर्म से ही निवृत्ति सम्भव होने से सिद्ध होता है कि कर्म ही नैष्कर्म्य के उपाय हैं । अत: कर्मसंन्यास व्यर्थ है । [२८]

५- कर्म नि:श्रेयस् के उपाय तथा अभ्युदय के जनक होते हैं, अत: कर्मसंन्यास व्यर्थ है । [२९]

पंडित ओझा जी ने कर्मसंन्यासवादियों के मत का युक्तियुक्त खंडन किया है । ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर सभी प्रकार के कर्मो के संन्यास की बात करने वाले अपने मत में भगवद्गीता के निम्न श्लोकों को उपस्थित किया है --

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव: । ५/१५

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मन: ॥

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ इति ५/१६

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै: ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि । इति ९/२८

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे । १८/४९

पंडित ओझाजी द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन - संन्यास का अर्थ है - त्याग । लेकिन किसका त्याग ? यह प्रश्न विचारणीय है । सभी प्रकार के कर्मों के संन्यास से यह संन्यास योग सिद्ध होता हो यह बात नहीं है क्योंकि एकान्ततः कर्मसंन्यास अत्यन्त निन्दनीय है । कर्मयोग और संन्यास योग दोनों की तुलना हितकर है लेकिन यह संन्यास योग कर्मयोग के साहाय्य से ही श्रेयस्कर होता है न कि कर्म से अलग होकर। अतः कर्मयोग श्रेष्ठ है कर्मयोग की अपेक्षा बुद्धियोग श्रेष्ठ है— यही कर्मसिद्धान्त है।[३०]

भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों मे --

संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात्कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥ ५/२
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ५/६

शंका - कर्मों का संन्यास (त्याग) ही तो यह संन्यास योग है और उसी संन्यासयोग को कर्म का साहाय्य अपेक्षित है-यह कहना तो उचित प्रतीत नहीं होता।[३०]

समाधान - कर्मों के त्याग का नाम संन्यास योग नहीं है अपितु कर्म से उत्पन्न होने वाले फलों के प्रति आसक्ति का त्याग ही संन्यासयोग है । वर्तमान में कर्मों का त्याग करने से कदाचित् बाद में होने वाले कर्मजनित संस्कारों का उदय भले ही न हो लेकिन पूर्व में किए हुए कर्म और उनसे उत्पन्न हुए संस्कार जो कि आत्मा में स्थित हैं उनका विनाश तो संभव नहीं है और जब तक उत्पन्न संस्कार वाले पुण्य-पापों का बाध नहीं हो जाता तब तक आवरण का नाश भी संभव नहीं है । अतः कर्म्मसंन्यास नितान्त व्यर्थ है ।[३२]

इस प्रकार के बुद्धियोग का उपदेश देने के कारण ही श्रीकृष्ण जगद्गुरु हैं। बुद्धियोग के उपदेश के अन्तर्गत ही निम्न दो प्रकार से भी भगवान् श्रीकृष्ण का जगद्गुरुत्व सिद्ध होता है।

३- ज्ञानयोग-कर्मयोग-भक्तियोगानामभेदोपदेशकत्वनिबन्धनं तृतीयं जगद्गुरुत्वम् कर्मों से ही नैष्कार्य की सिद्धि-

भगवान् मनु ने कहा है - प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म्म वैदिकम्" । प्रवृत्तिकर्म से

वासना संस्कार उत्पन्न होते हैं और वे आत्मा के लिये बन्धन स्वरूप हैं। निवृत्ति कर्म से बन्धनभूत पूर्वकर्मजनित वासना संस्कारों का नाश होता है । अतः कर्मपरायण विदेह जनकादि में कर्म के द्वारा ही नैष्कर्म्य की सिद्धि प्रत्यक्ष देखी जाती है -

"न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ३/४

कर्म्मणेंव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥ ३/२०

कर्म्मों से नैष्कर्म्य की सिद्धि को बतलाने के बाद आचार्य श्री ओझा जी ने विस्तार से आत्मा के पुरुषधर्म तथा प्रकृतिधर्म रूप द्विविध कर्म विभाग को बतलाकर पुनः प्रवृत्तिकर्म के विद्यानिरपेक्ष तथा विद्यासमुच्चित विभाग बतलाकर विस्तार से ज्ञानयोग और कर्म्मयोग के अत्यन्त सन्निकर्ष को सिद्ध किया है । विस्तारभय से उस संपूर्ण व्याख्यान को उपस्थित न कर, निषकर्ष रूप में जो उन्होंने कहा हैं उसी को यहाँ प्रस्तुत करता हूँ—

कर्म्मयोग और ज्ञानयोग में अत्यन्त सन्निकर्ष है। जैसे कि फल की कामना में अनासक्ति से कर्म करना कर्मयोग है और क्रियमाण कर्मों के फल के प्रति कामना का त्याग ही ज्ञानयोग है । इस प्रकार जहाँ कर्मययोग और ज्ञानयोग का ऐक्य होता है वही बुद्धिमान है।[३३] अतः यह सिद्ध होता है कि बुद्धियोग के दो अंग हैं -

१- ज्ञानयोग, २- कर्मयोग

अतः सांख्याचार्यों ने जो ज्ञानयोग की व्याख्या करते हुए कर्मों के संन्यास का विधान किया है वह केवल मीमांसा ही है । वस्तुतः तो भगवान् वेदपुरुष भी कर्मसंन्यास का प्रतिषेध ही करते हैं —

कुर्वन्नवेह कर्माणि जिजीविच्छतं समाः ।

एंव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

-ईशावास्योपनिषद् - २

किसी को इस भ्रम में भी नहीं रहना चाहिये कि कर्म तो बंधन के कारण हैं, इसलिए कर्म करने वाले अमृतत्व को प्राप्त नहीं हो सकते क्योंकि आत्मज्ञानसहित किया जाने वाला कर्म कभी बन्धन का कारण नहीं बनता । इस प्रकार सब प्रकार से कर्म करते हुए भी अमृतत्व की

प्राप्ति में कोई बाधा नहीं है --

"एष नित्यो महिमा ब्रह्मणोऽस्य
न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा
न कर्मणा लिप्यते पापकेन ॥

-वृहराण्य .४.४.२३

भगवान् कृष्ण ने भी गीता में कहा है --

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १८/१७
त्यक्त्वा कर्मफलासंग नित्यतृ निराश्रय: ।
कर्मण्यभ्रिप्रवृत्तो पि मैव किंचित्करोति स: ॥ ४/२०

इस प्रकार सभी प्रकार के योगों में अभेद का उपदेश देने के कारण श्रीकृष्ण का जगद्‌गुरुत्व सिद्ध होता है ।

४-निष्कामकर्मोपदेशकत्वनिबन्धनं चतुर्थ जगद्‌गुरुत्वम् -

चतुर्थ प्रकार से मानुषकृष्ण का जगद्‌गुरुत्व सिद्ध करते हुए पंडित ओझा जी कहते हैं— यह आत्मतत्व आत्यन्तिक रूप से कभी कर्म का परित्याग कर ही नहीं सकता है क्योकि वह अव्यय आत्मा तीन रूपों वाला है --

१- विद्यामय, २- काममय, ३- कर्म्ममय

आनन्दविज्ञानमनोऽवच्छेदेन विद्यामय: ।
विज्ञानमन: प्राणावच्छेदेन काममय: ।
मन: प्राणवागवच्छेदेनायमात्मा कर्म्ममय: संभवति ॥

इस प्रकार मन, प्राण एवं वाणी से अवच्छिन्न यह आत्मा प्रतिक्षण, निरवच्छिन्न, अनवरत रूप से कुछ जानता है, इच्छा करता है तथा कर्म करता है -

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥ ३/५

आत्मा के इस कर्ममयस्वरूप को सिद्ध करने के लिये आचार्य श्री ओझा जी शतपथ ब्राह्मण से अनेक प्रमाण उपस्थित करते हैं।[३४]

अन्त में श्री ओझा जी कहते हैं कि कर्म्मसंन्यास में निन्दापूर्वक कर्मयोग की आवश्यकता बतलाई गयी है लेकिन इस कर्मयोग से उत्पन्न होने वाले शुभाशुभ कर्म्मजन्य बन्धन दोषों के परिहार के लिये कर्मयोग में बुद्धियोग की भी नितान्त आवश्यकता है अर्थात् निष्काम कर्म ही श्रेयस्कर है ।

भगवान् श्रीकृष्ण के ही शब्दों में अपनी उपर्युक्त व्याख्या को प्रमाणित करते हुए विद्यावाचस्पति पंडित मधुसूदन ओझा मानुषकृष्ण के जगद्गुरुत्व को सिद्ध करते है --

"शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ १/२४

दूरेणतथेपरं हय कर्म्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृष्णाः फलहेतवः ॥ २/४९

कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मीनषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पंद गच्छन्त्यनामयम् ॥ २/५७

पंडित ओझाजी ने उपर्युक्त रूप से अपनी अतिसूक्ष्म मनीषा से जिस प्रकार मानुषरूप अवतरित श्रीकृष्ण का जगद्गुरुत्व सिद्ध किया है उससे मुझे पंडित ओझाजी को भी जगद्गुरु कहने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं होता है ।क्योंकि गीतोपदेष्टा ने तो सुबुद्ध अर्जुन को सूक्ष्म रूप में जिस बुद्धियोग को समझाया था श्री ओझाजी ने उसी को विस्तारपूर्वक सप्रमाण समझाकर हम मन्दबुद्धियों पर अत्यन्त उपकार किया है ।

टिप्पणी--

१ - गीता - ३/३१, ३/३२, ४/३. ४/५ आदि

२ - गीता - ४/७, ४/८, ४/१०, ४/११ आदि

३ - गीता - ३/३०. ४/१३, ४/१४. ७/१ आदि

४ - गीता - ११/७, ११/८, ११/४७, ११/४८ आदि

५ - गीता - २/१२, ४/३५, ३/२७, १०/१९ आदि

६ - गीता - २/६१ ४/६, ६/१४, ६/१५ आदि

७ - गीता - ३/२२, ३/२३, ३/२४, ४/११

८अ - कृष्णत्रैविध्यनिरूक्ति : .पृ० -११

९ - वही, १० - वही, ११ - वही, पृ.-२१ १२ - वही, १३ -वही, १४ -वही, १५ -वही, १६ - वही, पृ० -२२, १७ - वही, १८ - वही, पृ० - २३ १९ - वही, २० - वही, २१ - वही, २२ - वही, २३ - वही, २४ - वही, २५ - वही, पृ० -२४, २६ - वही, २७ - वही, २ २८ - वही, २९ - वही, ३० - वही, पृ०-२५। ३१ - वही, ३२ - वही, ३३ - वही, पृ०-२७ ३४ - वही, पृ० - २८-२९

आशौचनिर्णय

(पंडित मधुसूदन ओझाकृत-आशौचपंजिका के अनुसार)

डॉ. ठाकुरदत्त जोशी
सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

धर्म मानव समाज का अभिन्न अंग है, मनुष्य की उत्पत्ति एवं अवसान भी धर्म से अनन्वित नहीं है । मनुष्य की उत्पत्ति प्राकृत एवं असंस्कृत रूप में होती है। संस्कारों के माध्यम से असंस्कृतता के निराकरण के साथ ही मनुष्य के अन्दर गुणों का आधान किया जाता है, अत: संस्कारों का प्रयोजन, दोषापनयन व गुणों का आधान माना गया है ।

भारतीय समाज में "संस्कार" की विशेष प्रतिष्ठा है। जन्म से मृत्युपर्यन्त सोलह संस्कारों का विधान है । इन संस्कारों से ही मानव परिष्कृत होता हुआ आगे बढता है । समृद्ध और सुखी जीवन के लिए संस्कार आधार-शिला है । इन संस्कारों से पवित्रता, कर्तव्य के प्रति जागरुकता के साथ मनुष्य के अन्दर एक विशेष प्रकार की क्रियाशीलता उत्पन्न होती है । मनु ने तो संस्कारवान् मानव को ही वेदाध्ययन का अधिकारी कहा है --

निषेकादि श्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥

संस्कारों में कुछ ऐसे भी संस्कार हैं, जिनका आज उपयोगिता की दृष्टि से प्रचलन नहीं है । गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त जिन षोडश संस्कारों को अतीतकाल में अत्यावश्यक माना गया था वे हैं --

(१) गर्भाधान, (२) पुसंवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) निष्क्रमण, (७) अन्नप्राशन, (८) चूडाकर्म, (९) कर्णवेध (१०) उपनयन, (११) वेदाध्ययन, (१२) समावर्तन, (१३) विवाह, (१४) वानप्रस्थ, (१५) संन्यास, (१६) अन्त्येष्टि ।

पं० ओझा ने "आशौचपंजिका" नामक पुस्तक के माध्यम से तर्कप्रधान जनता के लिये, आशौच का स्वरूप, आशौच का प्रभाव, सापिण्ड्य आदि वस्तुओं का युक्तियुक्त विवेचन किया

है । यह ग्रंथ परिभाषाध्याय, सूत्राध्याय, जन्माध्याय मरणाध्याय, उत्तरक्रियाध्याय, दोषाध्याय, पाताध्याय अतीतकालाध्याय, अपवादाध्याय और वाक्यसंग्रहधयाय साध्यमेन दस अध्यायों में विभक्त है ।

प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य विषय प्रायः आशौच जन्माध्याय एवं मरणाध्याय से संबंधित है । प्रत्येक विषय में शरीरात्मा अन्तरात्मा और विशुद्धात्मा इन आत्माओं की सत्ता मानी गयी है । अन्तिम विशुद्धात्मा दोष रहित है । शेष दो एवं शरीरात्मा सत्त्वदोष से संयुक्त हैं इनके संस्कार की अपेक्षा होती है । आहार-विहार आदि के प्रयुक्त द्रव्यों के हीनयोग, मिथ्यायोग एवं अतियोग से सत्त्व के भीतर जो अशुभरूप मल संचित होते हैं, उन मलरूप दोषों को हटाना ही दोषमार्जन है, दोषमार्जन ही शुद्धिसंस्कार है । जन्म-मरणविषयक अघ की शुद्धि बतलाना ही इस लेख का प्रयोजन है ।अघ को आशौच नामान्तर से भी अभिहित किया गया है ।

ओझाजी के अनुसार आशौच के कारण हैं-जन्म, मुत्यु, उत्तरक्रिया, तथा दोष । इनके कारण ही आशौच के भी चार भेद हो जाते हैं— जन्माशौच, मरणाशौच, उत्तरक्रियाशौच तथा दोषाशौच,

वररुचिप्रणीत "आशौचाष्टक" में आशौच दो प्रकार के माने गये हैं। अस्पृश्यत्वलक्षणरूप और अधिकारभावलक्षणरूप, अस्पृश्यत्वलक्षणरूप-आशौच चाण्डालादि स्पर्शजन्य माना गया है, जिसकी निवृत्ति स्नानमात्रेण संभव है । २

अधिकारभावलक्षणरूप आशौच जन्मनिमित्तक एंव मरणनिमित्तक भेद से दो प्रकार का माना गया है । जन्मनिमित्तक आशौच की अपेक्षा मरणनिमित्तक आशौच प्रबल है । आशौच, अघसूतक ये एक दूसरे के पर्यायवाची ही हैं । "अशुचेर्भावः कर्म वा आशौचम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी अशुचिता, अपवित्रता, कर्माधिकारवैराहित्य ये सभी आशौचपरक अर्थ के द्योतक हैं । जातक के जन्म लेने पर माता-पिता आदि सम्बन्धी वर्ग में कतिपय कालपर्यन्त अशुद्धि उत्पन्न हो जाती है, वही अशुद्धि जन्माशौच नाम से अभिहित की जाती है । इसी प्रकार मृतक के दिवंगत होने पर माता-पितादि वर्ग में, स्त्री-पुत्रादिवर्ग में कुछ काल पर्यन्त जो अशुद्ध हो जाती है, उसे मरणशौच कहते है ।

इसी प्रकार मृतक के मरने पर और्ध्वदेहिक वाह-दाहादि उत्तरकालिक अष्ट क्रियाओं के कारण अशुद्धि को उत्तरकालिक क्रियाशौच नाम से अभिहित किया जाता है । मलिनता के कारणभूत और भी अनेक दोष हैं, जिनके संबंध से अशुद्धि उत्पन्न होती है , उस अशुचि को

दोषाशौच नाम से पुकारा गया है ।अधिष्ठांन के भेद से भी आशौच तीन प्रकार का बतलाया गया है, स्पर्शाशौच, मंगलाशौच और कर्माशौच । किसी व्यक्ति के शरीर पर स्पर्श करने मात्र से जो आशौच स्पर्शकर्त्ता व्यक्ति के शरीर में संक्रमित हो जाता है, उसे स्पर्शाशौच कहते है जिसमें वैदिककर्मानुष्ठान एवं देवकर्म का निषेध किया जाता है तथा प्रेतपिण्ड क्रिया को छोडकर पितृकर्म का भी जिसमें निषेध किया जाता है, वह श्रौतस्मार्तकर्म-प्रतिषेध-लक्षण कर्मशौच नाम से जाना जाता है, जिसमें विवाह-उपनयना मंगलकार्यों को तथा गयादि अपूर्वतीर्थयात्राओं का भी निषेध किया जाता है, उसे मंगलाशौच कहते हैं ।

यहां आशौच के संदर्भ में यह जान लेना अत्यावश्यक है कि कोई भी व्यक्ति उत्पन्न होता है तो उसमें एक पितामात्र ही कारण नहीं होता, अपितु पूर्वपुरुषों का भी उसमें योगदान होता है, इस बात को ओझाजी ने समझाने का पूर्ण प्रयास किया है । शरीरी का मूलपिण्ड चौरासी कलाओं से समन्वित है । इन चौरासी कलाओं में पूर्वजों की कलाएँ निम्नप्रकार से सम्मिलित रहती हैं—

१- परम-अतिवृद्धप्रपितामह की -	१
२- अतिवृद्धप्रपितामह की	३
३- वृद्धप्रपितामह की	६
४- प्रपितामह की	१०
५- पितामह की	१५
६- पिता की	२१
७- स्वयं की कूटस्थ (शिशु का पिता)	२८
योग	८४

इस प्रकार चौरासी कलात्मक सप्तशरीरावयव शरीरी में छह पितरो का कूटस्थापत्य से संबंध है । परमापिवृद्धप्रपितामह स प्रारंभ कर स्वयं बीजी पुरुष तक सात पुरुषों के सम्बन्ध का सूत्र ही ८४ कलात्मक मूलपिण्ड है । अर्थात् ८४ कलात्मक पिंड में से पिता (कूटस्थपुरुष) पुत्र में ५६ कलाओं का आधार करता है । इन ५६ कलाओं में से २१ स्वकीय हैं, १५ पितामह की, १० प्रतितामह की,. ६ वृद्धप्रपितामह की, ३ अतिवृद्धप्रपितामह की, एक-परमातिवृद्ध प्रपितामह की । इस प्रकार ८४ कलाओं में से ५६ कलाओं का ऋण पितरों से प्राप्त किया था, उसमें से ३५ कलाओं का उसने आगे पुत्र में आधान करके चुका दिया और उतने ऋण से मुक्त हो गया । फिर भी २१ कलाएं पितरों की उसके पास विद्यमान हैं जो देह धारण के लिये आवश्यक हैं,

जिनका प्रत्यर्पण वह पितरों को देहत्याग के बाद करेगा, देहत्याग के पूर्व इस ऋण का चुकारा वह कूटस्थ पुरुष, पिण्डभाग एवं तर्पण माध्यमेन करता हैं ।

श्राद्धकर्ता जिन छह पितरों को पिण्डदान करता है उनमें पिता, पितामह एवं प्रपितामह पिण्डभागी हैं, शेष तीन-वृद्धप्रपितामह, अतिवृद्धप्रपितामह तथा परमातिवृद्धपितामह लेपभागी हैं । अतः पित्रादित्रय श्राद्धसम्बन्धियों को पिण्डदान दिया जाता है, शेष को नहीं । कहा भी गया है—

लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभाजिनः ।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां, सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥[३]

इस प्रकार जनन-मरणात्मक इस संसार में मानव, देहत्याग के बाद २८ कलाओं में ७ कलाओं से अपने सूक्ष्म शरीर को धारण करता हुआ, शेष २१ कलाओं को पितरों को अर्पित करता हुआ, उनका कर्ज चुकाता हुआ, उन पितरों में ही मिल जाता है । पं० ओझाजी द्वारा प्रदत्त पिण्डसन्तान क्रमचक्र—

पिण्ड-सन्तान-क्रम-चक्र[४]

		अपने में	पुत्र में	पौत्र में	प्रपौत्र में	वृद्ध प्रपौत्र में	अति वृद्ध प्रपौत्र में	परमाति वृद्ध प्रपौत्र में	
	८४	२८	२१	१५	१०	६	३	१	०
अपनी	२८	७	३	५	४	३	२	१	०
पिता की	२१	६	५	४	३	२	१	०	
पितामह की	१५	५	४	३	२	१	०		
प्रपितामह की	१०	४	३	२	१	०			
वृद्धप्रपितामह की	६	३	२	१	०				
अतिवृद्धप्रपितामह की	३	२	१	०					
परमातिवृद्धप्रपितामह की	१	१	०						

पितृलब्धमूलराशि   अनिवार्यराशि   पुत्रनिक्रमयराशि

८४   २८   ५६ पितृभाग

२८ स्वभाग

८४–२८ = ५६ पितृभाग

२८ स्वभाग

८४

जन्म के कारण अथवा मृत्यु के कारण उत्पद्यमान आशौच जिन कारणों से लगता है वे हैं - योनिसम्बन्ध, विद्यासम्बन्ध, यज्ञसम्बन्ध तथा संसर्गसम्बन्ध । यह आशौच संक्रमण, पात्र की योग्यता एवं सम्बन्ध के आधार पर भी न्यूनाधिक प्रभावी होता है । सम्बन्ध अल्पमात्रा में होने पर संक्रमण अल्पमात्रा के साथ-साथ अल्पकालिक अर्थात् स्वल्पकाल में ही क्षीण हो जाता है. सम्बन्धसूत्रों की प्रगाढता की स्थिति में आशौच का संक्रमण मात्राधिक्य के साथ अधिककाल में क्षीण होने से अधिककालिक, तात्कालिक, एकदिवसीय, अहोरात्रीय, त्रिदिवसीय, दसदिवसीय के आधार पर आशौच से उसी प्रकार असंपृक्त रहता है ।

अंग-सहित, कल्प-सहित, रहस्य-सहित, शाखाओं सहित वेदवेत्ता, अग्निमान विशिष्टकर्मवान् पुरुष, संक्रम्यमाण आशौच से उसी प्रकार असंपृक्त रहता है ।जैसे जल में विद्यमान कमलपत्र जल से अप्रभावित हुए स्थित रहते हैं ।

जन्मविषयक सूतिका के सम्बन्ध में कुछ बातें विवेचित ग्रंथानुसार ज्ञेय है । प्रथम चार महीनों में नग्नगर्भ की योनि से बहिभाव को गर्भस्राव कहा जाता है, पंचम से अष्टमास पर्यन्त निर्जीव गर्भ का योनि से बहिर्भाव को गर्भपात कहा जाता है तथा सप्तम मास से दशम मासपर्यन्त जीवित गर्भ को योनि से बहिर्भाव प्रसव कहलाता है । ओझाजी ने उक्त कथन को सारणी के माध्यम से भी समझाया है ।

मास	१	२	३	४	डिम्भस्राव
मास	५	६	७	८	निर्जीवगर्भपात
मास	७	८	९	१०	जीवितगर्भपात

इससे मेल खाती हुई मान्यता के दर्शन धर्मसिन्धु में भी होते हैं—

आचतुर्थाद् भवेत्स्राव: पात: पंचमषष्ठयो: ।
अत: ऊर्ध्व: प्रसूति: स्यात्तत्राशौचं विविच्यते ॥ [५]

ओझाजी ने आशौच विषयक अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा है यदि ब्राह्मणी का प्रथममास में गर्भपात हुआ हो तो दो दिन का आशौच, द्वितीय तृतीय मास में गर्भस्त्रांव होने पर तीन दिन का, चतुर्थ मास में चार दिन का, पंचम मास में पांच दिन का, षष्ठमास में सात दिन का आशौच लगता है । उन्होंने सभी वर्णों के लिये स्राव एवं पात की स्थिति में आशौच विषयक जो अपनी मान्यता प्रस्तुत की है, उसे निम्न सारणी के अनुसार संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

वर्णानुसार स्राव एंव पात में आशौच का विधान

मास	१	२	३	४	५	६
ब्राह्मण	२	३	३	५	६	७
क्षत्रिय	३	४	५	६	७	८
वैश्य	४	५	६	७	८	९
शूद्र	७	८	९	१०	११	१२

इस उपक्रम में ओझाजी ने अनेक मान्यताओं को निम्नप्रकार से प्रस्तुत किया है --

शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिप: ।
वैश्य: पंचदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥
"सर्वे वा स्युर्दशाहित:"[६]

अर्थात् विप्र की दस दिन में, क्षत्रिय की बारह दिन में , वैश्य की पन्द्रह दिन में, शुद्र की महिने में शुद्धि हो जाती है । सभी वर्णों की शुद्धि दस दिन में हो सकती है, यह भी मान्यता है । शूद्रा के अतिरिक्त सूतिका किसी वर्ण की हो, सप्तम में दशम मास पर्यन्त गर्भप्रसव में सूतिका को दस रात्रि का स्पर्शआशौच लगेगा। अर्थात् सूतिका दस दिन पर्यन्त अस्पृश मानी जायेगी । [७]

कर्माशौच विषयक उनकी मान्यता है कि पुत्रोत्पत्ति में मासभर का कन्योत्पति में चौबीस

दिन का कर्माशौच लगेगा, इस मान्यता को ओझाजी ने दक्षिणात्य मान्यता नाम से अभिहित किया है ।

एक अन्य मान्यता ऐसी भी परिलक्षित होती है-शूद्र के पुत्रोत्पत्ति में बीस दिन का कन्या के जन्म में एक महीने का आशौच लगेगा । ओझाजी ने इस मान्यता को गौडीय मान्यता नाम से अभिहित किया । यह निर्णय सत्संकारों से युक्त शूद्र के लिये ही मान्य माना गया है, असत्-शूद्रों के लिये नहीं ।[८]

पितृगृह में विवाहिता कन्या के स्राव-पातादि होने पर संसर्गियों को प्रसूतिकाल पर्यन्त पूर्ण आशौच लगेगा, असंसर्गियों को प्रसूति का एक दिन का आशौच लगेगा ।[९] स्रावपातादि यदि पतिकुल में होते हैं तो कन्या के माता-पिता को किसी प्रकार का आशौच नहीं लगेगा ।

ब्रह्मणेतर जातियों के लिये आशौचीय दिवसों की संख्या उत्तरोत्तर अभिवृद्धि के साथ बतलाई गई है ।ब्राह्मणवर्गीय जनों के लिये ओझाजी की मान्यतानुसार संसर्गी एवं सपिण्डों को दस दिन का, सकुल्यों को त्रिरात्र का, सोदकों को त्रिरात्र का अथवा अहोरात्र का आशौच लगेगा । गौड ब्राह्मण अहोरात्र के ही पक्षपाती हैं । ओझाजी की मान्यतानुसार सात पीढी पर्यन्त के सवर्गीबन्धु, सपिण्ड तथा सात से दस पीढी पर्यन्त के सवर्गियों को सकुल्य, सातवीं पीढी से चौदहपीढी पर्यन्त के लोगों को सोदक कहा जाता है । चौदहवीं पीढी के ऊपर इक्कीसवीं पीढी के अन्तर्गत आने वाले सवर्गीय बंधुओं को भी परस्पर आशौच लगता है । कुछ लोगों की मान्यता है, यह आशौच एक दिन का लगता है । गौडों की मान्यतानुसार यह आशौच अहोरात्र तक का लगेगा । दाक्षिणात्यों के अनुसार स्नानमात्र से शुद्धि हो जाती है ।[१०] विज्ञानेश्वर की मान्यता के अनुसार सभी वर्णों के सपिण्ड लोगों को दस दिन का आशौच होता है । जन्म के आशौच में, गर्भिणी दस दिन तक अस्पृश्या होती है । कन्या के जन्म पर मास भर का, पुत्र के जन्म पर बीस दिन का कर्माशौच लगेगा । पिता आदि सपिण्डों को भी आशौच में कर्म करने का अधिकार नहीं है ।

विवाह के अनन्तर परगोत्रीयता धारण करने वाली कन्या की, स्वपितृगृह में प्रसूति होती है तो माता-पिता, भाई आदि को भी एक दिन का आशौच होता है । आचार्यमाधव के अनुसार माता-पिता को तीन दिन का आशौच, तथा भाई को एक दिन का अशौच होगा । पितृगृह में प्रसव होने पर माता-पिता आदि को किसी भी प्रकार का आशौच न होगा । मृतबालक के उत्पन्न होने पर सपिण्डों को सम्पूर्ण जननाशौच होगा, किन्तु मरणाशौच किसी को भी नहीं

होगा।[११]

जन्म के अनन्तर नालच्छेदन से पहले शिशु के मरने में पिता आदि सपिण्डों को तीन दिन का, माता को दस दिन का आशौच होता है, किन्तु मरने का आशौच किसी को भी नहीं होता है।[१२]

नालच्छेदन से पीछे दस दिन के भीतर बालक के मरने पर सपिण्ड आदि को जन्म का सम्पूर्ण आशौच होता है, और मरण आशौच किसी को भी नहीं होता । मरणाशौच वाले को स्पर्श करने की योग्यता नहीं होती है और कर्म का अधिकार भी नहीं होता है । गौडों की मान्यतानुसार माता-पिता को दस दिन का, सोदर को त्रिरात्र का, जननाशौच होता है, सपिण्डों को जननाशौच भी नहीं होता है ।[१३]

कतिपय आचार्यों के अनुसार द्विज आशौचकाल में सन्ध्योपासना के उपक्रम में आचमन, सूर्योपस्थापन, सन्ध्याजाप भले ही न करे, किन्तु कुशवारिवर्जित मानसिक सन्ध्या का परित्याग न करे।[१४] पिण्डदान और उदकदान पितृयज्ञ हैं। पिण्डदान को श्राद्ध नाम से, उदकदान को तर्पण नाम से अभिहित किया जाता है ।

जन्म-आशौच— यह आशौच दाक्षिणात्यों के अनुसार जन्मकाल से ही प्रारंभ हो जाता है परन्तु गौड लोग नालच्छेदन के अनन्तर ही आशौच मानते हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि जन्मश्रवणमात्र से ही यह आशौच प्रारंभ हो जाता है।[१५] इसी प्रकार मरणाशौच के विषय में आचार्य एकमत नहीं हैं। कुछ लोगों के अनुसार यह आशौच मृत्युकाल से, कुछ के अनुसार दाहकाल से, कुछ के अनुसार श्रवणकाल के अनुसार ही प्रारंभ हो जाता है ।[१६]

ग्रंथकार के अनुसार आहिताग्नि की आशौच दिनगणना दाहकाल से करनी चाहिये मृत्युकाल से नहीं। आशौच निमित्तक विधिनिषेध व्यवहार प्रवृत्ति में तो, जनन या मरण के श्रवणकाल से ही गणना प्रारंभ हो जाती है। सुनने से पूर्व स्पर्शकरण और कर्मकरण में किसी प्रकार का दोष नहीं होता है, ज्ञान के व्यवहार में निमित्त है ।[१७]

प्रथम मत के अनुसार — मरणाशौचारम्भकाल के विषय में तीन अलग-अलग मान्यताएँ हैं—

सूर्योदय से पूर्व रात्रि में जनन हो या मरण-दाह हो, पूर्वदिन से आशौच की गणना की जाय। सूर्योदय के अनंतर जनन-मरणदाह होने पर आशौचारंभ कालगणना उत्तरदिन से की

जाय। दूसरे मत के अनुसार अर्धरात्रि से पूर्व का जनन-मरणदह होने पर भी आशौच का काल उत्तरदिन से माना जाय। तृतीय मत के अनुसार-त्रिधा विभक्त रात्रि के प्रथम भागद्वय-रात्रि में जनन-मरणदाह होने पर पूर्वदिन से आशौचारंभ काल की गणना करनी चाहिये। रात्रि के तृतीय भाग में जनन-मरणदाह होने पर उत्तरकाल से आशौच गिनना चाहिये।[१८]

मिथिलादि पौरस्त्य देशों में सूर्योदय विभाग व्यवस्था है। अत: ओझाजी देशाचारात् कार्य करने की व्यवस्था भी प्रदान करते हैं— किन किन कारणों से आशौच नहीं होता है, उसकी भी व्यवस्था ओझाजी ने दी है। वैसे अशौच बारह प्रकार का होता है, स्थितिकाल के अनुसार-अनाशौच, सद्यशौच, एक दिन का, दो दिन का, बारह दिन का, पन्द्रह दिन का, मास भर का, और मरणपर्यन्त तक का भी आशौच होता है।[१९]

जो व्यक्ति सांग सभी वेदों का ज्ञाता, अग्निमान व क्रियावान् होता है, उसको आशौच नहीं होता है। राजाओं को, ऋत्विजों को, दीक्षितों को, व्रतियों को, बालकों को, देशान्तरस्था को भी सद्य-शौच होता है। क्रियावान्, अग्निवान, अग्निहोत्री ब्राह्मणों को एक दिन का, इससे कम ज्ञानवान् ब्राह्मण को दो दिन का, इसी प्रकार व्याधिग्रस्त आतुरों को चार दिन का अशौच लगेगा यह माना गया है।[२०]

कुछ लोगों की मान्यता है कि आशौच-निवृत्ति का कारण काल अर्थात् समय है और कुछ लोग इस आशौचनिवृत्ति का कारण कार्य को मानते हैं कर्म ही मुख्यत: आशौचनिवृत्ति का मुख्य कारण है, काल तो गौण कारण है। कुछ लोगों की मान्यता है कि दसवें दिन दशगात्र कर्म की समाप्ति होने पर भी दसवें दिन की रात्रि अवसान हुए बिना आशौच निवृत्ति नहीं होती है। जो लोग दशगात्र आदि कर्मों को नहीं करते, उनका भी आशौच अपने-अपने काल में निवृत्त हो जाता है। यथा एक साल के अनन्तर मृत्यु का समाचार सुनने पर कर्म न करने पर भी अशौच निवृत्ति हो जाती है, ऐसा मनु का कथन है।[२१]

शुद्धिनिमित्तक कर्म — आशौच में क्षौरकर्म करने से शुद्धि होती है। इस विषय में दाक्षिणात्यों का मत है कि श्राद्धकर्ता को दाह से पूर्व और सपिण्डों को दाहानन्तर क्षौर कर्म करना चाहिए, किन्तु गौड लोगों की मान्यतानुसार आशौच की समाप्ति के दिन क्षौरकर्म करना चाहिए। ब्रह्मपुराण के अनुसार —

समाप्य दशमपिण्डं यथाशास्त्रमुदाहृतम्।
श्मश्रुकेशनखानां च यत् त्याज्यं तज्जहात्यपि॥

इति ब्रह्मपुराणत्। "श्मश्रुकेशनखान वापयेद् अक्षिलोमशिखावर्जम् "इति वसिष्ठोक्तेश्च प्रति वर्णमाशौचान्तदिने केश-श्मश्रु-लोमनखानां यत्याज्यं तज्जह्यात् न वक्षोपस्थ-शिखा: न ध्रुवं न वाक्षिलोमानि वापयेत् ।[२२]

इस प्रकार उपस्थ, कुक्षि, अक्षि, शिखा से अतिरिक्त सभी लोम के छेदन का विधान है ।

ओझाजी ने वसिष्ठस्मृति का उल्लेख करते हुए तदनुसार बतलाया है कि प्रतिवर्ण के मनुष्यों को आशौच के अन्तिम दिन सिर के, मूछों के दाढी के बालों को तथा नखों को काटने के साथ और शास्त्रविहित क्षौरकर्म को करके सफेद सरसों या तिलों को लेकर शिर:स्नान करना चाहिये ।

केश, श्मश्रु, नखों में पाप की स्थिति रहती है, अत: आशौच के दिन उनका परित्याग करने का विधान है। "केशशामश्रुनखान्याश्रित्य पापं तिष्ठतीत्यनुश्यनिवृत्त्यर्थमाशौच-निवृत्ति-दिने केशादित्याग: कार्य: ।[२३] आपस्तम्बसूत्र अनसुार पुत्रादियों को ही मुंडन करना चाहिये अन्यों को नहीं । "अनुभाविनां च परिवापनम्" अनुभविन: पुत्रादय: ।"[२४]

विज्ञानेश्वर रत्नाकर आदि की मान्यता है, प्रेत से कम आयु वालों को ही मुण्डन करना चाहिये, अधिक आयु वालों को नहीं क्योंकिं वे "अनुभाविन:" कनिष्ठा:" से प्रेत के अनुसार जायमान व्यक्तियों का ग्रहण करते हैं । किन्तु गौडों की मान्यता के अनुसार अनुभाविन: का अर्थ हैं— "स्वनिष्ठाशौचाभिमानिन:" । अत: सभी छोटे बडे स्वनिष्ठों को क्षौरकर्म करना चाहिये ।

इस प्रकार समीक्षाचक्रवर्ती पण्डित मधुसूदन ओझा जी द्वारा निर्मित आशौचपंजिका के अन्तर्गत आये हुये आशौचप्रकार, सापिण्ड्य, स्राव-पातकालिक आशौचविधान, आशौच-कालीन निषिद्धकर्म-आशौचशुद्धिनिमित्तकर्म विषयों पर यत्किंचित् समुद्घाटित करने का प्रयास किया गया है ।

पाद टिप्पणी:

१- प्रतिशरीरमात्मानस्त्रयो भवन्ति-शरीरात्मा, अन्तरात्मा, विशुद्धात्मा चेति ।
-आशौचपंजिका; पं० मधुसूदन ओझा, संपा०-सुरजनदास स्वामी, प्रकाशक-प्रद्युम्न शर्मा, जयपुर सं० २००८ पृ०-२

२-आशौचं तावद् द्विप्रकारकम्-अस्पृश्यत्वलक्षणम् अधिकारभावलक्षणं च, तत्रास्पृश्यत्वलक्षणं

चाण्डालादिस्पर्शजन्यं स्नानादिकर्मणापवर्तते इति लोकतः शास्त्रतश्च सिद्धम् ।
-आशौचाष्टम्-वररुचि, संशो०-गणपतिशास्त्री, १९१४ ई.पृ०-१

३- आशौचपंजिका, पृ०-२५

४- वही, पृ०-३१

५- धर्मसिन्धु, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, सं० १८८४, पृ०-६७०

६- आशौचपंजिका, पृ०-३८

७- सप्तमेऽष्टमे दशमे वा मासे गर्भप्रसवे तु ब्राह्मण्याः, क्षत्रियाया वैश्यायाश्च सूतिकायाः दशरात्रं स्पर्शाशौचम् ।
-आशौचपंजिका, पृ०-३८

८- कर्माशौचं तु पुत्रौत्पत्तौ मासम्, कन्योत्पत्तौ चत्वारिंशद्दिनानीति दाक्षिणात्याः । पुत्रौत्पत्तौ विंशतिरात्रम्, कन्योत्पत्तौ मासमिति तदातिष्ठन्ते गौडः। देशाचाराद् व्यवस्था सच्छूद्राया अप्येयमेव । -वही, पृ०-३८-३९.

९- ऊढाया औरसकन्याया दत्तकन्याया वा पितृगृहे सत्या-शयनादिसंसर्गवतां पित्रादिसपिण्डानां प्रसूतिसमकालमेवाशौचम् संसर्गशून्यत्वे तु माता-पित्रोरेकाहः । -वही, पृ०-३९

१०- सप्तमेऽष्टमे नवमे दशमे वा मासे गर्भप्रसवे .... पक्षिणीति गौडानां केचित् स्नानमात्रमित दाक्षिणात्यानां केचित् । -वही, पृ०-४५

११- सर्ववर्णेषु दशाहं वा । जननाशौचे गर्भिण्या दशाहमस्पृश्यत्वम् । कर्मानधिकारस्तु ....पित्रादिसपिण्डानां जननाशौचे कर्मानधिकारमात्रम । पितृगृहे प्रसूतौ पित्रोस्तद्गृहवर्तिमातृणां चैकाहः । ..... मृतजाते शिशौ सपिण्डानां सम्पूर्णमेव जननाशौचं, मृताशौचं नास्ति ।
-धर्मसिन्धु, पृ०-६७७-६७८

१२- नालच्छेदात्प्राक् शिशुमरणे जातमृतस्य तस्य सम्बन्धेनाप्यशौचं सम्भाव्यते । .. जननाशौचं मातुर्दशाहम् । पित्रादिसपण्डिानांच त्रिरात्रं भवत्येव । -वही, पृ०-४६

१३- नालच्छेदादूर्ध्वं दशाहात्प्राक् शिशुमरणेऽपि मातुः पितुः सपिण्डानां च मृताशौचं नास्ति । ..... सपिण्डानां जननाशौचमपि नास्तीति गौडानां केचित् । -वही, पृ०-४६

१४- पंचयज्ञाः गृहस्थानां नित्याः तेष्यांशौचकाले प्रतिषिद्ध : । .... आशौचे सति सन्ध्योपासनार्थमाचमनं सूर्योपस्थानं च न कुर्यात् । .... कुशवारिवर्जिता मानसी सन्ध्या

कदाचित् न परित्याज्या । -वही, पृ०-६-७

१५-जन्माशौचं जन्मकालात्, नालच्छेदकालात्, जन्मश्रवणकालाद् वा प्रवर्तते । जन्मकालाद्वारभ्याशौचप्रवृत्तिरिति दाक्षिणात्याः। नालच्छेदास्यैवाशौचे निमित्तवाद् तदूर्ध्वमेवाशौचप्रवृत्तिर्न तु पूर्वमिति गौडाः । -वही, पृ०-९

१६- मरणाशौचं तु मृत्युकालात्, दाहकालात्, मृत्युश्रवणाद्व प्रवर्तते ।वही, पृ०-९

१७ - आहिताग्नेस्तु दाहकालादारभ्य दिनगणना कार्या, न तु मृत्युकालात् । तेषां दाहस्याशौचे निमित्तवात्। आशौचनिमित्तकविधिनिषेधव्यवहारप्रवृत्तौ तु जनने मरणे वा श्रवणकालादारभ्यैव गणना भवति, तेन ततः पूर्वं स्पर्शकरणे कर्मकरणे वा न दोषः। ज्ञानस्यैव व्यवहारे निमित्तत्वाद् । -वही, पृ०-९

१८- आशौचारम्भकालसम्बन्धेन मतत्रयं स्मर्यते, तथाहि सूर्योदयात् प्राक्कालपर्यन्ते रात्रौ जनने मरणे दाहे वा पूर्वदिनादारभ्य गणना कार्या, सूर्योदयोत्तरं तूत्तरदिनारभ्य-इत्येकं मतम् । द्विर्विभक्ताया रात्रेर्निशीथकालपर्यन्तं रात्रौ जनने मरणे दाहे वा पूर्वदिनारभ्य गणना कार्या, निशीथोत्तरं तूत्तरदिनादारभ्य-इति द्वितींय मतम् ।
द्विर्विभक्ताया रात्रे, प्रथमभागद्वयपर्यन्तं रात्रौ जनने मरणे दाहे वा पूर्वदिनादारभ्य गणना कार्या, तृतीयभागे तूत्तरदिनादारभ्य-इति तृतीयं मतम् । - वही, पृ०-९

१९ - तदित्थं स्थितिकालानुरोधेनैदमाशौचं द्वादश्या....द्वादशाहः पंचदशाहः मरणान्तं चेति । -वही, पृ०-१०

२० - तत्र यः साङ्गं सकल्पं सरहस्यं च सर्वशास्त्रं वेदमर्थतः सम्यग् विजानाति । अग्निमान क्रियावांश्च भवति, तस्याशौचं नास्ति,... हीनातुराणां चतुरहः । -वही, पृ०-१०

२१- येऽपि वा दशगात्रादिकं किमपि कर्म न कुर्वन्ति.... कर्मकरणाभावेऽपि आशौचनिवृत्तिः मन्वादयः । -वही, पृ०-११

२२- वही, पृ०-११

२३- वही, पृ०-११

२४- वही, पृ०-११